श्री स्वामी शिवानन्द सरस्वती

८ सितम्बर, सन् १८८७ को विश्वमञ्च पर प्रथम प्रभात देखा। परिवार के लोग उनको कुप्पूस्वामी कहते थे, जो कालान्तर में स्वामी शिवानन्द सरस्वती के नाम से दिग्विश्रुत हुए। जनता की आधिभौतिक चीत्कार ने उनको मलाया बुलाया और वैदिक गीतों की सनातन-परम्परा ने उनको हिमालय की ओर प्रेरित किया। १० साल तक अकट तपश्चर्या कर, आत्मसंयम और आत्मशुद्धि के अवतरण से अनवरत ध्यान में समाधिस्थ होते हुए उनको ज्ञानोज्वलप्रज्ञा की अनुभूति हुई।

अपना ज्ञान जनता को देने और निष्काम कर्मप्रणाली के आधार पर समाज और राष्ट्रों की मानवता का निर्माण करने को सन् १९३६ में उन्होंने 'दिव्य जीवन सङ्घ' को जन्म दिया और कालान्तर में सन् १९४८ में 'योग-वेदान्त अरण्य अकादमी' सदृश अद्वितीय संस्था को उद्यत होते देखा। आज ग्रन्थकार के नाते ३०० से अधिक गम्भीर ग्रन्थों के प्राणदाता हैं; जिनमें उनके जीवन की विशाल ज्ञानज्योति बिम्बित होती है और जो साधारण-से-साधारण मानव का पथ-प्रदर्शन करती है। अपने हृदय को, मानव-समाज के विकास के लिए, अक्षरों का स्वरूप दे कर, वे विशाल विश्व के तीर्थयात्री को मार्ग तो दिखा रहे हैं; अन्धकार में नवीन प्रभात तो ला ही रहे हैं; साथ-साथ वे प्रत्येक सत्यशील, परन्तु यातनातप्त साधक के चिर-सहयात्री भी रहे हैं, जिनका शब्द उसे प्रोत्साहन और अभिप्रेरणा देता है, जिनकी कृपाकटाक्षवीक्षणलहरी उनको दिव्य बना देती, स्वर्णमय कर देती है। आज तो वे विश्व के गुरुदेव हैं जिनकी ब्रह्माण्ड-व्यापिनी विजय-वैजयन्ती के नीचे सभी धर्म, सभी सम्प्रदाय और सभी वर्ण तथा सभी मनुष्य अपना-अपना आश्रय खोज रहे हैं और निस्सन्देह भविष्य भी उनकी अवतार-कथा को घर-घर गायेगा; क्योंकि उन्होंने अपने दिग्विजयी व्यक्तित्व को परात्पर-जीवन में अनन्त कर दिया था। वे १४ जुलाई, १९६३ को महासमाधि में लीन हुए।

योगाभ्यास का मूलाधार

Practice of Yoga

का अविकल अनुवाद

लेखक

श्री स्वामी शिवानन्द सरस्वती

प्रकाशक

दिव्य जीवन संघ

पत्रालय : शिवानन्दनगर—249 192

जिला : टिहरी-गढ़वाल, उ॰प्र॰ (हिमालय), भारत

मूल्य] 1999 [Rs. 80/-

प्रथम हिन्दी संस्करण 1971
द्वितीय हिन्दी संस्करण 1985
तृतीय हिन्दी संस्करण 1999
[2,000 प्रतियाँ]

ISBN 81-7052-149-1

HS 202

'डिवाइन लाइफ सोसायटी, शिवानन्दनगर' के लिए श्री स्वामी कृष्णानन्द जी महाराज द्वारा प्रकाशित तथा उन्हीं के द्वारा 'योग-वेदान्त अरण्य अकादमी मुद्रणालय, पो॰ शिवानन्दनगर—249 192, जिला टिहरी-गढ़वाल, उ॰प्र॰' में मुद्रित ।

H.H. SWAMI SIVANANDAJI MAHARAJ

प्रकाशक का वक्तव्य

'योगाभ्यास का मूलाधार' पुस्तक परम पावन श्री स्वामी शिवानन्द जी महाराज की एक प्राचीन रचना 'PRACTICE OF YOGA' का अनुवाद है।

इस पुस्तक के वर्ण्य विषय से यह प्रकट होता है कि यह विविध विषयों का प्रतिपादन करती है और इस प्रकार यह आध्यात्मिक जीवन-यापन की विधि के श्रेष्ठ परिचायक का रूप ले सकती है। ओज तथा सम्मोहक अभिव्यक्ति स्वामी जी के लेखों का, विशेषकर उन लेखों का जिन्हें वे सभी लोगों के लिए सामान्य निदेशक का रूप देना चाहते थे, एक अनूठा रूप है। उनकी सभी प्राचीन रचनाओं में आत्म-जिज्ञासा का जीवन-यापन करने की आवश्यकता पर उत्साहवर्द्धक चेतावनी की एक विशेष छाप होती थी। प्रस्तुत पुस्तक का प्रारम्भ भी इसी चेतावनी से होता है। उत्साहवर्द्धक आमुख के पश्चात् प्रायः दर्शनशास्त्र, आचारशास्त्र तथा व्यावहारिक उपदेश रहते हैं जिनका उनके प्रत्येक ग्रन्थों में प्रमुख स्थान रहता है। यहाँ एक सन्त का किञ्चित् भी मनस्तोष प्रदान न करने वाले नीरस आशाओं तथा प्रत्याशाओं के संसार में स्थायी उपचार तथा सान्त्वना के लिए क्षुधित तथा पिपासित जनता को अपने अनुभवों के आधार पर सीधे सम्बोधित करने का उत्कृष्ट उदाहरण है। व्यक्ति को प्रकृति के विकास-क्रम में कुछ चमत्कार घटित होने की प्रतीक्षा करते हुए बैठे न रह कर कुछ-न-कुछ करने के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिए। यह 'करना' व्यक्ति की स्वस्थ 'सत्ता' का परिणाम है जिसकी युक्तियुक्त तथा बुद्धिसंगत आधार पर पुनर्कल्पना आध्यात्मिक जीवन का दर्शन तथा सभी सिद्ध योगियों की शिक्षा है।

हमें विश्वास है कि यह पुस्तक नये साधकों के लिए प्रेरणा का स्रोत होगी तथा सत्य के उन्नत जिज्ञासुओं के लिए भी सामान्य पथ-प्रदर्शक बनी रहेगी।

—दिव्य जीवन संघ

प्रस्तावना

सभी विचारशील पुरुषों तथा स्त्रियों ने भागवतीय चेतना की प्राप्ति को जीवन का परमार्थ, मानव-जीवन का लक्ष्य तथा उद्देश्य सर्वतः स्वीकार किया है; अतः इस रूप में उस लक्ष्य की प्राप्ति के विविध उपायों तथा युक्तियों का स्पष्ट तथा व्यापक ज्ञान सर्वथा अवाञ्छनीय नहीं होगा। पुरातन-कालीन ऋषियों तथा मुनियों ने इस शुद्ध विज्ञान को जैसा समझा था तथा उसका जैसा अभ्यास किया था उसे साधक जब तक स्पष्ट शब्दों में नहीं जान लेते, तब तक उनके लिए शान्ति, सुख, आनन्द, अमरता तथा भागवतीय चेतना प्राप्त करना असम्भव नहीं तो अत्यधिक दुष्कर अवश्य होगा।

मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि यह पुस्तक सभी प्रकार के साधकों के लिए अत्यधिक सहायक होगी। इस पुस्तक में कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग तथा ज्ञानयोग की बहुत-सी व्यावहारिक शिक्षाएँ संक्षेप में दी गयी हैं। यह पुस्तक ज्ञानयोग के साधकों को तीव्र निदिध्यासन के परमानन्द का उपभोग करने में निस्सन्देह सहायता देगी। पतञ्जलि महर्षि के राजयोग के अनुयायियों को इस पुस्तक में आदर्श एकाग्रता तथा निर्विकल्प-समाधि की सुखद अवस्था के प्राप्त्यर्थ वैसी ही रोचक तथा महत्त्वपूर्ण शिक्षाएँ प्राप्त होंगी। अन्यच्च, यह सभी भक्तों के लिए अपने इष्टदेवता की देदीप्यमान महिमा पर अपने मन को स्थिर करने में दिव्य प्रकाश के रूप में कार्य करेगी। कर्मयोग तथा हठयोग के साधकों को प्रचुर जानकारी तथा ज्ञान प्राप्त होगा जो उनके लिए अपरिमेय सहायक होगा। आध्यात्मिक साधकों के लिए तो यह पुस्तक देवभूमि का उपहार ही है।

यदि इस पुस्तक के उपयोग से एक भी व्यक्ति वास्तव में लाभान्वित हो सका तो मेरा यह ब्रह्मकर्म—परब्रह्म की, मानवता की तथा विश्व की सेवा में—सार्थक माना जायेगा।

वेदान्त का अन्तिम तात्पर्य जीव-ब्रह्म की एकता है। ब्रह्म का मूल स्वरूप सच्चिदानन्द है; परन्तु यह जीव अविद्या के कारण अपने को शरीर मान लेता है और समझता है कि वह तभी तक है जब तक यह शरीर है। मस्तिष्क द्वारा पिञ्जर में बद्ध होने के कारण मस्तिष्क से संवृत ज्ञान को अपना ज्ञान समझता है। वह इन्द्रिय-सुख में लीन रह कर यही सोचता है कि इन्द्रिय-सुख ही वास्तविक सुख है और इसलिए विषयों के भँवर में फँसा रहता है; परन्तु ज्यों-ही शरीर आदि निम्न तत्त्वों के स्वप्न से वह जाग उठता है और आत्मा आदि उन्नत तत्त्वों की ओर दृष्टिपात करता है, तब उसे

अपने भ्रम का परिज्ञान होता है और अपना ब्रह्म-स्वरूप पहचानने लगता है। प्रत्येक जीव को अपने शरीर के ही तीन अङ्गों—मूर्धा, हृदय और मूलाधार—में इस ब्रह्मत्व का अनुभव करना चाहिए। हृदय में वह हृदय-ग्रन्थि का उच्छेदन करता है और अपनी सर्वव्यापकता को देखता है। मूर्धा में वह सहस्रार-चक्र तक ऊँचा उठता है और सर्वज्ञता तथा मूलाधार-चक्र में सुषुप्त पड़ी कुण्डलिनी नामक रहस्यमयी शक्ति पर अधिकार प्राप्त करता है।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि जब कामनाओं पर विजय प्राप्त कर लेते हैं तब संकल्प-शक्ति का विकास होता है और जब संकल्प-शक्ति का बृहत् परिमाण में विकास किया जाता है तो सर्वज्ञता नामक महत् शक्ति की प्राप्ति होती है। कुण्डलिनी-जय हो जाने पर अणिमा, महिमा आदि जैसी असीम शक्तियों की प्राप्ति होती है और कुण्डलिनी की विजय तभी होती है जब मनुष्य इन्द्रिय-विषयों की वासना से ऊपर उठ जाता है। सतत निदिध्यासन, अखण्ड योगाभ्यास तथा चिन्तन इसे सम्पन्न करने की सर्वोत्तम विधि है। ये सब देहाध्यास को विजय करने में और सच्चिदानन्द-रूप ब्रह्म में अवस्थित होने में सहायक होते हैं।

मुख्यतः चार मार्ग हैं और वे सभी एक ही लक्ष्य—भागवत चेतना की प्राप्ति—तक पहुँचाते हैं। मार्ग अलग-अलग हैं; किन्तु गन्तव्य एक ही है। विभिन्न दृष्टिकोणों से उपदिष्ट चारों मार्गों को कर्मठ लोगों के लिए कर्मयोग, भावप्रवण लोगों के लिए भक्तियोग, रहस्यवादियों के लिए राजयोग तथा विवेकवान् व्यक्तियों के लिए ज्ञानयोग कहा जाता है। ये चारों मार्ग परस्पर किंचित् भी विरोधी नहीं हैं, वरन् ये एक-दूसरे के सम्पूरक हैं। ये हिन्दू-धर्म की विविध प्रणालियों को सूचित करते हैं और यह प्रदर्शित करते हैं कि ये परस्पर उपयुक्त सामञ्जस्य में रहते हैं। धर्म को पूरे मनुष्य—उसके मस्तिष्क, हृदय तथा बाहुओं—को प्रशिक्षित तथा विकसित करना चाहिए। एकांगी विकास संस्ताव्य नहीं है। व्यक्ति का शिर शंकराचार्य का, हृदय बुद्ध का तथा हाथ जनक का होना चाहिए। कर्मयोग चित्त का मल दूर करता है और हृदय को विकसित करता है। भक्तियोग मन के विक्षेप को नष्ट करता है। राजयोग मन को स्थिर करता तथा एकाग्रता विकसित करता है। ज्ञानयोग अज्ञानावरण तो दूर करता तथा आत्मज्ञान प्राप्त कराता है। अतः व्यक्ति को चारों योगों का अभ्यास करना चाहिए। आध्यात्मिक पथ में साधक को आशु विकास तथा उन्नति के लिए ज्ञानयोग को केन्द्रीय आधार तथा अन्य योगों को सहायक समझना चाहिए।

क्रिया, मनोभाव तथा बुद्धि-रूपी तीन अश्व शरीर-रूपी रथ में जुते हुए हैं। उन्हें पूर्ण सामञ्जस्य से कार्य करना चाहिए। तभी रथ निर्विघ्न चल सकता है। सर्वाङ्गीण विकास होना चाहिए। भक्ति-रहित वेदान्त शुष्क है, वैसे ही ज्ञान-रहित भक्ति अपूर्ण है। जिस

व्यक्ति ने आत्मा की एकता का साक्षात्कार कर लिया है, वह संसार, जो कि आत्मा की ही अभिव्यक्ति है, की सेवा किये बिना कैसे रह सकता है ? भक्ति ज्ञान से पृथक् नहीं है, वरन् वह उसकी पूर्णता की प्राप्ति में अत्यधिक सहायक है ।

भक्ति ज्ञान की विरोधी नहीं है । इन दोनों में अन्योन्याश्रयी सम्बन्ध है । दोनों एक ही गन्तव्य तक पहुँचाते हैं । भक्ति तथा ज्ञान अम्ल तथा क्षार की तरह परस्पर विरोधी नहीं हैं । व्यक्ति भक्तियोग को ज्ञानयोग के साथ सम्मिलित कर सकता है । भक्ति का फल ज्ञान है । परा भक्ति और ज्ञान एक ही हैं । पूर्ण ज्ञान भक्ति है । पूर्ण भक्ति ज्ञान है । केवलाद्वैत ज्ञानी श्री शंकराचार्य भगवान् हरि, हर तथा देवी के परम भक्त थे । आलन्दी के महान् योगी ज्ञानदेव भगवान् कृष्ण के भक्त थे । श्री गौराङ्ग एक सुसंस्कृत अद्वैत वेदान्ती विद्वान् थे, परन्तु हरि का नाम गाते हुए गलियों में नृत्य करते फिरते थे । अतएव भक्ति को ज्ञान के साथ बहुत लाभकर रूप में सम्मिलित किया जा सकता है ।

"अनन्तशास्त्रं बहु वेदितव्यं स्वल्पश्च कालो बहवश्च विघ्नाः ।
यत् सारभूतं तदुपासितव्यं हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमिश्रम् ॥

—शास्त्र अनन्त हैं, जानने के लिए बहुत-कुछ है । समय अल्प है और विघ्न अनेक हैं । अतः जो सारवस्तु है, उसे ही ग्रहण करना चाहिए जैसे हंस क्षीर-नीर-मिश्रण की दशा में करता है ।"

पाठको ! अमृत पुत्रो ! जाग जायें । अब अपने नेत्र खोलें । शास्त्र-सागर के अध्ययन में अपना सम्पूर्ण जीवन नष्ट न करें । मैं आपका शुभचिन्तक हूँ । मैं विश्व का मित्र हूँ । मैं आपके उद्देश्य में आपकी सहायता कर सकता हूँ । आपने जो-कुछ सीखा है उसे आत्मसात् करें । उसे व्यवहार में लायें । एक-एक पग रखते हुए योग के सोपान पर आरोहण करें और परम भागवत् चेतना की अवस्था प्राप्त करें । मेरे प्रिय भाइयो ! वेदों के अन्तिम शब्द को कभी भी विस्मरण न करें—**"तत्त्वमसि"**, तुम वही (ब्रह्म) हो !

सर्वे भवन्तु सुखिनः ।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

—स्वामी शिवानन्द

अनुक्रमणिका

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

ध्यान

प्रथम भाग

द्वितीय भाग

दशम अध्याय

एकादश अध्याय

द्वादश अध्याय

प्रथम परिशिष्ट

द्वितीय परिशिष्ट

तृतीय परिशिष्ट

चतुर्थ परिशिष्ट

योगाभ्यास का मूलाधार

प्रथम अध्याय

योग का उद्देश्य

१. योग की परिभाषा

'योग' शब्द संस्कृत धातु **'युज्'** से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है मिलना। आध्यात्मिक अर्थ में यह वह प्रक्रिया है जिससे योगी जीवात्मा तथा परमात्मा की एकता का साक्षात्कार करता है। योग का अर्थ है ईश्वर से मिलन। यही मानव-जीवन का लक्ष्य है। योग वह आत्म-विज्ञान है जो मानव-आत्मा को परमात्मा से मिलने की विधि बतलाता है। योग दिव्य विज्ञान है जो जीवात्मा को दृश्य विषय-जगत् से मुक्त करता तथा परमात्मा से युक्त करता है।

समत्व योग है। ब्रह्म के साथ तादात्म्य योग है। ब्रह्म के साथ एकीभूत होना योग है। ब्रह्म में स्थित होना योग है। ब्रह्म के साथ एकता, तद्रूपता तथा अभिन्नता योग है। पतञ्जलि के योगसूत्र (१-३) में बताया गया है : **"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**—जब चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब द्रष्टा (पुरुष) की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है।"

दत्तात्रेय-संहिता में आप देखेंगे : **"सर्वचिन्तापरित्यागः निश्चिन्ता योग उच्यते**—सभी सङ्कल्पों-विकल्पों के निष्क्रिय हो जाने पर जो एक तूष्णी और परिशान्त अवस्था प्राप्त होती है, वही योग है।" उसी में पुनः इसकी परिभाषा दी गयी है : '**योगसमाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः**—जीवात्मा जब परमात्मा के साथ समता की अवस्था को प्राप्त कर लेता है, तब इसे योग-समाधि कहते हैं।" भगवद्गीता कहती है : **"योगः कर्मसु कौशलम्**— जीवन में अपने लिए जो निर्धारित काम हैं, उन्हें दक्षतापूर्वक करते जाना ही योग है (२-५०)" और **"समत्वं योग उच्यते**—चित्त की समता का नाम योग है (२-४८)।" इस योग की प्राप्ति क्योंकर होती है, इसका वर्णन परवर्ती पृष्ठों में किया जायेगा।

सामान्य अर्थ में हम योग से कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग, ज्ञानयोग, हठयोग, मन्त्रयोग तथा लययोग का अर्थ रखते हैं; परन्तु अवधारणा में इसका अर्थ पतञ्जलि महर्षि का अष्टाङ्गयोग या राजयोग है।

योग शब्द को गौण रूप से उन साधनों के लिए भी प्रयोग में लाते हैं जिनसे योग का निर्माण होता है, जो योग की सिद्धि में सहायक होते हैं।

२. योग तथा ज्ञान

ज्ञानयोग का वर्णन वेदान्त के प्रत्येक व्यावहारिक ग्रन्थ में किया गया है। यह आत्मसाक्षात्कार के लिए राजमार्ग है। एक तत्त्वज्ञानी सद्गुरु के मुख से वेदान्त का श्रवण करना चाहिए। ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान उपनिषदों से ही उपलब्ध हो सकता है। उपनिषदों के आद्योपान्त सम्यक् श्रवण से साधक में यह भावना दृढ़ हो जाती है कि सभी धर्मग्रन्थों का चरम अर्थ जीव का ब्रह्म के साथ ऐक्य स्थापन ही है। ब्रह्मज्ञान के स्रोत वेदान्त-ग्रन्थों का वैधता-सम्बन्धी सन्देह श्रवण से दूर हो जाता है। श्रवण किये उपदेशों पर पुनः-पुनः तर्कपूर्ण विचार करना द्वितीय पग है। यह मनन कहलाता है। इस प्रकार मनन से ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में रहे-सहे अज्ञान की भी निवृत्ति हो जाती है। श्रवण तथा मनन से ब्रह्म के निरपेक्ष स्वरूप के विषय में जो बौद्धिक ज्ञान-लाभ हुआ है उसको अनुभव-रूप में जानने के लिए निदिध्यासन की विधि है। निरन्तर निदिध्यासन के द्वारा विपरीत भावना नष्ट हो जाती है, अनर्गल संस्कारों के पुञ्ज विदग्ध हो जाते हैं तथा साधक को आत्मा का सत्स्वरूप प्रकट होता है। अपने आत्मस्वरूप का जबसे ज्ञान हुआ तबसे साधक के लिए दृश्यमान् जगत् की महत्ता समाप्त हो जाती है तथा उसकी कारणभूत माया का तिरोधान हो जाता है। यही साधना का सर्वोच्च उद्देश्य है जिसे प्राप्त कर साधक परमहंस ज्ञानी बन जाता है। "ब्रह्म के साथ एकात्म ज्ञान के अनन्तर हृदय की ग्रन्थियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, सारे सन्देह दूर हो जाते हैं तथा समस्त शुभाशुभ कर्म समाप्त हो जाते हैं। वह कृतकृत्य हो जाता है" (मुण्डकोपनिषद्: २-२-८)।

योगीजन भी निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करके इस पद को पा सकते हैं। निम्नाङ्कित उद्धरणों के समान ही श्रुतियाँ मोक्ष के लिए ध्यान की विधि भी बताती हैं :

"वह परम कारण वेदान्त-वाक्यों द्वारा इसके स्वरूप के चिन्तन अथवा उसके निरपेक्ष स्वरूप पर ध्यान द्वारा जाना जाता है।"

"सांख्य पुरुष जो स्थान प्राप्त करते हैं, योगी भी वही स्थान प्राप्त करते हैं।"

किसी-किसी स्थल पर श्रुतियों ने परब्रह्म का ध्यान असम्भव बताया है। इसका अभिप्राय है कि ब्रह्म को स्वरूपतः ध्यान में नहीं लाया जा सकता है। इसी भाँति ब्रह्म को अज्ञेय भी बताया जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्म का ध्यान करने या इसे जानने वाला स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है, फिर कोई ध्याता या ज्ञाता नहीं रह जाता जो ध्येय या ज्ञेय पदार्थ का निश्चय करे।

योगाभ्यासी साधक के लिए बहुत कुशाग्र बुद्धिशाली होना अनिवार्य नहीं है। वह पूर्ण सदाचारवान् हो, संयमी हो और गुरुभक्त हो। बस, इतना ही पर्याप्त है। वैसे ही गुरु के लिए भी बड़ा पाण्डित्य नहीं चाहिए। उसे आचार-व्यवहार में शुचि और अपनी पारम्परिक विद्या का जानकार होना चाहिए।

एक पूर्ण श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानयोगी अर्थात् जो ज्ञानी भी हो और निष्ठावान् भी हो, अपने दोनों तरह की प्रकृति वाले शिष्यों—अर्थात् जो विचक्षण दार्शनिक तर्क-वितर्क करने वाले हों तथा जो केवल ध्यान-परायण हों—को शिक्षा दे सकता है।

उपसंहार में यह कहा जा सकता है कि जो अपहतपाप्मा साधक हैं, उनके लिए दार्शनिक तर्क-वितर्क की विधि ध्यान-विधि की अपेक्षा अधिक उपयोगी है। जो साधक ध्यान या निदिध्यासन की विधि को अपनाते हैं, उन्हें पतञ्जलि-निर्दिष्ट योगमार्ग से चलना अच्छा होगा।

महत्त्वपूर्ण अन्तर

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"—चित्त की चञ्चल वृत्तियों को रोकना ही योग है। एक योगी सभी प्रकार से इसके लिए प्रयत्न करता है। वह अपने मन को चारों ओर से घेरता है; इसे स्थिर करने का प्रयास करता है।

ज्ञानमार्ग का साधक मन की चञ्चलता से चिन्तित नहीं होता है। वह मन को रोकने का कोई यत्न नहीं करता है। उसने **'शम'** के द्वारा उसे नियन्त्रित करने का पहले ही प्रयास किया होगा। वह **'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि'** प्रभृति महावाक्यों से जन्य ब्रह्माकार-वृत्ति-प्रवाह द्वारा ब्रह्म में निमज्जित रहता है।

यह ब्रह्माकार-वृत्ति ब्रह्म को आवृत्त, परिवेष्ठित तथा आच्छादित करने वाले सात्त्विक अन्तःकरण का सात्त्विक परिणाम है। योगियों की भाँति ज्ञानी अपने मन की वृत्तियों की धर-पकड़ नहीं करता। वह शरीर तथा मन को अपना करण मानता है। ज्ञानी की निरन्तर समाधि की अवस्था है, वह चाहे काम में रत ही क्यों न हो, परन्तु यदि योगी समाधि-अवस्था में जाना चाहे तो उसे बन्द कमरा चाहिए, आसन-सिद्धि चाहिए। इसे जड़ समाधि कहते हैं। यह योगी अपनी जाग्रतावस्था में, समाधि से व्युत्थान की दशा में माया से प्रभावित होता है। ज्ञानी के लिए आसन की आवश्यकता नहीं है। वह चलते-फिरते भी समाधि में—चैतन्य समाधि में—रहता है। एक योगी अपनी समाधि-अवस्था में काम नहीं कर सकता, जबकि ज्ञानी इस अवस्था में काम भी करते रह सकता है। दोनों की विधि में अन्तर है। योगी का मन नियन्त्रित रहता है। ज्ञानी की चेतना द्विविध मानी जाती है। जैसे कोई व्यक्ति टाइप भी करता है, पियानो बजाता है अथवा महिला स्वेटर बुनती रहती है, साथ ही अपने पड़ोसियों से बातें भी करती रहती है। ज्ञानी के लिए 'समाधि में' 'समाधि से बाहर'

का प्रश्न नहीं रहता है। वह सदा समाधि में रहता है। वह कार्य-काल में माया से प्रभावित नहीं होता है।

योग तथा वेदान्त की साधना के आरम्भ में भी भेद है। एक राजयोगी अपने 'मन' से साधना आरम्भ करता है, जबकि एक ज्ञानयोगी 'बुद्धि' से, यथार्थतः सीधे 'आत्मा' से ही अपनी साधना आरम्भ करता है।

ज्ञानयोगी बहुत-बहुत ऊहापोह तथा तर्क-वितर्क, चिन्तन तथा विवेक, विश्लेषण तथा संश्लेषण करता है। यह सवितर्क विधि है। वह नेति-नेति विधि से जगत् को ब्रह्म से, अपने को शरीर तथा मन से पृथक् कर 'मैं सच्चिदानन्द हूँ' **'अहं ब्रह्मास्मि'** की प्रक्रिया से ब्रह्मनिष्ठा प्राप्त करता है। ब्रह्म के गम्भीर तथा सतत चिन्तन द्वारा भ्रमर-कीट-न्याय से वह ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। राजयोगी अपनी सब वृत्तियों का विलय करके एक वृत्ति को रखता है, जिसे सविकल्प-समाधि कहते हैं। यह वृत्ति भी जब लुप्त हो जाती है, तो निर्विकल्प-समाधि की अवस्था आती है। तब वह अपने को ब्रह्म अनुभव करता है।

ज्ञानी की सद्योमुक्ति है। योगी चक्र-प्रति-चक्र विभिन्न भूमिकाओं को पार करता हुआ मोक्ष-पद को प्राप्त करता है। ये दोनों शुद्ध ब्रह्म की भूमिका में आ मिलते हैं।

३. संसार असार है

इस विनश्वर संसार में चारों ओर से दुःख-क्लेशों, शोक-सन्तापों से घिरे हुए आप इस तरह तड़पते और मचलते हैं जैसे विशाल शिलाखण्ड में धूलिकण वायु के झोंके से इधर-उधर दोलायमान होता रहता है। काल अनन्त है—उसमें अधिकाधिक सौ वर्ष का आपका जीवन मामूली एक 'क्षण' के बराबर है। फिर आप अपने जीवन को बढ़ा-चढ़ा कर क्यों पेश करते हैं और अनेक इच्छाओं की पूर्ति में विफल हो कर क्यों नैराश्य के विवर्त में पड़ते हैं? इस तरह नादानी करके फिर पछताते फिरना कहाँ तक उचित है? अनेकों ब्रह्माण्डों के बीच आपका संसार तो मामूली एक 'अणु' है। इसे इतना अधिक महत्त्व क्यों प्रदान करते हैं? इस दुःखालय संसार में सुख की आशा करना कोरी मूर्खता नहीं तो क्या है? इस दुःखालय संसार में आप एक क्षण के लिए भी कोई ऐसी वस्तु प्राप्त नहीं कर पाते हैं जिसे आप मधुर कह सकें, सुखमय कह सकें, सन्तोषप्रद कह सकें। संसार का यह मायावी बाजार जरूर खूबसूरत है। इसमें महान्-से-महान् व्यक्तियों को उलझते देखा गया है। वे अपनी इच्छाओं की दौड़ में अपना मार्ग अधूरा ही छोड़ गये हैं। बहुत से साम्राज्य विनष्ट हो गये, बहुत से सम्राट् और अधिपति गुजर चुके हैं। उनकी धनराशि, उनकी सम्पदा स्मृतियों के रूप में आज भी कायम है। देवलोक और दैवी वैभव के बारे में सुनते आ रहे हैं; परन्तु आज कुछ

भी नजर नहीं आता। कितने ही भुवन बने, कितने ही टूट गये, कितनों का साक्षी इतिहास भी नहीं रहा। इस संसार की क्या हस्ती है, इसकी क्या मर्यादा है, वास्तव में यह सब-कुछ नितान्त भ्रम है। संसार की मायावी रात में आप सपने देखते हैं और जब जागते हैं, तो बैठ कर शिर धुनते हैं। जीवन से मृत्यु की ओर और मृत्यु से जीवन की ओर कितनी बार पर्यटन कर चुके। अब इसकी हद हो चुकी है। जिन वस्तुओं को सुन्दर, अभिराम और स्थायी मान कर उनका पीछा किया, उनमें से कोई भी वस्तु लब्ध नहीं हुई। थकान से आपका तन-मन पीड़ित है। जब तक युवावस्था थी, आप अज्ञानी थे; जब वयस्क हुए, कामोपभोग में पड़ कर समय नष्ट किया; अब बुढ़ापे में बैठ कर विलाप करने लगे हैं। जीवन से मृत्यु की ओर बढ़ने का यही पुराना परिचित रास्ता है। आदि से अन्त तक आप उलझनों की सृष्टि करते आये, उनमें उलझते आये। पुण्य कार्य करने के लिए, धर्म, दर्शन और अध्यात्म के बारे में सोचने-समझने के लिए कभी अवसर नहीं ढूँढ़ा। माया ने किस तरह आपको भुलावे में डाले रखा। आपके मन ने किस तरह आपके साथ मनमानी की। उसने अपने स्वर-ताल पर किस तरह आपको नचाया, थिरकाया। पलक झपकते बड़े-से-बड़े ब्रह्मा का पद भी छिन जाता है। आपकी छोटी-सी जिन्दगी का टिमटिमाता चिराग भला कितने दिनों तक जलेगा!

जिन भोगों में पड़ कर कल आपने दुःख उठाया था, आज फिर उन्हीं में पड़ने की सोच रहे हैं! जिस क्षणिक सुख से कल आपको सन्तोष नहीं हुआ, आज उसकी पुनरावृत्ति द्वारा पुनः सन्तोष का स्वप्न देखते हैं! जो आभूषण कल तक सोल्लास पहनते आ रहे थे, आज उन्हें फिर धारण कर रहे हैं! एक ही वस्तु का बार-बार उपभोग करके भी थकते नहीं हैं। जैसे बच्चे मिठाई खा-खा कर बीमार पड़ते हैं और फिर-फिर खाते हैं वैसे ही आप अपनी अज्ञानावस्था में उन्हीं कामों को बार-बार किये जा रहे हैं जिनसे आपको बहुत बार दुःख और पीड़ा मिल चुके हैं। दिन, सप्ताह, पक्ष और महीने आ-आ कर गुजर रहे हैं। नयी बात क्या होती है? धन और वैभव आपके चित्त को चञ्चल ही कर सकते हैं, इससे अधिक क्या करेंगे। जैसे किसी कच्चे कुएँ के भीतर उगी हुई लता के पुष्प होते हैं, जिनसे लिपट कर एक साँप बैठा होता है वैसे ही सांसारिक धन-वैभव दुःख-क्लेशादि से परिवृत्त होते हैं। इसे मनुष्य ग्रहण करता है तो पछताता भी है। बरसात का पानी जङ्गली वृक्षों के पत्तों पर से जितनी सरलता से ढुलक जाता है, यह जीवन भी उतना ही क्षणिक है। हेमन्त ऋतु का बादल, घृत-विहीन दीपक और सागर की तरङ्गें जितनी अस्थायी हैं उतना ही जीवन क्षणभङ्गुर और नाशवान् है। सूत्रधार ब्रह्मा ने अपने नाटक के दिन और रात-रूपी दो दृश्य बनाये हैं। संसार में कौन आता है, कौन जाता है। जिन्होंने जन्म-मरण के बन्धन से अपने को मुक्त कर लिया है, वास्तव में वे कृतकृत्य हैं, अन्यथा अन्य लोगों की दशा तो पशुवत्

दयनीय है। इस जीवन से बढ़ कर दुर्भाग्य क्या हो सकता है। आपकी वासनाओं ने आपको बहुत धोखा दिया है और आपने असीम कष्ट झेला है। अब तो चाहे जितना भी अमृत पी कर भी सन्तुष्ट नहीं होंगे। मल-मूत्रादि से भरा हुआ यह शरीर अनायास ही चला जाने वाला है। कभी दुबला, कभी मोटा, कभी स्वस्थ, कभी अस्वस्थ होने वाला यह परिणामी शरीर किसका स्थायी रहा है? सौन्दर्य क्या है? मांस-मज्जा-अस्थियों से बनी देह में सुन्दर नामक चीज कहाँ पर है? यह तो अनेक प्रकार के विकारों का आयतन है। यह तो अभद्र और अशोभन है।

सन्धियों, स्नायुओं, अस्थियों तथा मांस से निर्मित नारी-शरीर-रूपी सूत्र द्वारा हिलती-डुलती कठपुतलियों से क्या सुख प्राप्त हो सकता है? नारी-शरीर में सौन्दर्य कहाँ है? वास्तविक सौन्दर्य तो अन्तरात्मा से प्रसर्जित होता है। सात दिन के ज्वर से आक्रान्त होने के बाद नारी के नेत्र, मुख तथा शरीर की अवस्था को देखें। अब वह सौन्दर्य कहाँ चला गया? यदि तीन दिन स्नान न किया जाये, तो शरीर की क्या दशा होती है? बहुत ही घृणास्पद दुर्गन्ध निकलती है। धँसे हुए नेत्रों, सिकुड़े हुए गालों तथा चमड़ी के साथ एक कोने में बैठी हुई ८५वर्षीया जराग्रस्त स्त्री को देखिए। इस जराग्रस्त झुर्रियों वाली अवस्था में सौन्दर्य कहाँ है? स्त्री के अङ्गों का विश्लेषण कीजिए, उनके वास्तविक स्वरूप को अनुभव कीजिए और उन्हें पूर्णतः त्याग दीजिए। यदि आप इस शरीर का मांस, रुधिर, अस्थि आदि में विश्लेषण करना आरम्भ करेंगे तो अल्प काल में ही आपकी स्त्रियों के प्रति कामना आपकी शत्रु बन जायेगी। स्त्री के प्रति प्रेम तथा राग बुद्धि, मुक्ति तथा पुण्य को नष्ट कर डालते हैं तथा हृदय को सङ्कीर्ण बना डालते हैं।

यदि स्त्रियों के प्रति कामवासना जो सभी दुःखों का स्रोत है, नष्ट हो जाये तो सभी सांसारिक बन्धन, जिनका अधिष्ठान मन है, भी समाप्त हो जायेंगे। सर्वाधिक साङ्घातिक विष भी विष नहीं है; किन्तु विषय-पदार्थ वास्तव में विष हैं, क्योंकि पूर्वोक्त तो केवल एक ही शरीर को दूषित करता है, जबकि उत्तरोक्त अनुक्रमिक पुनर्जन्मों में प्राप्त अनेक शरीरों को कलुषित करता है। आप नारी की मौज के मनोरञ्जन करने वाले छोटे कुत्ते हैं। आप कामनाओं, भावनाओं तथा काम-वासनाओं के दास हैं। आप इस दयनीय दशा से कब ऊपर उठ रहे हैं? जो लोग संसार के घातक पदार्थों में अतीत तथा वर्तमान में सुख की अनुपस्थिति के अभाव को जानते हुए भी अपने विचारों को उनसे चिपकाये रख कर उनके जाल में अपने को फँसाते हैं वे यदि बुरा नहीं मानें, तो गधे की उपाधि प्राप्त करने के अधिकारी हैं। यदि आपमें विवेक नहीं है, यदि आप मोक्ष के लिए यथाशक्ति प्रयास नहीं करते, यदि आप अपना जीवन खाने, पीने और सोने में ही व्यतीत करते हैं तो आप दो पैरों वाले पशु हैं। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि आप पशु से भी निकृष्ट हैं; क्योंकि आपको पशुओं से कुछ पाठ सीखना होगा जिनमें आत्मसंयम है।

संसार में कितने रोग-शोक, बिच्छू के डङ्क से ले कर साँप के दंश तक विद्यमान हैं। मक्खी, मच्छर, कीट, पिस्सू और खटमल आपकी सेवा करने के लिए तैयार हैं। शीत, ताप, ज्वर, प्लेग, चेचक, दन्तरोग, उदरशूल इत्यादि क्या-क्या नहीं हैं! आध्यात्मिक, आधिदैविक और आदिभौतिक सन्तापों में आप निरन्तर झुलसते हैं; भय, शोकादि से निरन्तर त्रस्त हैं।

काम, क्रोध, लोभ, मोहादि वासनाओं में पड़े-पड़े जीवन विरस होता जा रहा है। जिन्हें अत्यधिक प्यार करते थे, वे आपको छोड़ कर चले गये। परन्तु मोह की महिमा इतनी गम्भीर है कि आप सचेत नहीं हो रहे हैं। आपको अपनी प्रतिभा, ज्ञान-गरिमा, शक्ति और प्रभुता का गर्व है। जब आप पर विपदा आती है तो आप भगवान् का नाम लेने लग जाते हैं, फिर उन्हें भूल जाते हैं। जब बुढ़ापा आता है, आप बालों में खिजाब लगा लेते हैं। दाँत झड़ते हैं तो नये नकली दाँत लगवा लेते हैं। दिल या फेफड़ा कमजोर पड़ने लगता है तो रीछ या बन्दरों का अङ्ग ले कर फिट करवा लेते हैं। जैसे भी बने, आप जीना चाहते हैं, जीने की इच्छा का परित्याग करते नहीं बनता।

जरा गम्भीरता से सोचिए। अध्यात्म-शास्त्रों—गीता, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र—का अध्ययन और मनन कीजिए। ध्यान का अभ्यास कीजिए। निदिध्यासन में चित्त लगाइए। अपनी अविद्या, अज्ञानावस्था को दूर कीजिए। आप सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म हैं, इस ज्ञानानुभूति को दृढ़ कीजिए। **"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्यः"**—इस आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए (बृहदारण्यक उपनिषद् : ४-५)।

टिप्पणी : काम-वासना बहुत प्रबल शक्ति है। इससे छुटकारा पाना बहुत ही कठिन है। इसीलिए मैंने विशाल जन-समुदाय के मस्तिष्क के सम्मुख यह मानसिक चित्र प्रस्तुत किया है। वास्तव में नारी माता अथवा शक्ति के रूप में पूजनीय है। वह इस सृष्टि की स्रष्टा, उत्पत्तिकर्ता तथा पोषिका है। उसकी पूजा करनी चाहिए। भारत में स्त्रियों की भक्ति-भावना से ही धर्म सुरक्षित है। भक्ति भारतीय नारी का एक मौलिक गुण है। काम-वासना से घृणा करें, स्त्रियों से नहीं।

४. जीवन का लक्ष्य

हमारा आत्मा ब्रह्म है। वह शुद्ध, अविभाज्य, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् तथा पूर्ण है। वह सच्चिदानन्द है। वह देश-काल-कारण-रहित है, नित्यमुक्त तथा स्वयंप्रकाश है।

यह संसार प्रकृति की रङ्गभूमि है। यहाँ आत्मा नाना प्रकार से अपने को प्रस्तुत करता है। यह भौतिक चेतना में अन्नमय-पुरुष, प्राणिक चेतना में प्राणमय-पुरुष, मानसिक चेतना में मनोमय-पुरुष, सत् प्रधानयुक्त अतिमानसिक चेतना में विज्ञानमय-पुरुष तथा सार्विक आनन्द की चेतना में परम आनन्दपूर्ण, परम सुखपूर्ण आनन्दमय-पुरुष बन जाता है। यह दिव्य आत्म-चेतना 'चित्' में परम चेतन आत्मा, ब्रह्माण्ड का स्रोत तथा अधिपति, चैतन्य पुरुष तथा शुद्ध दिव्य सत्ता, सत् में सत्पुरुष बनता है। मनुष्य स्वरूपतः दिव्य है; अतः वह इनमें से किसी एक की अथवा सभी अवस्थाओं की अनुभूति पा सकता है।

५. भगवत्साक्षात्कार

राजा जनक ने पलक मारते भगवत्साक्षात्कार कर लिया। राजा खट्वाङ्ग ने एक मुहूर्त में, राजा परीक्षित ने एक सप्ताह में और स्वामी रामतीर्थ ने दो वर्ष में भगवत्साक्षात्कार कर लिया था। भगवत्साक्षात्कार कुछ कठिन नहीं है। यह बहुत ही सरल है। यह तर्कशास्त्र या गणित सीखने से भी अधिक सरल है। जहाँ आपने एक बार मन को संयत कर लिया और लक्ष्य पर इसे टिका दिया, यह वहाँ चुपचाप पड़ा रहेगा। मन तो बहुत भला साथी है। आप जिस तरह इसे शिक्षित करेंगे, यह वैसे ही आपका अनुगामी बनेगा। यह बहुत ही सहयोगशील तथा आज्ञाकारी सेवक है। ध्यान से बढ़ कर तो आनन्ददायी कुछ है ही नहीं। यहाँ तो सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है। यहाँ सब सुख ही सुख है। आपको दृढ़ निश्चय के साथ ध्यान आरम्भ करना चाहिए। श्री अरविन्द, रमण महर्षि, सिद्धारूढ़ जैसे महात्माओं के जीवन-चरित्रों से प्रेरणा लीजिए। कितने ही उत्तम कोटि के साधक हैं, शिक्षित आचारवान् संन्यासी हैं। उनके साथ रह कर अपनी शङ्का का निवारण कीजिए। उनसे विधि सीखिए। बुद्धि तथा विवेक से आत्मा को, ब्रह्म को जानिए। निदिध्यासन कीजिए। श्रद्धा-रूपी पताका को लहराते हुए, वैराग्य-रूपी शस्त्रास्त्रों से सज्जित हो कर, प्रणवोच्चार का बिगुल बजाते हुए निदिध्यासन की ब्रह्मभूमि में साहसपूर्वक प्रवेश कीजिए। आप ब्रह्मसाक्षात्कार-रूपी भव्य विजय को प्राप्त करेंगे। आयास कीजिए। जागिए, उठिए और लक्ष्य-प्राप्ति तक विराम न लीजिए। यदि आपकी साधना सच्ची है तो आप दो-तीन वर्षों में साक्षात्कार कर लेंगे।

द्वितीय अध्याय

योग का आधार

१. गुरु की आवश्यकता

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ *(गीता : ४-३४)*

—ब्रह्मवेत्ता गुरु के समीप जा कर प्रणाम द्वारा, प्रश्न द्वारा तथा सेवा द्वारा उस ज्ञान (ब्रह्मविद्या) को प्राप्त करो। तत्त्वदर्शी ज्ञानीजन तुम्हें ज्ञान (ब्रह्मविद्या) का उपदेश करेंगे।"

योगवासिष्ठ के शब्दों को सुनिए—"सच्चा जिज्ञासु गुरु के मुख से श्रवण करके ही आत्मज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। यद्यपि गुरु शिष्य को ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति नहीं करा सकता और न शिष्य ही अपरोक्षानुभूति से पूर्व ब्रह्म के स्वरूप को जान सकता है, तथापि यदि गुरु की कृपा शिष्य पर साकार हो जाती है तो वह रहस्यमय ढंग से शिष्य को अपने अन्तर में ब्रह्म-तत्त्व का अपरोक्ष दर्शन करा देती है। गुरु तथा शास्त्रों की सहायता के बिना वह अवस्था निश्चय ही बहुत दुर्लभ है। आचार्य ज्ञानशास्त्र तथा आदर्श शिष्य इन तीनों का समुचित सम्मिलन जहाँ हो जाये वहाँ मोक्ष-पद की प्राप्ति निश्चित है।"

गुरु ही अज्ञानावरण को विदूरित करते हैं। गुरु के समीप जाने से पूर्व साधक में गुरु-भक्ति होनी चाहिए। उसे निष्काम कर्मयोग तथा यम-नियम के अभ्यास द्वारा अपने मल का तथा उपासना और योग द्वारा विक्षेप का निवारण कर लेना चाहिए। उसे मानसिक सत्य तथा ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित होना चाहिए। उसे जीव-भावना से मुक्त होना चाहिए। इसके उपरान्त गुरु के पास जाने का विधान है। गुरु श्रवण से आरम्भ करते और **'तत्त्वमसि'** महावाक्य के रहस्य का उपदेश देते हैं। तथापि यह स्मरणीय है कि गुरु शिष्य को परोक्ष ज्ञान दे सकते हैं, उसकी शङ्काओं का निवारण कर सकते हैं; किन्तु शिष्य के वैयक्तिक प्रयास की अपरिहार्य आवश्यकता है। यह मिथ्या विचार न रखें कि गङ्गा से पाँच घड़े जल लाने से गुरु-कृपा से मुक्ति प्राप्त हो सकेगी। एक अर्थ में कोई गुरु, कोई ईश्वर मुक्ति नहीं प्रदान कर सकता है। यह आपके पुरुषार्थ पर निर्भर करता है। शास्त्र मार्ग दर्शाते हैं, गुरु ब्रह्म का निर्देश करते हैं; किन्तु सतत निदिध्यासन द्वारा ब्रह्म का वैयक्तिक परिचय प्राप्त करने के लिए तो आपको ही प्रयास करना

होगा। यह गम्भीर भूल न कीजिए कि निश्चेष्ट बैठे रहने से कृत्रिम सेवा द्वारा गुरु-कृपा से आपको मुक्ति प्राप्त हो जायेगी। आपको स्वयं ही अपनी दिव्य दृष्टि से सत्-चित्-आनन्द का आस्वादन करना होगा : **"पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः"** (गीताः १५-१०)। शास्त्रों ने श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन की विधि निर्दिष्ट की है। यदि व्यक्ति गुरु के मुख से श्रवण से ही मुक्ति पा सके तो मनन तथा निदिध्यासन को संयुक्त करना अनावश्यक होगा। मनन तथा निदिध्यासन साधक के अपने प्रयास के लिए छोड़ दिये जाते हैं।

"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

—अपने द्वारा आपका (संसार-सागर से) उद्धार करे और अपनी आत्मा को अधोगति में न पहुँचाये" (गीताः ६-५)।

उपर्युक्त विचार के समर्थन में योगवासिष्ठ के निम्नांकित उद्घोष को ध्यानपूर्वक पढ़ें : "प्रत्येक व्यक्ति गुरु तथा श्रुतियों के वास्तविक तात्पर्य के बोध की सहायता से अपने अन्दर ही अपने ज्ञान से उस आत्मा को जाने।"

२. साधकों का चयन

जिस व्यक्ति का उद्देश्य धनोपार्जन है, जिसके विचार स्त्रियों तथा भोगों में केन्द्रित हैं, जिसमें विषय-संस्कार अभिभावी हैं, प्रबल हैं, जिसमें बहिर्मुख-वृत्ति है, जो काम-क्रोध-परायण है तथा जो इस तुच्छ, क्षुद्र ऐहिक जीवन के ओछे सुखों से पूर्णतः सन्तुष्ट है, उसके लिए आप कुछ भी नहीं कर सकते। यदि आप एक २५ वर्ष के नवयुवक; जो अभी विदेशी योग्यता प्राप्त कर विदेश से लौटा है, जिसका अभी एक नवयुवती से विवाह हुआ है, जिसमें काम-वासना अत्यधिक जोरों के साथ उफन रही है; को श्री दत्तात्रेय की अवधूत-गीता अथवा श्री शङ्कराचार्य की विवेक-चूडामणि की एक प्रति दें जिसमें अगण्य अमूल्य रत्न भरे पड़े हैं तो वह उसे रद्दी की टोकरी में फेंक देगा। वह उसे रोचक न लगेगी। उसके विचार अनात्म पदार्थों में तल्लीन हैं। उसकी मानसिक धारा पृथक् दिशा में प्रवाहित हो रही है। ऐसे व्यक्ति के लिए योगवासिष्ठ, गीता, उपनिषद् आदि जैसे ज्ञानशास्त्र निरर्थक हैं।

किन्तु इसी व्यक्ति को २० वर्ष पश्चात् जब वह जीर्ण क्षयरोग से पीड़ित हो, जब उसकी पत्नी और उसका इकलौता पुत्र मर चुके हों उपर्युक्त पुस्तक पढ़ने को दें तो निश्चय ही वह उसे बड़ी रुचि से पढ़ेगा। आप उसी मनुष्य को प्रभावित कर सकते हैं, जिसका दृष्टिकोण पूर्णतया परिवर्तित हो गया हो। (१) वेदान्त के संस्कार, (२) अन्तर्मुख-वृत्ति तथा (३) मोक्षपरायणता—ये ब्रह्मज्ञान के साधक की आवश्यक

अर्हताएँ हैं। जिस व्यक्ति में ये तीनों अर्हताएँ हैं, उसे आप सहज ही प्रभावित कर सकते हैं; क्योंकि उसका मन ज्ञान के लिए ग्रहणशील है।

३. शास्त्रों में श्रद्धा

ब्रह्मविद्या मौलिक चिन्तन और तर्क की अपेक्षा श्रुतियों के अवलम्बन से अधिक सरलतापूर्वक सीखी जा सकती है। बादरायण सदा वेद-वाक्यों की शरण लेते हैं। श्रुतियाँ निर्भ्रान्त तथा प्रामाणिक हैं। श्रुतियों का प्रमाण प्रत्यक्ष-प्रमाण से अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रत्यक्ष ज्ञान में भूलें होती हैं। घट का दर्शन वास्तव में शेष जगत् को छोड़ कर घट का दर्शन है। घट तथा शेष जगत् सीधे मन के समक्ष प्रस्तुत किये जाते हैं। तभी दर्शन सम्भव होता है। आणविक मन शेष जगत् को कैसे देख सकता है? यह असम्भव है। अतएव प्रत्यक्ष-प्रमाण श्रुति-प्रमाण जितना प्रामाणिक तथा विश्वसनीय नहीं है। आप आकाश में नीला रङ्ग देखते हैं। यह अध्यास है। आप प्रत्यक्ष-प्रमाण पर विश्वास नहीं रख सकते। श्रुतियाँ ऋषि-मुनियों की साक्षात् अनुभूति हैं। वे ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान देती हैं। वे प्रमाणगत सन्देह को दूर करती हैं। ब्रह्म अतीन्द्रिय तथा अवाङ्मनोगोचर है। श्रुति निदिध्यासन का आधार हैं। **'तत्त्वमसि'**, **'अहं ब्रह्मास्मि'** आदि श्रुति-वाक्यों के श्रवण से ब्रह्माकार-वृत्ति का उदय होता है। श्रुतियों के श्रवण तथा मनन के बिना ज्ञानयोगाभ्यास नितान्त असम्भव है। कुछ तथा-कथित पण्डित-वर्ग, शिक्षित अज्ञानी जो तार्किक होने का ढोंग करते हैं, श्रुतियों के उन अंशों को ही प्रामाणिक मानते हैं जो उनके तर्क को उचित तथा प्रामाणिक लगते हैं, किन्तु ऐसा सोचना बहुत बड़ी नादानी है; क्योंकि वे भूल से अपनी भावनाओं और अभिरुचियों को ही अपना तर्क समझ बैठते हैं। वे कभी भी संसार-चक्र से बाहर नहीं निकल सकते। अध्यात्म-पथ पर स्वतन्त्र तर्क तथा विचार से काम नहीं चलता। श्रद्धा अपरिहार्य रूप से अपेक्षित है।

४. ब्रह्मचर्य [१]

हे सौम्य! अध्यात्मविद्या के जिज्ञासुओ! अमृतपुत्रो! आप लोगों के बीच अपने को पा कर आज मेरा हृदय अत्यन्त आह्लादित है। आप लोगों की सेवा करने का यह अनुपम अवसर मुझे प्राप्त हुआ है।

मैं आप लोगों के समक्ष जिस महत्त्वपूर्ण विषय पर बोलने जा रहा हूँ, वह विषय है ब्रह्मचर्य। मन, वचन और कर्म से पवित्र आचरण का नाम ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य से जननेन्द्रिय पर ही नियन्त्रण नहीं, प्रत्युत दशों इन्द्रियों पर नियन्त्रण अभिप्रेत है। इसे ही चरित्र-निर्माण कहते हैं। ब्रह्मचर्य वैसी निधि है, जिसकी इच्छा सबको करनी चाहिए।

१ धर्मसभा विद्यालय, लखीमपुर खीरी, उ.प्र. में ९-१२-१९३२ को दिया गया प्रवचन।

लोग कहते हैं कि ज्ञान ही शक्ति है; परन्तु मैं अपने अनुभवों के आधार पर साहसपूर्वक कह सकता हूँ कि ज्ञान नहीं प्रत्युत चरित्र ही शक्ति है। चरित्र की शक्ति ज्ञान की शक्ति से बहुत बढ़ कर है।

आप लोगों को अपने चरित्र-निर्माण में सर्वाधिक यत्नशील होना चाहिए। आपके जीवन की समग्र सफलताएँ आपके चरित्र पर ही निर्भर करती हैं। संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, सबने चरित्र के बल पर ही महत्ता अर्जित की है। उन्होंने यश, मान, मर्यादा या जो-कुछ भी सफलता प्राप्त की—सब केवल चरित्र के प्रभाव से ही।

परमात्मा रस है—**"रसो वै सः।"** रस वीर्य है। रस की प्राप्ति द्वारा परमानन्द की प्राप्ति की जाती है। वीर्य के संरक्षण द्वारा परमानन्द की उपलब्धि होती है। **"रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति"** (छान्दोग्योपनिषद्)।

ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित होने से वीर्य का संरक्षण होता है। ब्रह्मचर्य का ह्रास होने पर वीर्य का नाश होता है। ब्रह्मचर्य ही वह आचार है, जिसका आलम्बन ले कर परमात्मा तक पहुँचा जाता है—**"आचारः प्रथमोधर्मः"** (मनुस्मृति)।

आचार से ही दीर्घायु, यश और आनन्द की प्राप्ति होती है। इसे ही चरित्र-निर्माण कहते हैं। चरित्र के अभाव में दुःख और तदनन्तर अकाल-मृत्यु होती है। श्रुतियों ने मनुष्य की आयु सौ वर्ष निर्धारित की है। ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठा से ही यह आयु प्राप्तव्य है।

यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि जैसा आपका आहार-विहार, जैसी आपकी मानसिक अवस्था, जैसा आपका जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण आदि रहेगा, वैसा ही आप अपनी दीर्घायु के सम्बन्ध में विचार कर सकेंगे। आलसी, पेटू और उच्छृङ्खल मन वाले मनुष्य इसके विषय में कुछ सोच भी नहीं सकते।

भारत के आदि विधिवेत्ता मनु जी महाराज ने कहा है कि छात्रावस्था से ही इन्द्रिय-निग्रह का अभ्यास करना चाहिए। विद्याभ्यासियों को खान-पान एवं रहन-सहन में संयम बरतना चाहिए। सुखोपभोग की आधुनिक सामग्रियों का न्यूनातिन्यून प्रयोग करना चाहिए। सोते हुए वीर्य स्खलित हो जाये तो प्रातःकाल उठ कर भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिए कि क्षति की पूर्ति हो जाये। यह हमेशा याद रखने की बात है कि केवल ब्रह्मचर्य से ही आप आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक सुखों को प्राप्त कर सकते हैं, अन्य किसी माध्यम से नहीं।

दर्शन, स्पर्शन, केलि, कीर्तन, गुह्य भाषण, सङ्कल्प, अध्यवसाय और क्रियानिवृत्ति के नाम से ब्रह्मचर्य से पतन के आठ मार्ग हैं। अपने से परलिङ्गी को देखना, उसे छूना, उससे खिलवाड़ करना, उसकी प्रशंसा करना, चुपचाप बात करना, सम्भोग की इच्छा

और इस इच्छा की पूर्ति कर लेना ही आठ ब्रह्मचर्य-विरोधी मार्ग हैं। इनके परित्याग द्वारा ब्रह्मचर्य में निष्ठा प्राप्त होती है।

एक ज्ञानी या ब्रह्मवेत्ता ही, जो अपने स्वरूप में स्थित है, प्रथम कोटि का ब्रह्मचारी है।

जो गृहस्थ अपनी सन्तति-परम्परा को बनाये रखने की भावना से केवल ऋतुकाल में अपनी पत्नी के साथ संसर्ग करता है, वह ब्रह्मचारी ही है।

इस बात को भूलिए मत। वीर्य जीवन-दायिनी शक्ति है। यह प्राणों का प्राण है। यह आपके शरीर को आभा प्रदान करता है। वीर्य आपके रक्त से पच कर बनता है। एक बूँद-भर वीर्य चालीस बूँद रक्त से पच कर बनता है। इससे आप अनुमान लगा सकते हैं कि यह कितना मूल्यवान् है। यह तो आपकी शक्ति है, निधि है। यह आपकी सङ्कल्प-निष्ठा है, आत्म-बल है, परमेश्वर की विभूति है। गीता के अनुसार यह आपका पौरुष है, आपकी विचारधारा चेतना और बौद्धिक प्रतिभा का प्रतीक है। यह सर्वस्व है।

जो वीर्य आपके शरीर से निकल कर जा चुका है, वह कितनी भी मात्रा में बादाम, पौष्टिक दूध, मक्खन, च्यवनप्राश, मकरध्वज आदि खाने से दोबारा वापस नहीं आ सकता। इस रेतस् को आप सुरक्षित रखें तो यह आपके जीवन में सफलता के सभी द्वार खोलने में समर्थ होगा। इससे आत्मा और परमात्मा के द्वार खुलेंगे। इससे परमानन्द की प्राप्ति होगी।

स्मरण-शक्ति का ह्रास, असमय में बुढ़ापा, नपुंसकता, आँखों या स्नायुओं से सम्बन्धित अनेक प्रकार के रोग वीर्यनाश के कारण ही उत्पन्न होते हैं। आज के कमजोर और पीले शरीर वाले युवकों को लड़खड़ाते कदमों से चलते हुए देख कर भला किसके दिल को दुःख नहीं पहुँचता; परन्तु क्या किया जाये ! यह सब ब्रह्मचर्य में उनकी अनास्था के कारण है।

इस वीर्यशक्ति की रक्षा कीजिए और ऊर्ध्वरेता योगी बनिए। जिसके वीर्य का प्रवाह मस्तिष्क की ओर होता है, वह ऊर्ध्वरेता योगी है। उसकी वीर्यशक्ति ओजस् बन कर सञ्चित होती है जो चिन्तन और ध्यानाभ्यास में काम आती है।

ऊर्ध्वरेता मन, वचन और कर्म से पवित्र होता है और अपने वीर्य के प्रवाह को नीचे जाने से बिलकुल रोकता है। उसे स्वप्न-दोष नहीं होता। उसका वीर्य जाग्रतावस्था में भी बाहर नहीं आता। आज के डाक्टर लोग इस रहस्य को नहीं समझेंगे। वे तो कहेंगे कि वीर्य का निष्क्रमण नहीं हुआ तो स्वाभाविक है कि वह पुनः रक्त में सम्मिलित हो जाये; परन्तु बात ऐसी नहीं है। यह तो ओजशक्ति बन जाता है।

डाक्टरों को इसका पता नहीं है। वे योग की विधियों से परिचित नहीं हैं। वे केवल स्थूल विज्ञान से परिचित हैं। वास्तविकता यह है कि योगी योग-चक्षु द्वारा प्रकृति के मर्म तक पहुँचता है। योगी अपने शरीर में वीर्य का निर्माण ही रोक देता है। वह तो सब-का-सब ओजस् में ही परिणत हो जाता है।

शारीरिक और मानसिक रूप से दो प्रकार का ब्रह्मचर्य है। शरीर का नियन्त्रण शारीरिक तथा बुरे विचारों का नियन्त्रण मानसिक ब्रह्मचर्य है। शारीरिक ब्रह्मचर्य की अपेक्षा अधिक श्रमसाध्य है मानसिक ब्रह्मचर्य। इसमें प्रौढ़ संकल्प और निरन्तर अध्यवसाय की आवश्यकता है।

परमेश्वर का नाम-जप, शीर्षासन, सर्वाङ्गासन, उड्डीयान, नौलि, अश्विनी-मुद्रा, योग-मुद्रा, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, शम, दम, सत्सङ्ग, गीता-रामायण का पाठ, सात्त्विक भोजन, कीर्तन, मन को किसी काम में सदा लगाये रखना, प्रार्थना, ध्यान, विचार, बुरी सङ्गति तथा बातचीत का त्याग, सिनेमा का त्याग इत्यादि ब्रह्मचर्य में निष्ठा के मूल-मन्त्र हैं।

दूध, फल, चावल, मूँग की दाल, जई, रोटी, पराँठा, बादाम, मिश्री, मक्खन, पनीर, परवल, लौकी इत्यादि शुद्ध और सात्त्विक भोजन का सेवन कीजिए।

लहसुन, प्याज, मांस, मछली, मद्य, धूमपान इत्यादि का परित्याग कीजिए। सरसों का तेल, हींग, मिर्च, चटनी, मसाले खाने वाले लोग स्वप्न-दोष के शिकार होते हैं। मांस-मछली खाने वाले तो ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठा पा ही नहीं सकते।

घेरण्ड, मत्स्येन्द्र, गोरक्ष प्रभृति ऋषियों ने शीर्षासन और सर्वाङ्गासन, जिन्हें विपरीतकरणी-मुद्रा भी कहते हैं, को ब्रह्मचर्य में निष्ठा के लिए बहुत उपयोगी बताया है। इनके अभ्यास से ब्रह्मचारी ऊर्ध्वरेता की स्थिति को प्राप्त करता है। ऊर्ध्वरेता योगी बड़ी शीघ्रता से ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेता है।

'सागर की अतल गहराइयों में अनमोल मोती छिपे होते हैं', कवि ग्रे की यह पंक्ति बड़ी मार्मिक है। आप लोगों के बीच ही कालिदास, शेक्सपियर, वर्ड्सवर्थ और वाल्मीकि जैसे कवि; सन्त जैवियर, वसिष्ठ और विश्वामित्र जैसे आदर्श महात्मा; भीष्म पितामह, हनुमान्, लक्ष्मण और स्वामी दयानन्द जैसे ब्रह्मचारी; ज्ञानदेव और गोरखनाथ जैसे योगी; सुकरात, काण्ट, शङ्कर और रामानुज जैसे दार्शनिक; तुलसी, रामदास और एकनाथ जैसे भक्त; जगदीशचन्द्र बोस और फराडे जैसे वैज्ञानिक छिपे पड़े हैं।

ब्रह्मचर्य की शक्ति से अपनी छिपी हुई गरिमाओं को खोज निकालिए। परमेश्वर के साक्षात्कार द्वारा असार संसार से युक्तिपूर्वक परमपद को प्राप्त कीजिए।

५. ब्रह्मचर्य का अभाव

ब्रह्मचर्य का अभाव एक गम्भीर बाधा है। ब्रह्मचर्य की साधना के बिना आध्यात्मिक प्रगति सम्भव नहीं है। वीर्य गतिशील शक्ति है। इसे ओज-शक्ति में रूपान्तरित करना चाहिए। जो भगवत्साक्षात्कार के लिए बहुत ही उत्सुक हों, उन्हें अति-नियम-निष्ठा से अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। गृहस्थ अपनी कमजोरी के कारण अपने ब्रह्मचर्य-व्रत को तोड़ते हैं; यही कारण है कि वे आध्यात्मिक साधना में कुछ प्रगति नहीं कर पाते। वे आध्यात्मिक निश्रयणी पर दो सोपान आरोहण करते हैं, और ब्रह्मचर्य के अभाव में तत्काल ही भूतल पर आ गिरते हैं। वीर्य के अपव्यय से स्नायविक दुर्बलता, थकावट तथा असामयिक मृत्यु होती है। मैथुन से मन तथा शरीर का ओज नष्ट होता है, स्मरण-शक्ति, समझ तथा बुद्धि क्षीण होती तथा आध्यात्मिक प्रगति में बाधा पहुँचती है। ब्रह्मचर्य के महत्त्व तथा ब्रह्मचर्य के अभाव के दोषों के विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि मैं अपने सभी लेखों में इस विषय पर सदा बल देता रहता हूँ। मैं यहाँ भी इस वीर्य-शक्ति के संरक्षण तथा उसे ओज-शक्ति में रूपान्तरित करने की कुछ महत्त्वपूर्ण विधियाँ दे रहा हूँ।

अति-नियम-निष्ठा से ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कीजिए। पति तथा पत्नी को ब्रह्मचर्य के महत्त्व तथा महिमा को समझना तथा अनुभव करना चाहिए। ब्रह्मचारी सन्तों को स्मरण कीजिए तथा प्रेरणा प्राप्त कीजिए। उपवास से काम-वासना पर नियन्त्रण होता है। इससे भावनाएँ शान्त होती हैं। उपवास करने पर मन को खाद्य पदार्थों और स्वादिष्ट भोजन का चिन्तन नहीं करने देना चाहिए। अधिक उपवास न करें। इससे दुर्बलता होगी। आहार-सम्बन्धी समायोजन की सर्वोपरि आवश्यकता है। दूध, गेहूँ, मूँग आदि सात्त्विक भोजन करें। कढ़ी, चटनी, मदिरा, मांस, धूमपान आदि का परित्याग करें। स्त्रियों की संगति न करें। स्त्री के चित्र की ओर भी न देखें। खूब जप करें। ध्यान, आसन तथा प्राणायाम का अभ्यास करें। किसी उपयोगी कार्य अथवा योगाभ्यास में अपने मन को खूब व्यस्त रखें। यदि आप उपर्युक्त निर्देशों का अति-नियम-निष्ठा से अक्षरशः पालन करेंगे तो आप अपनी काम-वासना को नियन्त्रित कर सकेंगे। यदि आप इसमें सफल न हों तो आप मेरी हँसी उड़ा सकते हैं। वह व्यक्ति भाग्यशाली है जिसने अपनी काम-वासना पर नियन्त्रण पा लिया है; क्योंकि उसे शीघ्र ही भगवत्साक्षात्कार होगा।

६. मिताहार

मिताहार खान-पान में परिमितता को कहते हैं। अधिक भोजन से निद्रा और तामसिक अवस्था आती है। भोजन से पेट जरा अधिक भर जाये तो ध्यान में बाधा

पड़ती है। मन का पाचन-संस्थान से सीधा सम्बन्ध है। अधिक भोजन कर के आसन में बैठने से बेचैनी महसूस होगी। आपको निद्रा भी सताने लगेगी। गीता में आप देखेंगे :

"नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥" *(गीता : ६-१६)*

—हे अर्जुन ! जो व्यक्ति अत्यन्त अधिक भोजी अथवा नितान्त अनाहारी है एवं जो व्यक्ति अत्यन्त निद्रालु अथवा नितान्त अनिद्राभ्यासी है, उसका योग सिद्ध नहीं होता है।

"युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥" *(गीताः ६-१७)*

—यथायोग्य आहार-विहार करने वाले, कर्मों में यथायोग्य यत्न करने वाले और यथायोग्य शयन करने तथा जागने वाले का ही योग दुःखों का नाश करने वाला होता है।

आधा पेट भोजन, एक चौथाई जल तथा एक चौथाई रिक्त स्थान वायु के प्रसरण के लिए होना चाहिए। यही मिताहार है। दिन के समय थोड़ा चावल तथा चीनी के साथ आधा लीटर दूध आदर्श भोजन, यौगिक आहार, नितान्त सात्त्विक आहार है। सोने के समय केवल आधा लीटर दूध लें। यह साधना के लिए बहुत ही उत्तम होगा। रात्रि का भोजन बहुत ही हलका होना चाहिए।

यह एक सार्वजनिक गलतफहमी है कि स्वास्थ्य तथा शक्ति के लिए अधिक मात्रा में भोजन की आवश्यकता होती है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। बहुत-कुछ परिपाचन तथा आत्मसात्करण पर निर्भर करता है। प्रायः बहुत से लोगों का तो अधिकांश भोजन बिना पचे ही विष्ठा के साथ निकल जाता है। पेट को ठूँस-ठूँस कर भरने का अधिकांश लोगों का स्वभाव बन गया है। तथापि इस संसार में मनुष्य की आवश्यकताएँ बहुत ही अल्प हैं। मनुष्य के विकास, स्वास्थ्य तथा शक्ति के लिए दूध, बादाम, घी, दही आदि की बिलकुल ही आवश्यकता नहीं है। धनी लोग इन पदार्थों के पीछे अन्धाधुन्ध भागते हैं और लालसाओं के दास हैं। महाराष्ट्र तथा पञ्जाब के ८५ वर्षीय हृष्ट-पुष्ट कृषकों को देखिए जो मामूली दाल, रोटी खा कर और छाछ पी कर रहते हैं। अज्ञानी डाक्टर ही ऊष्माङ्क (कैलोरी), विभिन्न खाद्य पादार्थों के महत्त्व, विटामिन-सिद्धान्त आदि का बतङ्गड़ बनाते हैं। यह सब मानसिक कल्पना है। यह यथार्थ की अपेक्षा प्रातिभासिक अधिक है। यदि आप दूध तथा घी नहीं सेवन करते तो आपको रोटी तथा दाल अधिक मात्रा में लेनी होगी। दाल दूध की अपेक्षा अधिक

पौष्टिक है। यह बहुत ही तात्त्विक है। क्योंकि दूध में प्रोटीन की मात्रा अधिक होती है; अतः यह थोड़ी मात्रा में लेने पर भी पोषण प्रदान करता है, जबकि रोटी खाने की अवस्था में उसे अधिक संख्या में खानी पड़ेंगी। यदि आप दूध तथा घी के साथ रोटी खाते हैं तो चम्मच-भर दाल के साथ ५ या ६ रोटियाँ खानी होंगी। बस, इतनी ही बात है। चार रोटियों की वृद्धि दूध तथा घी का स्थान ले लेती है। दूध तथा घी का आदी होना कोरी मानसिक कमजोरी है। आपको किसी चीज की आदत नहीं डालनी चाहिए। आदत का अर्थ है दासता। आदत का अर्थ है दुर्बल सङ्कल्प, दास-मनोवृत्ति। दास-मनोवृत्ति वाले व्यक्ति स्वतन्त्रता के, मुक्ति के सर्वथा अयोग्य हैं।

जिह्वा व्यक्ति की कट्टर शत्रु है। यह जननेन्द्रिय की घनिष्ठ मित्र है; क्योंकि दोनों एक ही पिता, जल-तन्मात्रा से उत्पन्न हुई हैं। जिह्वा के नियन्त्रण से अन्य सभी इन्द्रियाँ नियन्त्रित हो जाती हैं। यह एक रहस्य की बात है। एक बार एक भक्त भगवान् शिव के पास उपदेश-प्राप्ति के लिए गया। शङ्कर जी कुछ नहीं बोले—केवल एक हाथ से जिह्वा को तथा दूसरे हाथ से जननेन्द्रिय को दृढ़ता से पकड़ लिया और इन दोनों इन्द्रियों को साधक को दिखलाया। वह भगवान् शिव के मौन उपदेश को समझ गया। उसने इन दोनों इन्द्रियों का पूर्णतया नियन्त्रण किया जिससे उसकी अन्य सभी इन्द्रियाँ नियन्त्रित हो गयीं। इसके परिणाम-स्वरूप उसे मनोनिग्रह, आन्तरिक शान्ति तथा मोक्ष की प्राप्ति हुई।

७. नमक त्याग दें

नमक योग के साधक का महाशत्रु है। यह भावनाओं तथा वासनाओं को उत्तेजित करता है। योगतत्त्वोपनिषद् में शाडिल्य ऋषि ने नमक त्यागने का उपदेश दिया है। खेचरी-मुद्रा का अभ्यास करने वाले साधक भी नमक नहीं खा सकते। उनके लिए समुद्र-तट पर निवास करना भी वर्जित है; क्योंकि वहाँ की वायु कण्ठ-प्रदेश की श्लेष्मल झिल्ली को प्रभावित करती है। नमक का इतना अनर्थकारी परिणाम होता है। जो नमक नहीं खाते, उन पर साँप या बिच्छू के काटने का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। यदि आप नमक त्यागने में डाक्टरों से परामर्श करेंगे तो वे आपको अनावश्यक ही भयभीत कर देंगे; क्योंकि उन्हें इन बातों का सूक्ष्म अनुभव नहीं होता। उन्हें योग के सिद्धान्तों तथा अभ्यासों की जानकारी नहीं होती। वे आमाशय के पाचन का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि नमक उदर के आमाशय-रस के नमक के तेजाब के निर्माण में प्रवेश करता है, अतएव नमक के त्याग से मन्दाग्नि उत्पन्न होती है; परन्तु इसमें सच्चाई नहीं है। महात्मा गान्धी ने कई वर्षों तक नमक नहीं खाया। लखनऊ के एक बङ्गाली संन्यासी स्वामी योगानन्द ने भी कई वर्ष तक नमक

नहीं खाया। दोनों ही स्वस्थ तथा हृष्ट-पुष्ट थे। ऐसे अनेक उदाहरण हैं। मेरे आदेश के अनुसार ही कितने ही लोगों ने नमक-हीन भोजन आरम्भ किया। वे सब स्वस्थ तथा निरोग हैं। नमक का त्याग ध्यानाभ्यास में बड़ा सहायक होता है। यह स्नायुओं और मन को शीतल रखता है। नमक को छोड़ने के अनन्तर सम्भव है आरम्भ में एक मास तक आप पुरानी आदत के कारण कुछ कठिनाई अनुभव करें; किन्तु बाद में अभ्यास हो जाने पर सब-कुछ ठीक हो जायेगा। दाल, सब्जी आदि भी बिना नमक के खाने की आदत पड़ जायेगी। जिन्होंने नमक त्याग दिया है, वे अपनी रोटी में चीनी लगा सकते हैं। यह लाभदायक विषयान्तर है।

८. संन्यास—ब्रह्मज्ञान में इसकी सेवा

संन्यासी वह है जिसमें पूर्ण मानसिक शुचिता, व्यवसायात्मिका बुद्धि, प्रकृति-पुरुष-विवेक, सांसारिक भोगों के प्रति वैराग्य, षट्सम्पत्ति और तीव्र मुमुक्षुत्व हो। जब तक इन गुणों से कोई सम्पन्न नहीं हो लेता, तब तक सांसारिक कर्तव्यों को छोड़ बैठने से आकाञ्छित फल प्राप्त नहीं होता। इसमें अपवाद यह है कि यदि कोई व्यक्ति पचहत्तर वर्ष की अवस्था प्राप्त कर चुका हो, तो उसे संसार का त्याग कर देना चाहिए भले ही उपर्युक्त गुण उसमें आये हों अथवा नहीं। उसकी वृद्धावस्था कम-से-कम इस बात की पर्याप्त गारण्टी तो है ही कि वह सांसारिक सुखों की ओर आकृष्ट नहीं होगा। वह अपने अन्तिम दिनों में ध्यानादि के द्वारा नवजीवन प्राप्त करेगा। शेष संसार के लिए वैदिक धर्म में आन्तरिक त्याग की व्यवस्था है जो अध्यात्म-विद्या में अपरोक्ष रूप से सहायक है। सभी लौकिक कर्तव्यों तथा ऐन्द्रिय सुखों के त्यागपूर्वक संन्यास की दो विधियाँ बतायी गयी हैं: (१) ब्रह्म को जानने की इच्छा से लिया जाने वाला 'विविदिषा संन्यास' तथा (२) ब्रह्म को जानने के पश्चात् लिया जाने वाला 'विद्वत् संन्यास'। दूसरे प्रकार का संन्यास तो सबके लिए वैध है। जिसने ब्रह्म में अपनी अद्वैत निष्ठा प्राप्त कर ली है, वह वैदिक धर्मानुसार नहीं तो कम-से-कम ब्रह्म के निरपेक्ष स्वरूप में निमज्जित होने के लिए संन्यास ग्रहण कर ले।

कुछ विद्वानों के मत में ज्ञानोपलब्धि में बाधक एक वह पाप है जो धार्मिक कर्मकाण्ड द्वारा नष्ट किया जाता है तथा एक वह है जो त्याग द्वारा नष्ट किया जाता है। इस भाँति चित्त-शुद्धि के लिए दोनों ही आवश्यक हैं। यहाँ यह मानना होगा कि संन्यास से पूर्व घटित होने वाली चित्त-शुद्धि का स्वरूप भिन्न होगा; क्योंकि सच्चाई तथा निष्कपट भाव से जीवन के कर्तव्यों के सम्पादन द्वारा दुर्गुणों के प्रच्छन्न संस्कारों के नष्ट होने के परिणामस्वरूप नीतिशास्त्रों द्वारा निन्दित ऐन्द्रिक सुखों की उत्कट

लालसा, बेईमानी तथा इसी प्रकार के अन्य अवगुणों का प्रवासी अहं पर आधिपत्य नहीं रह जाता है।

प्रशान्ति, अन्तर्जात स्वतन्त्रता की मान्यता, आत्मत्याग तथा इसी प्रकार के अन्य सद्गुण संन्यास के सुफल हैं। इस भाँति ज्ञानोदय के लिए कर्म तथा कर्म-संन्यास दोनों ही अपने यथार्थ अर्थ में चित्त-शुद्धि के माध्यम से उपयोगी हैं।

इस दृष्टिकोण को मानने वाले संन्यास को परमावश्यक समझते हैं और तत्परिणामस्वरूप यह मानते हैं कि अपने अविरत कार्यकलापमय जीवन में मुक्त समझे जाने वाले राजा जनक तथा अन्य लोगों ने अपने किसी पूर्ववर्ती जीवन में संसार का त्याग किया होगा।

अन्य लोग यह मानते हैं कि अध्यात्मविद्या के लिए संन्यास इसलिए उपयोगी नहीं है कि उससे ज्ञानोदय के लिए आवश्यक चित्त-शुद्धि होती है, वरन् इसलिए कि यह ब्रह्म का चिन्तन करने वाले के लिए वैदिक ग्रन्थों में निर्दिष्ट गुणों में से उपरति शब्द से निरूपित एक आवश्यक गुण है।

तृतीय विचार यह है कि संन्यास से न तो चित्त-शुद्धि के रूप में और न ही प्रशान्ति के रूप में कोई पुण्य फलित होता है। पूर्ण ज्ञान के लिए अविरत श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन की आवश्यकता है जो चतुर्थ आश्रम में ही उपलब्ध हो सकते हैं।

९. तीन वर्ष तक एकान्तवास

सन्त एकनाथ अपनी पत्नी तथा बच्चों के साथ संसार में रहे, भक्तियोग की साधना की और उन्होंने सायुज्य-मुक्ति प्राप्त की। राजा जनक ने मिथिला पर राज्य किया और राजकीय कार्यकलाप के बीच ही ज्ञानपद प्राप्त किया। प्रख्यात पञ्चदशी ग्रन्थ के रचयिता स्वामी विद्यारण्य विजयनगरम् के दीवान थे। प्रशासनिक कर्म करते हुए भी उन्हें ध्याननिष्ठा थी और संसार के बीच ही उन्होंने भगवत्साक्षात्कार किया। गीता के उपदेशों का सार यही है कि संसार में रहते हुए ब्रह्मज्ञान प्राप्त करें।

योग की साधना में बाधाएँ बाहर से नहीं अन्दर से आती हैं। यदि आपने प्रत्याहार में दृढ़ता प्राप्त कर ली है तो आप कहीं भी रह सकते हैं। यह एक असन्दिग्ध सत्य है, किन्तु इस कथन के दूसरे पहलू पर भी दृष्टि-निक्षेप कीजिए। एक ही पक्ष को पकड़ कर बैठना अच्छा नहीं। दूसरा पहलू भी विचारणीय है।

संसार में रह कर ब्रह्म-साक्षात्कार वाली बात बहुत अच्छी है, परन्तु बहुत व्यावहारिक नहीं; क्योंकि वहाँ रह कर अधिकांश लोग साधना नहीं कर पायेंगे। कहना सरल है, करना कठिन है। श्री अरविन्द ने संसार में रह कर अध्यात्मतत्त्व के अभ्यास की बात की है, किन्तु स्वयं अनेक वर्षों तक एकान्त-सेवन करते रहे थे। आज

के संसार में कितने जनक, एकनाथ और विद्यारण्य हैं ? ये लोग तो योग-भ्रष्ट थे, तभी वे संसार में रह कर ध्यानाभ्यास कर सके। सर्वसाधारण लोग संसार में रह कर ध्यान कर पायेंगे, यह उक्ति कुछ अनहोनी दिखती है। परमेश्वर और संसार दोनों की साथ-ही-साथ सेवा करना बड़ा कठिन है। मन एक समय में एक ही विषय का चिन्तन कर सकता है। प्रभु ईसामसीह अठारह वर्ष तक लापता रहे। भगवान् बुद्ध लगभग आठ वर्ष तक उरुवला के वनों में, वर्तमान बुद्ध-गया में तप करते रहे। स्वामी रामतीर्थ ने दो वर्ष तक ब्रह्मपुरी में एकान्तवास किया। इस प्रकार अनेकों ने साधना-काल में एकान्त का सेवन किया। ऋषि गौतम अपने न्याय-सूत्र में लिखते हैं कि पर्वत, बालुकामय नदी-तट या गुफाएँ ध्यानाभ्यास के लिए उपयोगी हैं। आप साधना के प्रारम्भिक काल में तो संसार में रह कर निभा सकते हैं, किन्तु प्रगति काल में तो किसी पर्वतीय दृश्यपूर्ण स्थान, समुद्र-तट अथवा पुण्य-सलिला गङ्गा, गोदावरी या नर्मदा के तटवर्ती किसी उपयुक्त स्थान में चले जाना चाहिए। यहाँ आध्यात्मिक संस्कार स्फुरित होंगे और साधना में अनुकूलता आयेगी। सांसारिक वातावरण ध्यान के प्रतिकूल है। वह स्नायुओं, संस्कारों, वासनाओं तथा इन्द्रियों को उत्तेजित, उद्दीप्त तथा प्रोत्साहित करता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है—"समतल, सब प्रकार से शुद्ध, कङ्कड़, अग्नि और बालू से रहित तथा शब्द, जल, आश्रय आदि की दृष्टि से सर्वथा अनुकूल और नेत्रों को पीड़ा न देने वाले गुहा आदि वायुशून्य स्थान में मन को भगवान् में लगाने का अभ्यास करना चाहिए।" जैसे ऊँची शिक्षा प्राप्त करने के लिए आप विश्वविद्यालय में प्रवेश करते हैं वैसे ही योग-साधना की उच्च स्थिति में आपको वन में जाना चाहिए। यहाँ साधना करके ब्रह्मज्ञान प्राप्त कीजिए और प्राप्ति के अनन्तर इस बहुमूल्य ज्ञान को संसार में बाँटिए। इसे ही ज्ञानयज्ञ कहते हैं। यही सबसे बड़ा परोपकार है। यदि आप कम-से-कम पचास व्यक्तियों की अविद्या-जनित अज्ञानावस्था को दूर करने में सफल होते हैं तो यह राष्ट्र की सबसे बड़ी सेवा है। अस्पताल बनाना या अन्नक्षेत्र खुलवाना तो सामाजिक अपमार्जक है। इससे आप समाज के दूषण को दूर नहीं कर सकते। आप उसे एक स्थान से हटा कर दूसरे स्थान में डाल देते हैं जैसे वातरोग में गुल्फ की सूजन तथा पीड़ा को घुटनों में स्थानान्तरित कर देते हैं।

१०. साधन-चतुष्टय

साधक में विवेक, वैराग्य, षट्-सम्पत् और मुमुक्षुत्व—ये चार प्रकार के गुण होने चाहिए। इन्हें साधन-चतुष्टय कहते हैं। आत्मा-अनात्मा, सत्-असत्, नित्य-अनित्य परिणामी-अपरिणामी, दृक्-दृश्य के भेद को समझना विवेक है। निष्काम कर्म के परिणाम-स्वरूप शुद्ध हृदय में विवेक जागता है।

इस लोक से ले कर परलोक-पर्यन्त सभी प्रकार के सुखों से उदासीनता वैराग्य है। विवेकपूर्वक वैराग्य की आवश्यकता है जो **"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः"** (ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है। जीव ब्रह्म ही है, ब्रह्म से पृथक् नहीं है) के विवेक के फलस्वरूप प्राप्त होता है। इस प्रकार का वैराग्य ही साधक की वास्तविक सहायता कर सकता है। **"वैराग्यस्य फलं बोधं बोधस्य उपरतिः फलम्"**—वैराग्य का फल बोध (ब्रह्मज्ञान) है और बोध का फल उपरति है। इस अवस्था में इन्द्रिय-रति की लवलेश इच्छा भी नहीं रहती है। अतीत की इन्द्रिय-रति की स्मृति भी नहीं रहती है। मृदु, मध्यम, अधिमात्र और पर नामक चार प्रकार के वैराग्य हैं। पर-वैराग्य ब्रह्मज्ञान के अनन्तर उत्पन्न होती है।

शम (मन की शान्ति), दम (इन्द्रिय-निग्रह), तितिक्षा (सहनशीलता), उपरति (परितृप्ति), समाधान (मन का स्थिरीकरण) और श्रद्धा (गुरु-शास्त्र-वाक्यों में निष्ठा)—ये छह गुण मिल कर षट्सम्पत् कहलाते हैं।

इस असार संसार से मुक्त हो जाने की अत्यन्त तीव्र इच्छा मुमुक्षुत्व है।

तृतीय अध्याय

नैतिक संस्कृति

१. धार्मिक जीवन यापन करें

आत्मा ही प्रत्येक वस्तु का आधार है। आत्मा और सङ्कल्प में घनिष्ठ सम्बन्ध है। सङ्कल्प आत्मा अथवा ईश्वर का गतिशील अथवा व्यक्त रूप है। नैतिक संस्कृति के बिना आध्यात्मिक अथवा सङ्कल्प की उन्नति सम्भव नहीं है। नैतिक उन्नति कर लेने से चरित्र की पूर्णता प्राप्त होती है। सदाचारी व्यक्ति बुद्धिवादी से कहीं अधिक शक्तिमान् है। चरित्र की उन्नति होने से नाना प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति होती है। यदि आप महर्षि पतञ्जलि के योगसूत्रों का अध्ययन करें तो यम अर्थात् अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह के अभ्यास से जो शक्तियाँ प्रकट होती हैं उनका उसमें विवेचन पायेंगे। यम राजयोग का प्रथम सोपान है। यह योग का आधार है।

दार्शनिक सदाचारी हो, यह अनिवार्य नहीं है; परन्तु आध्यात्मिक व्यक्ति को सदाचारी होना अनिवार्य है। सच्चरित्रता आध्यात्मिकता के साथ-साथ चलती है। गीता के सतरहवें अध्याय में उपदिष्ट तीन प्रकार के तप अर्थात् शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक, राजयोगदर्शन में यम का अभ्यास तथा बुद्ध का अष्टाङ्गिक मार्ग मनुष्य की नैतिक उन्नति के लिए अत्यन्त उपयुक्त हैं। सदाचार का लक्ष्य व्यक्ति को नैतिक बनाना है जिससे वह आत्म-तत्त्व या ब्रह्मज्ञान पाने का उत्तम अधिकारी बन सके।

सदा यथाशक्य यह प्रयत्न करते रहना चाहिए कि प्रत्येक परिस्थिति में सत्य सम्भाषण किया जाये। आरम्भ में आप अपनी आय से हाथ भी धो सकते हैं, पर अन्त में आपकी विजयी अनिवार्य है। आप उपनिषदों के सत्य का अनुभव करेंगे—**"सत्यमेव जयते नानृतम्"** अर्थात् एकमात्र सत्य की ही विजय होती है, असत्य कभी विजयी नहीं होता। एक अधिवक्ता जो न्यायालय में सत्य बोलता है, जो झूठा साक्ष्य नहीं सिखाता, आरम्भ में अपनी वकालत खो सकता है; परन्तु कालान्तर में वही अधिवक्ता न्यायाधीश तथा मुवक्किलों का सम्मान प्राप्त कर सकेगा। उसके पास सहस्रों मुवक्किल जमा हो जायेंगे, किन्तु उपक्रम में उसे उपर्युक्त बलिदान अवश्य करना होगा। अधिवक्ता लोग प्रायः शिकायत किया करते हैं : "हम लोग क्या कर सकते हैं? हम लोगों का तो व्यवसाय ही ऐसा है। हम लोगों को असत्य-भाषण करना ही पड़ेगा, अन्यथा हम लोग अपना मुकदमा हारते हैं।" ये सब झूठे बहाने हैं। उत्तर प्रदेश में एक अधिवक्ता थे। वे वकालत करते हुए भी मानसिक रूप से संन्यासी

थे। वे संन्यासियों तथा जनता के मित्र तथा हितकारी थे। उन्होंने कभी भी झूठी गवाही नहीं दिलवायी। उन्होंने कभी भी अपराध के मुकदमें हाथ में नहीं लिये; किन्तु वे विधिज्ञ-वर्ग के नेता थे और न्यायाधीशों, मुवक्किलों तथा अपने सहकर्मियों के श्रद्धापात्र रहे। वे धनाढ्य व्यक्ति भी थे। अतः मेरे मित्रो, अधिवक्ताओ! क्या आप उपर्युक्त अधिवक्ता के भव्य आदर्श का अनुसरण करेंगे? सच्चे बनें। आप शान्ति, सम्पत्ति तथा सब-कुछ प्राप्त कर सकेंगे। अपने जीवन को भोग-विलासी बनाने तथा अपनी पत्नी को प्रसन्न रखने के लिए अवैध रूप से धनोपार्जन कर क्यों अपनी आत्मा की हत्या कर रहे हैं? इस संसार में तो जीवन बुद्बुद के समान क्षणभंगुर है। अपने को दिव्य बनाने की साधना करें। नैतिक बनने के लिए सत्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषय है।

"अहिंसा परमो धर्मः—अहिंसा ही परम धर्म है; **सत्यं वद**—सत्य बोलना चाहिए; **धर्मं चर**—धर्म का आचरण करना चाहिए; दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करना चाहिए, जैसा आप दूसरों को अपने प्रति करते हुए देखना चाहते हैं; अपने प्रतिवासी से अपने ही समान प्रेम-भाव का व्यवहार करें"—ये सब मनुष्य की नैतिक उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक बातें हैं। आत्मिक एकता या जीवन का एकत्व या अद्वैत दर्शन के लिए नैतिकता ही दृढ़ आधार है। नैतिक उत्कर्ष वेदान्त-दर्शन के **"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"** (यह सब-कुछ ब्रह्म ही है) के साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त करता है।

प्रायः सभी साधक गृहत्याग करने के पश्चात् नैतिक शुद्धि की चिन्ता न कर, तत्काल ध्यान तथा समाधि में कूद कर बड़ी भारी भूल करते हैं। यद्यपि उन्होंने १५ वर्ष तक ध्यान का अभ्यास किया है, तथापि उनका मन उसी मूढ़ स्थिति में रहता है। ईर्ष्या, घृणा, वासना, श्रेष्ठता-मनोग्रन्थि, दम्भ, अहङ्कार आदि उनके मन में भरे हुए रहते हैं। नैतिक संस्कृति के बिना ध्यान या समाधि कदापि सम्भव नहीं। जब नैतिक शुद्धि का मन में अवतरण होता है तो समाधि और ध्यान स्वतः आ जाते हैं। विदेशों में अनेक तान्त्रिक हैं। उनमें आध्यात्मिक उन्नति नहीं होती; क्योंकि उनमें नैतिक संस्कृति का अभाव होता है।

२. धर्म तथा अधर्म

धर्म तथा अधर्म सापेक्ष शब्द हैं। उनकी निश्चित परिभाषा दे पाना बहुत ही कठिन है। कभी-कभी तो किन्हीं विशेष प्रसङ्गों में क्या धर्म है और क्या अधर्म, इस विषय में ऋषि लोग भी सम्भ्रान्त हैं। वैशेषिक दर्शन के प्रणेता कणाद ऋषि कहते हैं : "जिससे निश्रेयस तथा अभ्युदय की प्राप्ति हो, वह धर्म है।" जो मनुष्य को उन्नत बनाये, ईश्वर के समीप ले जाये, वह धर्म है। जो मनुष्य को पतित करे, ईश्वर से दूर ले

जाये, वह अधर्म है। शास्त्रविहित कार्य धर्म है तथा शास्त्रनिषिद्ध कार्य अधर्म है। धर्म तथा अधर्म की एक परिभाषा यह भी है : "भगवदिच्छा के अनुकूल कार्य धर्म और भगवदिच्छा के प्रतिकूल कार्य अधर्म है।"

सामान्य व्यक्ति के लिए यह जान पाना बहुत ही कठिन है कि अमुक कार्य में भगवान् की इच्छा क्या है। इसीलिए मनीषी ऋषियों ने कहा है कि सामान्य व्यक्ति को शास्त्रों, विद्वान् पण्डितों तथा सिद्ध पुरुषों से परामर्श लेना चाहिए। जिस व्यक्ति ने सुदीर्घ काल तक निष्काम कर्मयोग किया हो और जो चिर काल से ईश्वरोपासना करता आया हो, वह कोई भी काम करते समय तुरन्त यह जान सकता है कि ईश्वर की इच्छा क्या है। वह अन्तर की सूक्ष्म वाणी सुन सकता है। सामान्य व्यक्ति को यह अन्दर की ईश्वरीय वाणी ठीक से सुनायी नहीं पड़ती। वह मलिन मन की वाणी को ही ईश्वर की वाणी समझ लेने की भूल कर सकता है। निम्न नैसर्गिक मन उसे धोखा देगा।

जो कर्म मन को ऊँचा उठाये, सुख तथा शान्ति प्रदान करे, वह धर्म है; जो कर्म मन को नीचे ले जाये, दुःख तथा अशान्ति दे, वह अधर्म है। धर्म तथा अधर्म को जानने का यह एक सरल उपाय है। स्वार्थपरता बुद्धि को आच्छादित कर देती है। अतः जिस व्यक्ति में स्वार्थ का लेश मात्र भी अवशेष है, वह धर्म-अधर्म की ठीक पहचान नहीं कर सकता। इसके लिए शुद्ध, सूक्ष्म तथा कुशाग्र बुद्धि की आवश्यकता है। गीता में आप पायेंगे—"जो बुद्धि प्रवृति तथा निवृत्ति, कार्य तथा अकार्य, भय तथा अभय, बन्धन तथा मुक्ति को जानती है, वह सात्त्विकी बुद्धि है। जिस बुद्धि के द्वारा धर्म तथा अधर्म का, कार्य तथा अकार्य का सन्दिग्ध रूप से ज्ञान होता है, वह राजसी बुद्धि है। जो बुद्धि अन्धकारावृत हो कर अधर्म को धर्म तथा सम्पूर्ण विषयों को विपरीत मानती है, वह बुद्धि तामसी है" (गीता : १८-३०, ३१, ३२)।

धर्म-मार्ग पर चलने वाले साधकों की सहायता के लिए मनीषियों ने और भी अनेक परिभाषाएँ की हैं। बाइबिल में हमसे कहा गया है—"दूसरों के साथ वैसा व्यवहार करें जैसा अपने साथ किया जाना पसन्द करते हैं।" यह बहुत ही अच्छा नीति-वचन है। इसमें सदाचार का सार-सर्वस्व आ जाता है। इसका सावधनीपूर्वक आचरण करने से कोई भी अधर्म कार्य नहीं होता। विचार, वाणी तथा कर्म में अहिंसा में प्रतिष्ठित व्यक्ति से कोई भी अधर्म कार्य नहीं होता। इसीलिए पतञ्जलि महर्षि ने अहिंसा को उच्च स्थान दिया है। यम-साधना में अहिंसा का स्थान प्रथम है। दूसरों को सुख पहुँचाना धर्म है। दूसरों को दुःख तथा पीड़ा देना अधर्म है। प्रत्येक व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में दूसरों के साथ ऐसा व्यवहार कर अध्यात्म-पथ में विकास कर सकता है। ऐसा कोई काम न करें जिसके लिए लज्जित होना या डरना पड़े। इस नियम के पालन से बिलकुल सुरक्षित रहा जा सकता है। जो भी नियम आपकी बुद्धि

तथा विवेक को अच्छा लगे उस पर टिके रहें तथा श्रद्धा और लगन के साथ उसका अनुसरण करें। उससे आप अपना विकास कर शाश्वत सुख के धाम को पहुँच सकते हैं।

अब मैं एक महत्त्वपूर्ण बात बतलाता हूँ। मैंने प्रारम्भ में ही बतलाया था कि धर्म तथा अधर्म सापेक्ष शब्द हैं। देश, काल, वर्ण तथा आश्रम के अनुसार वे बदलते हैं। नैतिकता सापेक्ष शब्द है, परिवर्तनशील है। वह वासनामय व्यक्ति जो अपनी विधितः विवाहित पत्नी को अपनी वासना की पूर्ति के लिए बार-बार उत्पीड़ित करता है, उस व्यक्ति की अपेक्षा अधिक अनैतिक है जो वर्ष में एक बार किसी वैश्या के यहाँ जाता है। जिस व्यक्ति का विचार सदा पापमय विषयों में रमण करता है, वह सर्वाधिक अनैतिक व्यक्ति है। क्या अब दोनों का सूक्ष्म अन्तर समझ में आ गया? क्षत्रिय राजा के लिए शत्रु का हनन करना धर्म है। ब्राह्मण तथा संन्यासी को तो सहनशील तथा क्षमा का अतिनियमनिष्ठा से पालन करना चाहिए। यदि कोई अन्यायी अधिकारी किसी व्यक्ति के गुरु या किसी महात्मा पर मिथ्या आरोप लगाये तो उनके प्राण बचाने के लिए असत्य-भाषण करना धर्म है। इस विशेष प्रसङ्ग में असत्य सत्य बन जाता है। अनेकों को हानि पहुँचाने वाला सत्य असत्य ही है। नित्य प्रति पथिकों की हत्या करने वाले डाकू को मारना अहिंसा ही है। विशेष परिस्थिति में हिंसा अहिंसा बन जाती है। प्रत्येक विषय में सोचें तथा विवेक से काम लें। धर्म तथा अधर्म में विवेक करें और उसे करें जो धर्म हो। इससे नैतिक पूर्णता की प्राप्ति में सहायता मिलती है।

३. चरित्र-निर्माण करें

मनुष्य का शरीरान्त होने पर भी उसका चरित्र बना रहता है। उसके विचार भी बने रहते हैं। चरित्र ही मनुष्य में वास्तविक शक्ति और शौर्य का स्फुरण भरता है। चरित्र शक्ति का ही पर्याय है। चरित्र का अर्जन नहीं किया गया तो ज्ञान का अर्जन भी नहीं किया जा सकता। चरित्रहीन व्यक्ति और मृतक व्यक्ति में कोई अन्तर नहीं है। समाज के लिए वह घृणास्पद है, अवाञ्छनीय है। यदि जीवन में सफलता की कामना है, दूसरों पर अपना प्रभाव स्थापित करने की आकांक्षा है, आध्यात्मिक मार्ग पर प्रगति करने की अभिलाषा है और भगवत्साक्षात्कार करने की लगन है तो निष्कलङ्क चरित्र का उपार्जन करें। मनुष्य-जीवन का सारांश है चरित्र। मनुष्य का चरित्र मात्र ही सदा जीवित रहता है, उसके बाद भी बना रहता है। अपने अलौकिक चरित्र के कारण ही शङ्कराचार्य, भगवान् बुद्ध तथा ईसामसीह आज भी याद किये जाते हैं। अपने चरित्र-बल से ही वे जनता को प्रभावित कर सके और उसकी विचार-धाराओं में परिवर्तन कर पाये।

चरित्र और धन की तुलना हो ही नहीं सकती। चरित्र एक शक्तिशाली उपकरण है। यह सुरभिपूर्ण सुन्दर पुष्प की भाँति है जो अपना सौरभ सुदूर देशों तक विकीर्ण करता है। महान् विचार तथा उज्जवल चरित्रवान् व्यक्ति का ओज चुम्बक की भाँति प्रभावशाली होता है। व्यक्तित्व का निर्माण चरित्र से ही होता है। कितना ही सुन्दर कलाकार क्यों न हो; कितना ही निपुण गायक क्यों न हो और कवि या वैज्ञानिक ही क्यों न हों; पर चरित्र न हुआ तो समाज में उसके लिए सम्मान्य स्थान का सदा अभाव ही रहता है। जनसमाज उस पर थूकेगा।

चरित्र व्यापक शब्द है। साधारणतः चरित्र का अर्थ होता है नैतिक सदाचार। जब हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति चरित्रवान् है तो हमारा अर्थ होता है कि वह नैतिक सदाचारशील है। चरित्र का व्यापक अर्थ लिया जाये तो वह व्यक्ति की दयालुता, कृपालुता, सत्यप्रियता, उदारता, क्षमाशीलता और सहिष्णुता का द्योतक होता है। चरित्रवान् व्यक्ति में सभी सात्त्विक गुणों के होने की आशा की जाती है। वह पूर्णतः नैतिक होगा। यह महान् गुणों में से एक है। किन्तु यदि वह जान-बूझ कर असत्य-भाषण करता है, यदि वह स्वार्थी तथा लोलुप है, यदि वह दूसरों की भावनाओं को आघात पहुँचाता है तब भी वह दुश्चरित्र व्यक्ति कहा जायेगा। अपने चरित्र का विकास करने के लिए व्यक्ति को सर्वाङ्गीण उन्नति करनी होगी। चरित्र के विकास के लिए गीता के तेरहवें तथा सोलहवें अध्याय में बतलाये गये सभी दैवी गुणों से सम्पन्न होना होगा। तभी वह सिद्ध व्यक्ति बन सकता है। ऐसे ही व्यक्ति को निष्कलङ्क चरित्रवान् कहा जा सकता है। निष्कलङ्क चरित्र का निर्माण करने के लिए निम्नाङ्कित गुण उपार्जित किये जाने चाहिए : नम्रता, अहिंसा, क्षमाशीलता, गुरु-सेवा, शुचिता, सत्यशीलता, आत्म-संयम, विषयों के प्रति अनासक्ति, निरहङ्कारिता; जन्म, मृत्यु, जरा, दुःख तथा रोग के प्रति अन्तर्दृष्टि, निर्भयता, स्वच्छता, दानशीलता, स्वाध्याय, तपस्या, आर्जव, त्यागपरायणता, शान्ति, जीव-दया, अलोलुपता, सौजन्य, सरल जीवन से प्रेम, वीर्य, शौर्य और ईर्ष्या, अभिमान, कुटिलता तथा क्रोध का अभाव।

कार्य करने पर एक प्रकार की आदत का भाव उदय होता है। आदत का बीज बो देने से चरित्र का उदय होता है। चरित्र का बीज बो देने से भाग्य का उदय होता है। चित्त में विचार, अनुभव और कर्म—इनके संस्कार मुद्रित हो जाते हैं। जो-कुछ भी व्यक्ति सोचता तथा करता है, वे सब वहाँ अमिट रूप से मुद्रित हो जाते हैं। व्यक्ति के मर जाने पर भी ये संस्कार जीवित रहते हैं। इनके ही कारण मनुष्य इस संसार में बार-बार जन्म लेता है।

दुश्चरित्र व्यक्ति सदा के लिए दुश्चरित्र हो गया हो, यह उचित तर्क नहीं है। वेश्या सदा के लिए वेश्या हो गयी हो, यह भी सत्य उक्ति नहीं है। इन दोनों को सन्तों के

सम्पर्क में रहने का अवसर तथा सुविधा दें, इनके जीवन में परिवर्तन खिल उठेगा, इनमें दिव्य गुण जाग उठेंगे। डाकू रत्नाकर ही वाल्मीकि बने, जगायी और मधाई, जिन्होंने नित्यानन्द जी पर पत्थर मारे थे, उनके महान् भक्त बन गये। इन व्यक्तियों के मानसिक रूप, आदर्श और विचारों में आमूल परिवर्तन हो गया था। इनकी आदतें सर्वथा बदल गयी थीं। अपने बुरे चरित्र और विचारों को बदलने की शक्ति प्रत्येक व्यक्ति में सुरक्षित है, वर्तमान है। यदि बुरे विचारों और बुरी भावनाओं का स्थान अच्छे विचारों और आदर्शों को दिया जाये तो मनुष्य सद्गुण के मार्ग में प्रगति करेगा। असत्यभाषी सत्यभाषी बन सकता है। दुश्चरित्र सच्चरित्र ही क्या सन्त भी बन सकता है।

व्यक्ति की आदतों, गुणों और आचार (चरित्र) को प्रतिपक्ष भावना (विरोधी गुणों की भावना) की विधि से बदला जा सकता है। निरन्तर अभ्यास से अवश्य ही सफलता होती है। इसमें समय लगता है। साहस और सत्य की भावना करें। साहसी और सत्यवादी बन जायेंगे। भय तथा असत्यवादिता स्वतः ही धीरे-धीरे दूर हो जायेगी। ब्रह्मचर्य और सन्तोष का विचार करें तो काम-वासना और लोभ का पराभव हो जायेगा। यह वैज्ञानिक विधि है। प्रायः कुछ लोगों का विचार है (क्योंकि उन्हें चित्त तथा योग की विधियों से अपमी आदतों और चरित्र को सुधारना नहीं आता) कि उनकी वह पुरानी आदत आजीवन वैसे ही रहेगी। यह विचार गलत है। चरित्र के लिए तो व्यक्ति के विचार, आदर्श तथा मानसिक प्रेरणाएँ ही उत्तरदायी हैं। यदि विचारों, आदतों और मानसिक प्रेरणाओं को बदल दिया जाये तो चरित्र भी बदला जा सकता है। इस कथन में दृढ़ विश्वास तथा श्रद्धा रखें।

यहाँ एक अभ्यास दिया जा रहा है। मान लिया कि आप साहस का विकास करना चाहते हैं। मैंने आपको बतलाया कि चित्त आपका आज्ञाकारी कर्मचारी है और आपको उससे काम निकालने की विधि जाननी चाहिए। यह आपमें नये चरित्र, नवीन आदर्श, नूतन मानसिक प्रेरणाएँ और नवीन आदतें भर देगा। अब आपमें एक तीव्र इच्छा होनी चाहिए कि साहस का विकास करना है, इस गुण का उपार्जन करना है। साहस का विकास तभी सम्भव होगा जब आपमें तीव्र इच्छा होगी। कहा जाता है कि जब माँग प्रस्तुत की जाती है तभी माँग को पूरा करने का अवसर भी आता है। यह नियम है। यदि आपमें इस गुण के विकास की इच्छा नहीं है तो इच्छा उत्पन्न करने का प्रयास करें। यह इच्छा साहस के उपार्जन से प्राप्त होने वाले अपरिमित लाभों का बारम्बार चिन्तन करके तथा साथ-ही-साथ भय के दुर्गुण की हानियों की कल्पना करके उत्पन्न की जा सकती है। तीव्र इच्छा जाग्रत हो जाने पर सङ्कल्प भी सहायक होता है। जिस प्रकार कुत्ता अपने स्वामी का अनुसरण करता है, सङ्कल्प भी उसी प्रकार इच्छा का

अनुसरण किया करता है। अनुभव करें, जैसे आपने साहस का उपार्जन कर ही लिया है। मन-ही-मन **"ॐ साहस"** शब्द को अनेक बार दोहरायें। अनुभव करें कि यह गुण वास्तव में आपके पास है। कल्पना करें कि आपको इस सद्‌गुण की प्राप्ति हो गयी है और इसे आप अपने दैनिक व्यवहार तथा दुःखद परिस्थितियों में अमुक-अमुक रीतियों से व्यवहृत करने जा रहे हैं। इस सद्‌गुण का मानसिक चित्र अपने मन में स्पष्ट उतार लें। धीरे-धीरे यह सद्‌गुण विकसित होता जायेगा। शान्ति से विकास की प्रतीक्षा करते रहें। यदि कुछ दिनों के अभ्यास से सफलता न मिले तो हताश नहीं होना चाहिए। कायरता तथा भय के पुराने गलत संस्कारों का समुदाय वहाँ है। अन्त में साहस का नया संस्कार विजयी होगा। सत् सदा असत् पर विजय प्राप्त करता है। यह प्रकृति का नियम है। अपने मन में दृढ़ निश्चय कर लें कि आपको शीघ्र ही साहस की प्राप्ति हो जायेगी। इस ओर अपना पूरा-पूरा ध्यान दें। कुछ ही काल में आपको अवश्य सफलता मिलेगी। इसी प्रकार आप अन्य गुण या चरित्र-विशेष का निर्माण कर सकते हैं।

चरित्र-निर्माण का अर्थ होता है आदतों का निर्माण। चरित्र को बदलने से आदत भी बदल जाती है। सङ्कल्प, रुचि, ध्यान तथा श्रद्धा के द्वारा स्वभाव में किसी भी क्षण परिवर्तन किया जा सकता है। नवीन, स्वस्थ, बलशाली और सद्धर्मपूर्ण आदतें पुरानी, अस्वस्थ, निर्बल और अधर्मपूर्ण आदतों को स्थानान्तरित कर देती हैं। योगाभ्यास का यही लक्ष्य है कि मनुष्य अपनी पुरानी क्षुद्र आदतों को त्याग कर नवीन सुन्दर आदतों को ग्रहण कर ले। त्याग की भावना से किये गये कर्मयोग, भक्ति, प्रार्थना तथा विचार से सांसारिक प्रकृति की आदतों को धार्मिक आदतों में रूपान्तरित किया जा सकता है। मैत्री, करुणा आदि गुणों का विकास तथा गीता के सतरहवें अध्याय में बतलाये गये तीन प्रकार के तपों का अभ्यास चरित्र के निर्माण का मार्ग सुप्रशस्त करता है।

चरित्र-निर्माण की एक अन्य प्रभावकारी विधि है। सन्तों और महात्माओं के सम्पर्क में रहें। उनकी प्रबल आध्यात्मिक विचार-धारा आपके जीवन में अद्‌भुत परिवर्तन लायेगी। कभी यह शिकायत न करें कि आजकल अच्छे महात्मा कहीं देखने को मिलते नहीं। यह आपकी भूल है। मेरी बात श्रद्धा और रुचि से सुनें। मैं आपको सहस्रों अच्छे महात्माओं के दर्शन करा सकता हूँ। अपनी धृष्टता तथा दुराग्रह को छोड़ें। पहले नम्र और सत्यपरायण बन जायें। अपने चरित्र का समुचित निर्माण करें। इससे ही जीवन में सफलता मिल सकती है। सन्तत्व का विभूषण है सच्चरित्र। पुरानी बुरी आदतों को हटाने का प्रयत्न करते रहें। धार्मिक स्वस्थ आदतों को प्रतिष्ठापित करें। चरित्र जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होगा। चरित्र आपकी सत्ता ही है।

४. दुर्व्यसनों का नियन्त्रण

यह कलियुग है। यह वैज्ञानिक अनुसन्धानों तथा आविष्कारों का युग है। यह नवीन फैशन तथा बनावट का युग है। यही आधुनिक सभ्यता है। यह वायुयान, चलचित्र तथा रेडियो का युग है। धर्म जीर्ण हो गया है। लोग कामचारी तथा स्वच्छन्द हो चले हैं। उन पर कोई नियन्त्रण नहीं रह गया है। प्रत्येक व्यक्ति गुरु है। वह अपने लिए किसी धार्मिक उपदेश की आवश्यकता अनुभव नहीं करता। प्रत्येक व्यक्ति पर काम-वासना का आधिपत्य है। विवेक तथा विचार पलायन कर गये हैं। भोजन, पान तथा प्रजनन ही जीवन का लक्ष्य बन गया है। मोक्ष आकाशकुसुम अथवा दिवास्वप्न बन गया है। सभी में अनेक प्रकार के दुर्व्यसन छा गये हैं।

एक मित्र दूसरे मित्र को 'जय श्री कृष्ण' अथवा 'जय राम जी' आदि ईश्वर के नाम के द्वारा अभिनन्दन न कर सिगरेट अथवा ब्राण्डी प्रस्तुत करके कहता है। वह कहता है : "मिस्टर नायडू! सिगरेट पीजिए। जिन (शराब) पीजिए।" मादक पेय ऐसा पिशाच है कि यदि एक बार मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर गया तो फिर वह उसे कभी नहीं छोड़ता। वह पक्का शराबी बन जाता है। बड़े घरों की हिन्दू महिलाएँ भी शराब पीने तथा धूमपान करने लग गयी हैं। प्रारम्भ में वे अपनी काम-वासना को उत्तेजित करने के लिए इनका व्यवहार अल्प मात्रा में करती हैं; परन्तु बाद में अभ्यस्त बन जाती हैं। मद्यसार सङ्घातक विष है जो मस्तिष्क तथा स्नायु के कोशाणुओं को नष्ट कर डालता है। शीघ्र ही इससे बहुत से स्नायविक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। शराबी को ठीक मार्ग पर लाना बहुत ही कठिन होता है। आदत बद्धमूल हो जाती है। कोई भी सम्मोहक सुझाव लाभकर नहीं होता। शराबी समाज के लिए आतङ्क तथा विनाश का कारण है। मद्यनिषेध संस्था देश के लिए अधिक लाभदायी नहीं रही है। प्रारम्भ में ही मनुष्य को बहुत सावधान रहना चाहिए। उसको शराबियों के कुसङ्ग से बचना चाहिए।

दूसरा दुर्व्यसन है धूमपान। धूमपान करने वाले थोड़ा दर्शन की बातें करते तथा अपने दुर्व्यसन के समर्थन में डाक्टरों के विचार प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं : "धूमपान करने से कोष्ठबद्धता नहीं रहती। खुल कर शौच आता है। यह बहुत ही आह्लादक है। यह फुप्फुसों, मस्तिष्क तथा हृदय के लिए उपयोगी है। धूमपान कर लेने के बाद ध्यान के लिए बैठने पर ध्यान गहरा लगता है।"

यह बड़ा अच्छा दर्शन है। वे अपने दुर्व्यसन के समर्थन में विचक्षण तर्क प्रस्तुत करते हैं। वे अपनी चिरकालिक आदत को नहीं छोड़ सकते। वे ऐसे भयङ्कर धूमपान करने वाले हैं कि कुछ ही मिनट में सिगरेट के पूरे टिन को ही समाप्त कर डालते हैं।

यह दुर्व्यसन बाल्यावस्था से आरम्भ होता है। छोटे बालक को धूमपान करने का कुतूहल होता है। वह अपने चाचा की जेब से धीरे से एक सिगरेट चुरा कर पहली फूँक लगाता है। इससे उसके स्नायुओं को थोड़ी उत्तेजना मिलती है तथा वह नित्य-प्रति चोरी करता रहता है। कुछ दिनों के बाद थोड़ी सिगरेटों से अपना निर्वाह नहीं कर पाता। वह स्वतन्त्र रूप से धूमपान करने के लिए सिगरेट का एक बड़ा टिन खरीदने हेतु रुपया चुराने लग जाता है। उसके पिता तथा भाई सब धूमपान करने वाले हैं। वे ही इन छोटे बालकों को धूमपान की कला सिखाने वाले गुरु हैं। कितना घृणित कार्य है! क्या ही वीभत्स! ये माता-पिता ही अपनी सन्तान के दुराचरण के लिए पूर्णतया उत्तरदायी हैं। किसी भी मादक द्रव्य के सेवन से शीघ्र ही आदत पड़ जाती है और फिर उस आदत को त्यागना दुष्कर हो जाता है। वह धूमपान का दास बन जाता है। माया आदतों के द्वारा उपद्रव मचाती है। यही उसकी क्रियाविधि का रहस्य है। धूमपान से रञ्चमात्र भी लाभ नहीं होता। इस मिथ्या तथा मूर्खतापूर्ण कल्पना को त्याग दीजिए। धूमपान से हृदय चिड़चिड़ा होता है, नेत्रों में कई प्रकार की व्याधियाँ होती हैं तथा शरीर में विष का प्रसार होता है। अनेक प्रकार के स्नायविक रोग तथा नपुंसकता आती है।

अब पान खाने के दुर्व्यसन की बारी आती है। इस दुर्व्यसन के शौकीन भी धूमपान करने वालों की भाँति ही दार्शनिक बातें करते हैं। वे कहते हैं: "पान उदर को उद्दीप्त करता है। यह भोजन को पचाता तथा क्षुधा को बढ़ाता है।" उनके सुन्दर लाल दाँतों को तथा मुख में पान रख कर उनके बोलने के ढङ्ग को देखिए। उनकी जिह्वा मोटी हो जाती है। वे शब्दों का स्पष्ट उच्चारण नहीं कर पाते। थूकने के लिए उनके पास एक पीकदान भी चाहिए। यह बड़ी बुरी आदत है। वे अपने निकट के स्थान को सदा गन्दा किया करते हैं। व्यर्थ ही धन का अपव्यय होता है। इस धन का उपयोग उपनिषद् तथा अन्य दार्शनिक ग्रन्थों के खरीदने में किया जा सकता था। लोग पान के दास बन जाते हैं। वे बिना पान खाये कुछ मिनट भी नहीं रह सकते। वे पान के साथ-साथ तम्बाकू भी खाते हैं। यह अन्य दुर्व्यसन है। कुछ बङ्गाली लोग पान के साथ कोकीन भी खाते हैं। यह और भी बुरी आदत है। इस आदत को छोड़ना बड़ा ही कठिन है।

कुछ लोग घ्राणेन्द्रिय के स्नायुओं को उत्तेजित करने के लिए सुगन्धित नस्य (नसवार) का उपयोग करते हैं। यह भी बहुत बुरी आदत है। उन्हें अपनी जेब में बदबूदार शौचघर रखना पड़ता है। उनका सारा शरीर तथा वस्त्र घृणित दुर्गन्ध से पूर्ण रहते हैं। आप उनके निकट नहीं जा सकते। नस्य समाप्त होने पर वे अपना आत्म-सम्मान खो बैठते हैं तथा चुटकी-भर नस्य के लिए गली में किसी के सामने हाथ फैलाते फिरते हैं। उनकी बुद्धि मन्द हो जाती है। वे नस्य के बिना काम नहीं कर सकते। इस दुर्व्यसन से मनुष्य कितना दुर्बल बन जाता है। उनकी अवस्था दयनीय होती है।

गाँजा, अफीम तथा चरस अन्य द्रव्य हैं। लोग अपने उत्साह को बनाये रखने तथा मैथुन से पूर्व उत्तेजना के लिए भी अफीम का सेवन करते हैं। कुछ साधु लोग तो गाँजे का व्यवहार प्रचुर मात्रा में करते हैं। उनका कहना है कि गाँजे से मन एकाग्र हो जाता है। यह कोरी मूर्खता है। जो मनुष्य नशे में है, वह मन की गतिविधि को नहीं देख सकता। यह एकाग्रता नहीं है। उन्हें इससे मद्यसार कि भाँति ही कुछ नशे का आनन्द मिल जाता है। यह निकृष्ट प्रकार का दुर्व्यसन है। इन मादक द्रव्यों से शरीर विषाक्त हो जाता है तथा व्यक्ति आध्यात्मिक साधना के अयोग्य हो जाता है। वे इन मादक द्रव्यों के दास बन चुके हैं। उन्होंने दुर्व्यसनों का विकास किया है। वे अपना धन अनुचित मार्गों में व्यय करते हैं।

जो लोग दिन में बार-बार अत्यधिक मात्रा में कड़ी चाय तथा काफी पीते हैं, उनमें भी बुरी आदत विकसित हो जाती है। वे चाय तथा काफी के दास बन जाते हैं। संयत मात्रा में इनका प्रयोग कठोर श्रम करने वालों के लिए सहायक होता है; परन्तु मनुष्य अपनी सङ्कल्प-शक्ति को खो बैठता है और असंयमित होने से अपने को रोक पाना उसके लिए कठिन हो जाता है। यहीं मुसीबत उठ खड़ी होती है। वह दास बन जाता है। यदि आप स्वामी बने रह सकते हैं और आप किसी भी समय उसका परित्याग कर सकते हैं तो फिर कोई हानि नहीं।

उपन्यास पढ़ना अन्य बुरी आदत है। जिनमें काम-वासना तथा प्रेम-सम्बन्धी उपन्यास पढ़ने की आदत पड़ जाती है वे अपने हाथ में उपन्यास लिये बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते। वे अपनी स्नायुओं को सदा कामुक संवेदनाओं से उत्तेजित करते रहना चाहते हैं। उपन्यास के पठन से मन निम्न कामुक विचारों से भर जाता है तथा यह काम-वासना उत्तेजित करता है। यह शान्ति का कट्टर शत्रु है। कई लोगों ने २५ पैसे प्रति माह के अल्प शुल्क पर उपन्यासों के वितरण के लिए पुस्तकालय खोल रखे हैं। वे नहीं जानते कि वे देश का कितना अहित कर रहे हैं। अच्छा हो कि वे अपनी जीविका के लिए कोई अन्य व्यवसाय चुनें। वे काम-वासना को उत्तेजित करने वाले अश्लील उपन्यासों के वितरण द्वारा युवकों के मन को भ्रष्ट बनाते हैं। सारा वातावरण कलुषित हो जाता है। इन लोगों को किसी-न-किसी रूप में कठोर दण्ड मिलने वाला है।

समाचार-पत्र का पढ़ना भी दुर्व्यसन है। कुछ लोग भोजन करते समय भी समाचार-पत्र का त्याग नहीं कर सकते। वे सदा सनसनीदार समाचार पढ़ना चाहते

हैं। वे यदि समाचार-पत्र नहीं पढ़ते तो उन पर मूढ़ता छा जाती हैं। समाचार-पत्र पढ़े बिना उन्हें नींद नहीं आती। वे ध्यान तथा एकान्त के जीवन यापन के लिए अयोग्य होते हैं। यदि उन्हें तीन दिन के लिए एकान्त में रख दिया जाये तो वे जल-विहीन मछली की तरह अशान्त हो जाते हैं। समाचार-पत्रों के अध्ययन से मन सदा बहिर्मुखी बना रहता है। सांसारिक संस्कारों का पुनर्जागरण होता है तथा मनुष्य ईश्वर को भूल जाता है।

सिनेमा मनुष्य में दुर्व्यसन उत्पन्न करता है। वह सिनेमा देखे बिना एक दिन भी नहीं रह सकता। उसके नेत्र कुछ अर्धनग्न चित्रों, लास्य नृत्यों तथा कुछ रङ्ग-विरङ्ग देखना चाहते हैं। वह मधुर सङ्गीत से प्रसन्न होता है। युवक तथा युवतियाँ चलचित्र में अभिनेताओं और अभिनेत्रियों को परस्पर चुम्बन तथा आलिङ्गन करते देख कर कामुक बन जाते हैं। जो लोग आध्यात्मिक मार्ग में उन्नति करना चाहते हैं, उन्हें सिनेमा से सर्वथा दूर रहना चाहिए, उन्हें तथाकथित धार्मिक चलचित्रों को भी नहीं देखना चाहिए। वे वास्तव में धार्मिक चित्र नहीं हैं। यह लोगों को आकर्षित करने तथा धन-संग्रह करने की एक प्रकार की चाल है। इन अभिनेताओं में आध्यात्मिक चरित्र-बल कहाँ है? आध्यात्मिक व्यक्ति ही सुन्दर चरित्रशील कथानकों का अभिनय करके दर्शकों के मन को पुलकित कर सकते हैं।

दिन में सोना दूसरी बुरी आदत है। इससे मनुष्य अल्पायु होता है। पर्याप्त समय व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है। इससे आलस्य तथा अकर्मण्यता आती है तथा जठर-शोथ, अपच तथा अन्य अनेक रोग होते हैं। यदि आप शीघ्र उन्नति करना चाहते हैं तो इसको पूर्णतः त्याग दीजिए। प्रत्येक क्षण को पकड़ लें और इसका सदुपयोग करें। जीवन गतिमान है, समय अल्प है, मृत्यु प्रतीक्षा कर रही है। वह मनुष्य कितना सुखी है, जिसमें एक भी बुरी आदत नहीं है। वह जीवन में महान् सफलता प्राप्त कर सकता है तथा अध्यवसायपूर्वक योग-साधना कर सकता है।

अधिकांश लोगों में बात-बात में अश्लील तथा असामाजिक शब्दों का प्रयोग करने की बुरी आदत होती है। जब वे क्रोधित तथा उत्तेजित हो उठते हैं तो वे सभी प्रकार के गन्दे शब्दों की बौछार करने लग जाते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं जो प्रतिक्षण 'साला' शब्द का प्रयोग करते हैं। यह उनके मुख से ऐसे सहज भाव से निकलता है जैसे कुछ लोगों का तकिया कलाम होता है 'आपने देखा'। हिन्दी में 'साला' शब्द का अर्थ होता है 'पत्नी का भाई'। यदि आप किसी को साला कह कर बुलायें तो वह आगबबूला हो उठता है। लोगों की आदतें बुरी हो चली हैं। वे अश्लील शब्दों का प्रयोग करते हैं। शिष्ट, सभ्य तथा सुसंस्कृत लोग कभी भी इस प्रकार के शब्द नहीं बोलेंगे। अँगरेज लोग 'डैम फूल', 'सिली' आदि शब्दों का प्रयोग प्रायः करते हैं।

अँगरेज सैनिक प्रतिक्षण 'डैम' शब्द का प्रयोग करते हैं। वे 'डैम' शब्द के प्रयोग के बिना एक वाक्य भी नहीं बोल पाते हैं। यह भी बड़ी बुरी आदत है। गली में बच्चों को देखिए। वे परस्पर झगड़ते, लड़ते तथा अभद्र शब्दों का प्रयोग करते हैं। जब कोई अँगरेज भारत अथवा किसी अन्य नये देश में जाता है तो वह प्रथम स्थानीय अश्लील शब्दों को सीखने का प्रयास करता है। मानवीय प्रकृति को देखिए! वह ईश्वर के नाम सीखना नहीं चाहता। जब बैलगाड़ी वाला बैलों की पूँछ मरोड़ता है, ताँगे वाला घोड़े को कोड़े लगाता है तो मुख से शब्द निकलते हैं: 'साला, बदमाश, सूअर का बच्चा।'

जब बच्चे अपशब्द बोलें तो माता-पिता को तुरन्त उनको रोकना चाहिए। उन्हें स्वयं भी अपशब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए। वे स्वयं ही इन बच्चों के गुरु बन जाते हैं। बच्चे केवल अनुकरण करते हैं। उनमें अनुकरण करने की बड़ी शक्ति होती है। 'हरे राम, हरे कृष्ण, हे प्रभु' के प्रयोग का अभ्यास सामान्य बातचीत के समय करना चाहिए। हर क्षण इन शब्दों का व्यवहार कीजिए। अपने बच्चों को भी ऐसा ही प्रशिक्षित कीजिए। यह एक प्रकार का जप अथवा भगवद्स्मरण है। अपने मन को प्रशिक्षित कीजिए। जिन लोगों में अशिष्ट शब्दों के प्रयोग की बुरी आदत है, उन्हें भी रोकिए। यह माता-पिता का बहुत ही महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है। बच्चों के मन में जो भी स्वस्थ आदत डाल दी जाती है, वह मूलबद्ध हो जाती है।

कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन्हें अपनी बुरी आदत का भान नहीं होता और अनेक व्यक्ति तो ऐसे हैं जो उन्हें बुरा मानते ही नहीं। यदि वे यह मान जायें कि यह बुरी आदत है तो सुधार करना कुछ कठिन नहीं है। एक वकील पन्दरह वर्षों से भयङ्कर धूमपान करता आ रहा था। प्रबल सङ्कल्प-बल से उसने एक ही बार में उसे पूर्णतः त्याग दिया। मद्रास में एक पुलिस इन्सपेक्टर थे। उनमें मद्यपान तथा धूमपान करने की बुरी आदत थी। दृढ़ निश्चय के द्वारा उन्होंने अपनी आदत छोड़ दी। उन्होंने उस दिन से उनका स्पर्श तक नहीं किया। प्रथम यह अनुभव करना चाहिए कि आपमें यह बुरी आदत है और फिर यह प्रबल इच्छा जाग्रत कीजिए कि चाहे कुछ भी हो मैं इसे अवश्य त्याग दूँगा। आपको सफलता मिल चुकी है। दृढ़ इच्छा कीजिए: "मैं इसी क्षण से इस बुरी आदत का परित्याग कर दूँगा।" आप निश्चय ही सफल होंगे। किसी भी बुरी आदत को एक ही बार में त्याग देना अच्छा है। धीरे-धीरे छोड़ने का विचार कभी भी सफल नहीं होता। पुनरावृत्ति से सतर्क रहें। यदि प्रलोभन पुनः घेरने लगे तो दृढ़प्रतिज्ञ हो कर उनकी ओर से अपना मुँह मोड़ लें। अपने मन को अपने कार्य में पूर्णतः संलग्न रखें। व्यस्त रहें। प्रबल महत्त्वाकांक्षा रखें: "मैं अभी से निश्चय ही एक महापुरुष बन जाऊँगा।" ये सारी आदतें भाग खड़ी होंगी। दृढ़ता से अनुभव करें:

"मुझे आध्यात्मिक व्यक्ति अवश्यमेव बनना है।" ये सभी बुरी आदतें अदृश्य हो जायेंगी।

अपनी आदतों को दूर करने के लिए अपने अवचेतन मन से काम लें। यह आपका घनिष्ठ मित्र तथा अन्तरङ्ग सखा है। उसकी सङ्गति में रहिए। वह सब-कुछ ठीक कर देगा। नयी स्वस्थ आदतें डालिए। अपनी सङ्कल्प-शक्ति का भी विकास कीजिए। कुसङ्ग त्याग दीजिए। सदा सत्सङ्ग कीजिए। महात्माओं के बीच रहिए। उनकी प्रबल विचारधाराएँ आपकी आदतों में आमूलचूल सुधार करेंगी। यहाँ कुछ भी असम्भव नहीं है।

जहाँ चाह है वहाँ राह है। मुझे उन लोगों से अनेक पत्र प्राप्त होते रहते हैं जिन्होंने मांस, मछली, मद्य, धूमपान आदि की बुरी आदतें छोड़ दी हैं। प्रारम्भ में कुछ कठिनाई अनुभव होती है; किन्तु जब वे सफल हो जाते हैं तब वे उसके प्रचुर लाभ तथा सुख का अनुभव करते हैं।

५. दुर्गुणों का निराकरण करें

सङ्कोच-रूप दुर्बलता को यदि जीवन की सफलता का रोड़ा कहा जाये तो अनुचित न होगा सङ्कोच या लज्जा और कुछ नहीं; केवल कायरता या भय का साधारण रूप है। छोटी आयु के सभी बालकों में यह दुर्बलता पायी जाती है। लज्जा स्त्रीत्व-प्रधान गुण है। यह स्त्रियों का स्वभाव है। लज्जा व्यक्ति में तभी प्रकट होती है जब वह कुछ गलत काम कर बैठा अथवा गलत मार्ग पर चल रहा हो। प्रत्येक व्यक्ति को मालूम है कि जीवन का लक्ष्य बहुत ऊँचा है, वह भगवत्साक्षात्कार प्राप्त करना है, तथापि वह यौन-सुख की पूर्ति के कार्य में संलग्न होता है। इस गलत कार्य के कारण वह स्वभावतः किसी अन्य व्यक्ति के सामने लज्जा से गड़ जाता है। वह अपने मन में विचार करते हुए भी, उन विचारों को दूसरों के सामने प्रकट नहीं कर पाता। वह दूसरों के मुँह पर देखने का साहस नहीं कर सकता। वह बातें करता रहता है, पर दृष्टि जमीन पर से ऊपर नहीं उठाता। वह किसी अनजान व्यक्ति से मुक्त-भाव से मिल नहीं पाता। इसका अर्थ यह है कि सङ्कोची व्यक्ति जीवन के किसी भी व्यवसाय में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

सुशीलता का लज्जा से कोई सम्बन्ध नहीं है। सुशीलता शालीनता या शुद्धता का प्रतिरूप है। जब चरित्र स्वच्छ हो जाता है, जब स्वभाव में नैतिकता आ जाती है तो सुशीलता का प्रकटीकरण होता है। पति के मर जाने के बाद जब रानियाँ घर से बाहर निकलती हैं और उनसे कोई व्यक्ति बातें करने आता है तो वह लाज के मारे गड़ जाती हैं; किन्तु निरन्तर सम्पर्क में आने से उनमें साहस का सञ्चार हो जाता है, लज्जा जाती

रहती है। लज्जा का निराकरण साहसपूर्ण व्यवहार से किया जा सकता है। लज्जा एक महान् दुर्बलता है। साहस का अभ्यास कर इसका शीघ्र निराकरण करना चाहिए।

कायरता मनुष्य की एक अन्य दुर्बलता है। दिल मजबूत नहीं होने से कायरता आ दबाती है। इसे भय का ही एक रूप मानना चाहिए। जिस प्रकार लज्जा से मनुष्य दबता है, उसी प्रकार कायरता से भी दबना पड़ता है। अँगरेजी में कायर व्यक्ति के दिल की मुर्गी के दिल से समानता की जाती है। कायर व्यक्ति समाज-सेवा और किसी प्रकार के साहसिक कार्य के लिए अयोग्य सिद्ध होता है। वह कूप-मण्डूक होता है। अपने जीवन में वह सफल व्यक्ति नहीं बन सकता। अपने से बड़े लोगों से बातें करने का उसमें साहस नहीं रहता। कायर व्यवसायी अपने ग्राहकों के प्रति उचित व्यवहार नहीं कर सकता। फिर वह समृद्ध होने की कैसे आशा कर सकता है! उसे अपने प्राण का भय बना रहता है। कायर व्यक्ति में एक और दुर्बलता होती है; वह है अपने स्त्री, पुत्र और सम्पत्ति के प्रति आसक्ति। समाज की आलोचनाओं से घबड़ाना उसके लिए कोई आश्चर्य नहीं। वह दो शब्द भी अधिकारपूर्वक नहीं बोल सकता। कायर व्यक्ति को यदि 'स्त्री' कह कर सम्बोधित किया जाये तो अनुचित न होगा। कायरता का निवारण साहस का विकास करके किया जा सकता है। कायरता अभिशाप है। यह मनुष्य को निर्बल बनाती है, मनुष्य-जीवन के विकास में रोक डालती है तथा सफलता का मार्ग अवरुद्ध करती है।

निराशावाद अन्य अवाञ्छनीय दुर्गुण है। यह किसी भी वस्तु के सदात्मक पक्ष को भूल कर उसके अन्यतम अवगुणों को देखने की मनःस्थिति है। सारा संसार सुखमय न हो कर दुःखमय है, यह निराशावाद के सिद्धान्त का मुख्य रूप है। यह संसार के विषय में निराशाजनक दृष्टिकोण है। बौद्ध लोगों का उपदेश निराशावादी है। यद्यपि वेदान्ती संसार को मिथ्या बतलाते हैं, पर वे अद्भुत आशावादी हैं। वे सांसारिक क्षुद्र भोगों से मनुष्य को हटाने और अमर, आनन्दपूर्ण ब्रह्म में जीवन के प्रति रुचि उत्पन्न करने के लिए ही वैराग्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। निराशावाद का प्रतिपक्षी आशावाद है। आशावादी व्यक्ति प्रत्येक वस्तु के सद् पक्ष को ही पहले देखता है। निराशावादी व्यक्ति सदा उदास, निराश, आलसी तथा अकर्मण्य रहता है। प्रसन्नता का तो उसे पता ही नहीं होता। वह दूसरों को भी संदूषित करता है। निराशावाद एक महामारी है, संक्रामक रोग है। इस संसार में निराशावादी व्यक्ति के हाथ सफलता नहीं आती। एक प्रबल आशावादी बनें तथा सर्वव्यापक आत्मा में आनन्द लें। जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में प्रसन्न रहने का प्रयास करें। इसका अभ्यास करें।

दें।" एकनाथ दक्षिण में रामेश्वर भगवान् के अभिषेक के लिए कन्धे पर काशी से जो गङ्गाजल ले जा रहे थे, उसे मार्ग में एक प्यासे गधे को पिला दिया। जब आब्रह्म कीटपर्यन्त में एक ही आत्मा है तो कौन श्रेष्ठ और कौन हीन? अतः अपने दृष्टिकोण को ही बदल डालें और सुख की नींद सोयें।

एक अन्य दुर्गुण है उदासी। कुछ लोगों के पास प्रचुर धन है; पर वे सदा उदास रहते हैं। वे सदा सूखा तथा चिड़चिड़ा चेहरा बनाये रखते हैं। वे सदा खिन्न बने रहते हैं। यह भयङ्कर महामारी है। उदास व्यक्ति अपने चारों ओर उदासी और विषण्णता के वातावरण का निर्माण करता है। उदासी के कारण उसका मन किसी भी कार्य में निरत नहीं रह सकता। अतः ऐसा व्यक्ति आलसी और काहिल ही रहता है। चित्त के खिन्न होने से शक्ति भी क्षीण हो जाती है। प्रसन्नता के गुण के विषय में चिन्तन करें। प्रसन्नता का मानसिक चित्र अपने सम्मुख रखें। इस मानसिक चित्र के चतुर्दिक् प्रसन्नचित्त रहने का स्वभाव विकसित होगा। मुस्करायें तथा हँसें। मार्ग में जो भी आये उससे मुस्करा कर मिलें। सदा प्रसन्न वदन रहने वाला व्यक्ति दूसरों में भी प्रसन्नता विकीर्ण करता है।

कुछ लोग आवश्यक विषयों में भी कुछ निश्चय नहीं कर पाते। इसका अर्थ यह हुआ कि उनमें स्वतन्त्र निर्णय-शक्ति का अभाव है। व्यर्थ ही किसी कार्य को आगे बढ़ाते चलना उनका स्वभाव हो जाता है; क्योंकि वे किसी निश्चित स्पष्ट निर्णय पर नहीं पहुँच पाते। बहुत सोच-विचार करने पर भी वे सन्दिग्ध ही रहते हैं। ऐसे व्यक्ति अपने अध्यवसाय में कभी भी सफल नहीं होते। दीर्घसूत्रता अनिश्चय का मित्र है। अनिश्चयपरता के कारण व्यक्ति को अनेक स्वर्ण-अवसरों से हाथ धोना पड़ता है। फिर तो 'अब पछताये होत क्या जब चिड़िया चुग गयी खेत' की उक्ति चरितार्थ होती है। जब किसी बात का निश्चय करना हो तो कुछ देर के लिए अच्छी तरह सोच-विचार लें, तभी अपना निश्चय प्रकट करें। फिर उस निश्चय को बदलें नहीं। तत्काल अपने सङ्कल्प-बल का प्रयोग करें और उसे कार्यान्वित करने का प्रयास करें। तभी आप सफल होंगे। सोच-विचार की भी एक सीमा होती है। घण्टों तक सोचते रहने से कोई फल नहीं मिलता। महत्त्वपूर्ण विषयों में अपने बड़ों से परामर्श कर सकते हैं जिन्हें उस विषय का अनुभव हो और जो आपके सच्चे शुभचिन्तक हों।

असावधानी तथा विस्मृति दो प्रकार की चारित्रिक दुर्बलताएँ हैं जो मनुष्य की सफलता में बाधक होती हैं। असावधान व्यक्ति कोई भी कार्य विधिवत् नहीं कर सकता है। ये दुर्बलताएँ तामसिक गुण से उत्पन्न हुई हैं। असावधान व्यक्ति को अध्यवसाय तथा लगिष्णुता का पता ही नहीं होता। लापरवाह तथा भूलने वाले व्यक्ति से उसके उच्च अधिकारी अप्रसन्न रहते हैं। असावधान तथा भूलने वाले व्यक्ति में अवधान का अभाव होता है। ऐसा व्यक्ति सदा चाबियाँ, जूते और छाता खोता रहता है। वह समय पर अधिकारियों के कार्यालय के रेकार्ड-विशेष के कागज प्रस्तुत नहीं कर सकता है। परवर्ती पृष्ठों में बताये गये स्मृति-विकास के पाठों का अनुसरण करें। इससे शीघ्र स्मरण-शक्ति अच्छी होगी। स्मृति के विकास के साथ-साथ एक तीव्र इच्छा होनी चाहिए कि इन दुर्बलताओं का निराकरण किया जाये। जब तक इनके निराकरण की तीव्र इच्छा न होगी तब तक आप कृतकार्य नहीं हो सकते। तब सङ्कल्पशक्ति तथा अवचेतन मन आपके लिए कार्य करेंगे। जो लोग बहुधा भूल जाया करते हैं उन्हें सदा ताला लगाने के पश्चात् चाबी अपने वस्त्र के छोर में बाँध लेनी चाहिए, रुपये-पैसे अन्दर की जेब में रखने चाहिए तथा आँख की ऐनक बगल की जेब में सँभाल कर रखनी चाहिए। यात्रा में जाने पर सन्दूकों को सदा गिनना चाहिए। नियमित लेखा रखना चाहिए। जिन कार्यों को आपको करना है, उन्हें प्रतिदिन लिख लें।

बहुत से लोग आत्मसंशयी होते हैं। उनमें आत्मविश्वास नहीं होता। जिन लोगों को अपने पर विश्वास नहीं होता, वे शक्ति, योग्यता तथा अन्य गुणों से सम्पन्न रहते हुए भी संशयात्मा रहते हैं। अपनी योग्यताओं और शक्तियों पर उन्हें पूरा विश्वास नहीं होता कि सफलता मिल भी सकेगी या नहीं। यह ऐसा दुर्गुण है जो सभी प्रयासों में असफलता का कारण बनता है। बहुत लोगों में भाषण की शक्ति तथा योग्यता रहती है, उनकी भाषा और उनके भाव दोनों ही परिमार्जित रहते हैं; किन्तु उन्हें यह विश्वास नहीं होता कि वे व्याख्यान दे सकेंगे या नहीं। उनका यही विचार होता है कि वे व्याख्यान नहीं दे सकेंगे। जब उनके मन में इस प्रकार का असत् विचार आता है तो वे आत्मसंशयी हो जाते हैं। अपनी योग्यताओं और शक्ति को न जान कर, उनका उपयोग नहीं कर सकना अथवा उपयोग करने की क्षमता का अपने में अभाव समझना आत्मसंशय है। इस बात पर पूर्ण विश्वास होना कि अमुक कार्य हम अच्छी तरह कर सकेंगे—आत्मविश्वास है। विफलता का कारण योग्यता के अभाव में नहीं, आत्मविश्वास के न होने से है। ऐसे लोग हैं जो कम योग्य होते हैं, उनके पास जोरदार मसाला भी नहीं होता; पर लोग उनसे प्रभावित हो जाते हैं। उनमें आत्मविश्वास होता है। आत्मविश्वास में महान् शक्ति है। आत्मविश्वास से इच्छाशक्ति का विकास होता है। सदा सोचें : "मैं अवश्य सफल होऊँगा। मुझे अपनी सफलता में पूर्ण विश्वास है।" विपरीत और असत्, शङ्कायुक्त और अविश्वासपूर्ण विचारों को अपने मन के अन्दर स्थान न दें। आपको अपनी वास्तविक योग्यता का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। आत्मविश्वासी व्यक्ति सदा सफल होता है।

६. शक्ति को सुरक्षित रखें

प्रत्येक मनुष्य के अन्दर शक्ति है, उसकी सुरक्षा की जानी चाहिए। शक्ति की सुरक्षा की आवश्यकता कालेज के विद्यार्थियों, अध्यापकों, डाक्टरों, वकीलों, इञ्जीनियरों, व्यवसायियों तथा सबके लिए समान रूप से अनिवार्य है। लोगों को तो यह भी नहीं मालूम कि इस शक्ति की सुरक्षा कैसे की जाये और कैसे आवश्यकतानुसार उसका सदुपयोग किया जाये। शक्ति के स्वरूप में आवश्यकतानुसार परिवर्तन या रूपान्तरण किया जा सकता है, पर अधिकांश लोगों को इस कला का व्यावहारिक ज्ञान नहीं है और इसी कारण से वे लोग संसार में प्रखर विद्वान् तथा प्रतिभाशाली नहीं हो पाते। जो इस संसार में सबसे जल्दी आगे बढ़ जाना चाहते हैं, सबसे ऊँचा उठ जाना चाहते हैं, ऐसा कार्य कर जाना चाहते हैं जो अपूर्व तथा महान् हो, कुछ ऐसी वस्तु की प्राप्ति करना चाहते हैं जो महान् तथा श्लाघनीय हो, उनके लिए शक्ति की सुरक्षा सहायता पहुँचाती है। उन्हें शक्ति के बहिर्गमन के मार्गों तथा उसे उपयोगी कार्यों अथवा आध्यात्मिक सद्व्यवहारों, ध्यान के अभ्यास तथा आत्मान्वेषण के लिए ओज में परिणत करने की विधियाँ जाननी चाहिए। किसान को देखिए, बूँद-बूँद पानी को बन्द कर पुलियों से खेत तथा उद्यान को सींचने के लिए ले जाता है। इञ्जीनियर जलप्रपात की शक्ति विविध कार्यों में लगाता है और उसे विद्युत्शक्ति में रूपान्तरित करता है। जब भौतिक शक्ति की सुरक्षा करने से बड़े-से-बड़े निर्माणात्मक कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं तो मनुष्य में प्रसुप्त अथवा निष्क्रिय पड़ी आध्यात्मिक तथा मानस-शक्ति का प्रभाव कितना व्यापक होता होगा।

भले ही व्यक्ति के पास प्रचुर सम्पत्ति हो, पर वह महान् व्यक्ति नहीं है; जिसे शास्त्रों का पूर्ण अगाध ज्ञान हो; जिसमें दया, प्रेम, करुणा, उदारता, क्षमा, आत्मसंयम, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि सद्गुण हों; वही सच्चा महान् व्यक्ति कहा जा सकता है। यदि एक व्यक्ति निर्धन हो, लोग उसकी परवाह नहीं करते हों, समाज में उसका कुछ भी महत्त्व न हो तथा वह अप्रसिद्ध हो कर किसी कोने में रह रहा हो, उसके पास खाने के लिए सूखी रोटी न हो और पहनने के लिए चिथड़े ही हों, पर इनसे उसकी महत्ता में कमी नहीं आती। इन सब कमियों के होते हुए भी वह संसार का परम महान् व्यक्ति हो सकता है, सबका प्यारा हो सकता है।

योगी और ज्ञानीजनों की यह विशेषता है कि वे शक्ति के अल्पांश को भी निरर्थक कार्यों में व्यय नहीं करते हैं वे अपनी सम्पूर्ण सुरक्षित शक्तियों को, आत्मविचार और आध्यात्मिक कार्य के लिए प्रयुक्त करते हैं। सुप्रसिद्ध हेनरी फोर्ड को इस कला का ज्ञान था; अतः वे संसार के बड़े धनी-मानी व्यक्तियों में हो गये। जगदीशचन्द्र बोस इस शक्ति से भली-भाँति परिचित थे। उन्होंने इस शक्ति का सुरक्षण किया और इसका

उपयोग अपनी वैज्ञानिक प्रयोगशाला में वैज्ञानिक अन्वेषणों और अनुसन्धानों में किया।

साधारणतः बहुत से लोग अपनी शक्ति निम्नांकित मार्गों से नष्ट करते हैं। वे मुख्य हैं। इसके अतिरिक्त और भी अनेक चोर-मार्ग हैं, पर वे छोटे-छोटे हैं। मुख्य मार्गों को बन्द कर लिया जाये तो चोर-मार्गों से शक्ति का बहिर्गमन स्वतः ही बन्द हो जाता है। जिस प्रकार नहर-सिंचाई-विभाग का अधिकर्मी बाँध को नियन्त्रित कर, पानी को सिंचाई के लिए खेतों की ओर भेजता है, ठीक उसी प्रकार योगी भी उन सभी बहिर्द्वारों को बन्द कर देते हैं जिनसे हो कर शारीरिक तथा मानसिक शक्ति बाहर की ओर उन्मुख हो रही थी और उस सुरक्षित शक्ति को ही ओज में परिणत कर देते हैं और इस सुरक्षित शक्ति को आध्यात्मिक कार्यों में लगाते हैं। शक्ति के बहिर्गमन के मार्ग निम्नांकित हैं :

(१) शिश्न-इन्द्रिय, (२) वाक्-इन्द्रिय, तथा (३) मन।

अब यहाँ वे विविध साधन दिये जा रहे हैं जिनसे उपर्युक्त मार्गों में शक्ति का क्षय होता है। सम्पूर्ण शक्ति के संरक्षण के लिए यहाँ कुछ प्रभावकारी उपयोगी सुझाव तथा अभ्यास भी हैं। किसी व्यक्ति के लिए यदि एक विधि उपयुक्त न हो तो वह कोई अन्य विधि अपना सकता है। अधिक मैथुन करने से शक्ति का पूर्ण अपक्षय होता है। यह सबसे बड़ा छिद्र है जिससे हो कर मनुष्य की शक्ति का बड़ा भाग बाहर निकल जाता है। आजकल के नवयुवक वीर्य के महत्त्व को नहीं जान रहे हैं। सहवास अथवा अप्राकृतिक विधियों द्वारा वे इस अमूल्य शक्ति का कितना अपव्यय कर रहे हैं, किसी से छिपा नहीं है। कामवासना के मद में मस्त होने के कारण उनको जो क्षणिक आनन्द मिलता है, उसी को वे जीवन में प्राप्त हो सकने वाला सबसे महान् सुख मानते हैं। यह कितनी बड़ी भूल है ! इस अपराध के लिए प्राणदण्ड देना चाहिए। वे आत्मघाती हैं। एक बार जो शक्ति इस मार्ग से बाहर निकल जाती है, वह किसी भी प्रकार पुनः वापस नहीं लौटायी जा सकती और न उसके अभाव की पूर्ति ही की जा सकती है। यह इस विश्व में सर्वाधिक मूल्यवान् शक्ति है। अतिसङ्गम से दिमाग थकने लगता है, स्नायुशक्ति हार खाने लग जाती है, शरीर-तन्तुओं को पर्याप्त पोषण नहीं मिलता और शुक्रमार्ग में गड़बड़ होने लगती है। लोग मूर्खतावश सोचते हैं कि वे मकरध्वज खाने, दूध पीने तथा बादाम के सेवन से अपनी खोई हुई शक्ति की पुनः प्राप्ति कर लेंगे। गृहस्थ को भी अपने वीर्य की प्रत्येक बूँद के संरक्षण का यथाशक्य प्रयास करना चाहिए। आत्मसाक्षात्कार मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है। परिवार-परम्परा का प्रश्न तो पौराणिक है। श्रुतियों की घोषणा है : "ज्यों-ही वैराग्य का समुदय हो, त्यों-ही सांसारिकता का त्याग कर देना चाहिए।" दक्षिण भारत के महान् योगी श्री

सदाशिवब्रह्मेन्द्र ने वैराग्य उदय होते ही अपनी पत्नी को त्याग दिया। उसके तरुणी होने पर उन्होंने उसे देखा नहीं। उन्हें कुछ भी प्रभावित न कर सका। आज कोई यह नहीं कह सकता कि वे अपने कर्तव्य से विचलित हुए थे। जीवन का परम कर्तव्य आत्मा का साक्षात्कार करना है। जिसने आत्मा का साक्षात्कार कर लिया, वह अपने १०८ पितरों को तार देता है। अपने पूर्वजों के प्रति यदि किसी कर्तव्य का प्रकाशन करना है तो वह है आत्मा का साक्षात्कार। धन-सञ्चय कर, पाँव मल कर अपने पिता की सेवा करना अज्ञानी बालक की चेष्टाएँ हैं। इसका लक्ष्य स्वार्थ में सन्निहित रहता है। हो सकता है कि मेरी बातों को सुन कर एक उद्भट विद्वान् के ज्येष्ठ पुत्र तथा मद्रास उच्च न्यायालय के अधिवक्ता श्री अय्यर उठ कर जोरदार शब्दों तथा आलङ्कारिक और शब्दाडम्बरपूर्ण शैली में मेरा विरोध करने लगें—"इन स्वामी जी को कुछ मालूम नहीं है। इन्होंने न तो मनुस्मृति का अध्ययन किया है और न याज्ञवल्क्य-स्मृति ही देखी है। मेरे पिताजी इस विषय को अच्छी तरह से जानते हैं, वे स्मृति-धुरन्धर हैं। उनके कथनानुसार हम पचहत्तर वर्ष तक गृहस्थ-धर्म का पालन करेंगे और बाद में वानप्रस्थ-धर्म स्वीकार करेंगे तथा मृत्यु-काल में संन्यास लेंगे।" श्री अय्यर जी एक रूढ़िवादी शास्त्री के पुत्र जो ठहरे। इनके पिता ग्रन्थकीट तथा कूपमण्डूक। इनका हृदय बहुत ही सङ्कीर्ण है। इनका परिवार छः पुत्रियों तथा पाँच पुत्रों तक ही सीमित है। ऐसा व्यक्ति भले ही बात-बात में शास्त्रों का उदाहरण और उद्धरण ही क्यों न देता हो, दर्शन-शास्त्र की बातें ही क्यों न छाँटता हो, सदा वासनाओं से भरा रहता है। उसका सारा ज्ञान रसोईघर में ही रहता है। अधिकांश लोग ब्रह्मचर्य-पालन करने में असमर्थ रहते हैं, कामवासना पर विजय नहीं पा सकते, इसीलिए प्राचीनकाल के स्मृतिकारों ने गृहस्थ-आश्रम की व्यवस्था की थी। यदि व्यक्ति के मन में बाल्यकाल से ही वैराग्य की भावना पनप चुकी है, यदि उसका मन अध्यात्मवृत्ति की ओर उन्मुख हो चुका है तो वह कैसे एक क्षण भी गृहस्थ-आश्रम में रह सकता है? वह अवश्य संन्यास धारण कर लेगा और अपना सारा समय वन में श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन में प्रयुक्त करेगा। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य से गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करने के बजाय वह सीधे संन्यास-आश्रम में प्रविष्ट हो जायेगा। गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर अपनी अमूल्य शक्ति क्षय करने की उसे आवश्यकता नहीं होती। जिस व्यक्ति ने वीर्य-पतन के साधनों का निराकरण कर दिया है और वीर्य-शक्ति को ओज के रूप में परिणत कर दिया है, वह सचमुच इस पृथ्वी पर सबसे शक्तिशाली तथा सुखी व्यक्ति है। यदि कहा जाये कि ऐसा व्यक्ति सभी तत्त्वों पर विजय की स्थापना कर सकता है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। प्रकृति उसकी आज्ञा का पालन करने के लिए सदा तत्पर रहती है। दुनिया के तूफानों और बवण्डरों के सामने वह पर्वत के समान अचल

खड़ा रह सकता है। अपने जीवन की प्रत्येक अवस्था में वह सफलता प्राप्त करता है। उसका चित्त एकाग्र रहता है तथा आत्मा पवित्र।

वीर्य-शक्ति की सुरक्षा के लिए इस पुस्तक में 'ब्रह्मचर्य' शीर्षक के अन्तर्गत कई योगिक-विधियों का सुझाव दिया गया है। तथापि मैं यहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण बातें दे रहा हूँ। मन को सदा पूर्ण व्यस्त रखें। ब्रह्मचर्य के पालन के लिए यह रामबाण औषधि है। जप, ध्यान, स्वाध्याय, कीर्तन, प्रार्थना, सत्सङ्ग, निस्स्वार्थ सेवा, धार्मिक प्रवचन आदि करें। सदा कौपीन धारण करें। यदि आप विवाहित हैं तो अपनी पत्नी से दूर अलग कमरे में सोयें। अपनी आदतों को शीघ्र बदल डालें।

अपने मित्रों के चुनाव में सावधान रहें। नाटक तथा चलचित्र न देखें और न उपन्यास तथा प्रेम-कहानियाँ ही पढ़ें। साबुन, इत्र तथा पुष्प का उपयोग न करें। मौन रखें। किसी से मिलें-जुलें नहीं। अच्छा, प्रेरणादायी धार्मिक साहित्य पढ़ें। मन में कामनाओं के उत्पन्न होने पर उनकी पूर्ति न करें। उन्हें तत्काल ही समाप्त कर डालें। स्त्रियों की संगति से बचें। उनसे हँसी-मजाक न करें। ये सब काम की बाह्य अभिव्यक्तियाँ ही हैं। सड़क पर चलते समय बन्दर की तरह इधर-उधर न देखें। स्त्री की ओर—उसके चित्र की ओर भी न देखें।

गप लगाने, निन्दा करने, चुगली खाने, शिकायत करने, गिला-शिकवा करने तथा इसी प्रकार की अन्य निरर्थक और सांसारिक बातों में वाक्-इन्द्रिय से शक्ति का क्षय होता है। पण्डितजन अपनी विद्वत्ता के मद में तर्क करने लगते हैं, पर इससे उन्हें मिलता तो कुछ नहीं, केवल शक्ति का अनावश्यक अपव्यय ही होता है। कृपण व्यक्ति के समान ही साधकों को शक्ति की सुरक्षा करनी चाहिए। क्या मजाल कि शक्ति का अल्पांश भी व्यय हो जाये। शक्ति के लिए अल्पांशों का योग ही पूर्णता में बदल जाता है। साधकों के लिए शक्ति ही सर्वस्व है। परन्तु मूर्ख लोग शक्ति की महिमा से अपरिचित हैं। वे इसका अपव्यय और दुरुपयोग बुरी तरह कर रहे हैं। व्यभिचारी पुत्र के समान ही वे शक्ति के साथ अन्याय करते हैं, उसे निःसत्त्व बना देते हैं। यह तो मनुष्य के यौवन की कहानी है। वृद्धावस्था में पश्चात्ताप करने और रोने-कलपने के अलावा और कुछ उनके हाथ नहीं लगेगा, पर तब और उपाय हो ही क्या सकता है? जब शरत्काल आ ही गया, मधु-सञ्चय की तैयारी करने से क्या लाभ? जब खून गरम था, अधर लाल थे, मूँछों पर ताव चढ़ी हुई थी, दिल में जोश और हाथों में ताकत थी, तब न तो वे बड़ों की सुनते थे और न सन्त-महात्माओं की ही। अब तो बहुत देर हो गयी, समझ लो कि पछताना और बिलखना ही भाग्य में है।

बेकार की बहस नहीं करनी चाहिए। बहस का अन्त द्वन्द्वात्मक हुआ करता है। जोर से हँसने से भी शक्ति का अपव्यय होता है। सदा अट्टहास करने वाला व्यक्ति

दूसरों पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकता। लोगों के दिलों में धाक जमानी हो तो शान्ति, गाम्भीर्य और उचित व्यवहारपूर्ण आचरण करें। कुछ आलसी लोग सड़क के होटलों में बैठ कर जङ्गली लोगों की तरह कह-कहे लगाते हैं, जिसका न तो कोई अर्थ होता है और न कारण ही। आध्यात्मिक साधक के हँसने में एक विशेषता होती है। साधक की हँसी में सौन्दर्य, गाम्भीर्य और गरमी होती है, जिसको सुन कर लोगों में आनन्द और स्फूर्ति आ जाती है। इन आलसी और काहिलों की हँसी में छिछोरापन और चरित्रभग्नता साफ-साफ झलकती है, सुनते ही दिल में भय और घृणा छा जाती है। देखा, दोनों में अन्तर? इसलिए गम्भीर बनें। जब आवश्यकता पड़े, उचित रीति से मुस्कायें और हँसें। मुर्दे की तरह चेहरा बना लेना भी दूषण है। हँसमुख प्रकृति आपमें स्वभावतः ही आ जानी चाहिए। आत्म-ध्यान तथा सद्गुणोपार्जन से स्वतः ही मुँह में चमक-दमक आ जाती है। हँसमुख बनने का स्वाँग भी नहीं भरना चाहिए। आडम्बर सामाजिक अपराध है। मिथ्याचार से आत्मा का अपहनन होता है। ज्ञानीजन तो आँखों से ही हँस लेते हैं। कहकहे मारने वाले मूर्ख होते हैं। हँसी और मुस्कराहट आँखों से प्रकाशित की जाये तो लोगों पर अमोघ प्रभाव डालती है, साथ-साथ शक्ति के संरक्षण में खतरा भी नहीं आता है। हो सकता है कि यह बात आपको अजीब जँचती हो, पर साधक में यह गुण अवश्य होना चाहिए।

केवल नपे-तुले शब्दों में ही बात करनी चाहिए। अधिक बकवास नहीं करनी चाहिए। बातचीत को जल्दी से निपटाने का प्रयत्न करना चाहिए। मिलने वाले व्यक्ति के अहाते में प्रवेश करते ही उसकी प्रकृति को जान लेना चाहिए। उसके साथ आदर-पूर्वक थोड़ी-सी बातें करें और जल्दी ही उसे छुट्टी दे दें, बातों में न लगाये रखें। उसके साथ बात करने में शक्ति का दुरुपयोग न करें। सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य बातचीत करने का आदी हो गया है। वह बहुत ही वाचाल है। बात करने की आदत उसमें बद्धमूल है। बातचीत के लिए, यदि उसे कोई न मिले तो वह उदास हो जाता है। एकान्त-सेवन का उसे साहस नहीं होता। मौन-व्रत धारण करने को कहें तो ऐसा अनुभव करेगा मानो उसे कोई कठोर दण्ड दिया जा रहा हो।

स्त्रियाँ तो और भी अधिक बातूनी होती हैं। वे दिन-भर कभी इधर की तो कभी उधर की कुछ-न-कुछ कहती ही रहेंगी जिससे घर में अनावश्यक कलह फैलता है। उनके बातूनी स्वभाव से सारे घर का वातावरण अशान्त हो जाता है। इन सब बातों पर विचार कर, मैंने मौन-साधना को सबके लिए उपयुक्त बतलाया है; क्योंकि मौन-व्रत से शक्ति की सुरक्षा तो होती है, साथ-साथ सङ्कल्प दृढ़ होता तथा आनन्द खिल उठता है। इससे सभी प्रकार के कलह, अनबन, क्रोध आदि का सहज ही परिहार किया जा सकता है। इससे शक्ति का अजस्र स्रोत मिलता है। प्रत्येक घर में प्रत्येक व्यक्ति के

लिए प्रतिदिन दो घण्टे मौन-व्रत पालन करना अनिवार्य हो जाना चाहिए; रविवार को छः घण्टे अवश्य मौन धारण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त जब कभी दीपावली या दशहरे का दीर्घ अवकाश मिले तो अवश्य कुछ दिनों तक निरन्तर मौन-व्रत का पालन करना चाहिए। अन्य समय भी परिमित शब्द ही बोलने चाहिए। धीरे से बोलना चाहिए। मौन-काल में अकेले रहना चाहिए। लोगों से मिलना-जुलना नहीं चाहिए। अपने भावों को सङ्केतों से भी व्यक्त नहीं करना चाहिए।

शक्ति के बहिर्गमन का अन्य मार्ग है मन। इससे बहुत-सी शक्ति का अपव्यय होता है। यह अपव्यय असंयत विचार, चिन्ता, क्रोध तथा भय के कारण होता है। जिस प्रकार बेकार की बातें करने से शक्ति का अपव्यय होता है, उसी प्रकार बेकार के विचार भी शक्ति को बहिर्गामी बना देते हैं। यदि असंयत विचार तथा चिन्ता का परिहार कर मानस-शक्ति को सुरक्षित रखा जा सका तो शक्ति का बहुत बड़ा भण्डार अधिकार में आ जाता है जिसका समयानुकूल विविध कार्यों में उपयोग किया जा सकता है। शक्ति का सुरक्षण किया गया तो आप आत्म-स्फूर्ति का अनुभव करने लगेंगे, निरन्तर काम करते रहने पर भी थकावट महसूस नहीं करेंगे। अपने विचारों का निरीक्षण नित्यप्रति करते रहें तथा मानस-शक्ति को केन्द्रित कर उसे उपयोगी विचारों में प्रयुक्त करें। आरम्भ में कुछ-न-कुछ सङ्घर्ष अवश्य करना होगा; पर अभ्यास करते-करते अच्छे तथा उदार विचार करने का मन का स्वभाव हो जायेगा।

अनावश्यक चिन्ता शक्ति के बहिर्निस्सरण का दूसरा मार्ग है। एक व्यक्ति को अच्छी तरह मालूम रहता है कि उसका मनीआर्डर आगामी गुरुवार को आयेगा; पर वह अनावश्यक चिन्ता करता रहता है, दिन में चार बार डाकखाने में जाता है और डाकिये से बार-बार पूछता है। यह व्यर्थ की उद्विग्नता है। मनुष्य को जान लेना चाहिए कि प्रारब्ध द्वारा प्रत्येक वस्तु का पूर्व-निश्चय किया जा चुका है। पाषाण-शिला के अन्दर रहने वाले मेढक तथा गर्भ में बालक को वही तो भोजन देता है। यह बात ठीक है कि व्यक्ति इस विषय पर लम्बी-चौड़ी बातें करेगा; किन्तु फिर भी हर समय भोजन, वस्त्र आदि के लिए चिन्तित-सा रहेगा। उसमें विश्वास की कमी है। अनावश्यक चिन्ता से शक्ति का कितना क्षय होता है, कल्पना नहीं की जा सकती। कामनाओं की बहुलता के कारण भी चिन्ता का आगमन होता है। व्यवसायी स्थान-स्थान पर अपने व्यवसाय के उपकेन्द्र खोल कर खुद ही चिन्ता मोल लेता है। उसकी चिन्ताएँ दिन-दूनी रात चौगुनी बढ़ती हैं। वह मकड़ी के समान अपने बनाये हुए जाले में फँस गया। बहुत लोग अनावश्यक चिन्ता करते रहते हैं कि वे दूसरों की अपेक्षा कम गौरवशाली हैं। गौरवहीनता का विचार उन्हें चिन्तित करता रहता है और उनकी शक्ति का अपहरण करता है। आत्म-गौरव की चिन्ता भी मनुष्य को खा जाती

है। सच पूछिए तो ये दोनों ही चिन्ताएँ केवल मानसिक कल्पना हैं, भ्रामक मायामय हैं। सभी भेद-भाव असत्य हैं। अपने को न तो दूसरों से नीच ही समझें और न आत्म-गौरव से फूल ही जायें। अपने को दूसरों की अपेक्षा गौरवशाली समझने से आप उन्हें घृणा की दृष्टि से देखने लगेंगे। मन से इन दोनों विचारों को निकाल दें। ये अनावश्यक चिन्ता उत्पन्न करते हैं। सतत धारणा तथा ध्यान के द्वारा मन को सभी अनावश्यक चिन्ता की दिशा से मोड़ना होगा। यदि व्यक्ति में सन्तोष-गुण हो तो चिन्ता सहज ही नष्ट की जा सकती है। सभी प्रकार की मानसिक दुर्बलताओं, अन्धविश्वासों, मिथ्या तथा गलत कल्पनाओं, भय तथा कुसंस्कारों से अपने को मुक्त बनाना होगा। मन में कामनाओं के उदय होने पर उनकी पूर्ति का प्रयास न करें। उन्हें अभ्यास से धीरे-धीरे कम किया जा सकता है। यदि कामनाओं का प्रकटन रोक दिया गया तो चिन्ता को समाप्त किया जा सकता है और शक्ति सुरक्षित की जा सकती है।

काल्पनिक भय से भी शक्ति का पतन हुआ करता है। भय कई प्रकार के होते हैं। एक व्यक्ति को डर लगता है। वह सोचता है कि उसे निमोनिया न हो जाये; क्योंकि खाँसी और ज्वर कई दिनों से उसे सता रहे हैं। व्याधि तो मनुष्य को लगी ही रहती है; परन्तु सदा व्याधि-चिन्तन करने और अनावश्यक डर के कारण वह बढ़ती जाती है। कई बार देखा गया है कि साधारण रोग से पीड़ित व्यक्ति भी रोग से डर जाने के कारण उसका बुरा शिकार बन गया।

समाज में व्यक्ति को समालोचना का भय लगा रहता है। आलोचना का मूल्य है ही क्या? आलोचना शब्दों का आडम्बर मात्र है। जिस प्रकार शून्य में वायु की तरङ्गें घूमा करती हैं, उसी प्रकार आलोचना भी समाज में चारों ओर चक्कर लगाया करती है। आलोचना से डरना ही क्यों? यदि एक व्यक्ति आपको कुत्ता कह कर पुकारता है तो हुआ ही क्या? चार पैर तो नहीं निकल आते? पर ऐसा नहीं हुआ करता। आप उससे लड़ने लग जाते हैं। आपकी आँखें क्रोध से लाल हो जाती हैं। आप उससे प्रतिशोध लेते हैं और उसे गधा कहते हैं। उसे भी क्रोध आता है। फल यह कि दोनों में हाथापायी आरम्भ हो जाती है। दोनों एक-दूसरे के कट्टर शत्रु बन जाते हैं। जरा सोचें तो सही, दूसरे के कहने से आपका क्या बिगड़ता है; पर इस प्रकार ही समाज में एक-दूसरे से शत्रुता, मन में अशान्ति और सन्ताप मोल लिये जाते हैं।

सभी प्रकार के भय त्याग दें। सिंह के समान खड़े रहें। दृढ़तापूर्वक कहें : "मैं साहस का साकार रूप हूँ। मुझे कुछ भी प्रभावित नहीं कर सकता। मैं अजेय हूँ। मैं अमर आत्मा हूँ।" अन्दर से साहस प्राप्त करें। कुछ लोग ऐसे डरपोक होते हैं कि वे रात को पेशाब करने के लिए बाहर नहीं निकल सकते हैं। वे रात को बाजार नहीं जा सकते हैं। यदि रात को बिल्ली की छाया भी दीख पड़ी तो वे पसीने से तर-बतर हो जाया करते हैं। क्या ही शर्म की बात है! डर के मारे वे दूसरे जिले या राज्य में अधिक लाभप्रद वेतन पर काम करने के लिए जाने को तैयार नहीं होंगे। अपने ग्राम में अल्प वेतन पर पड़े सड़ते रहेंगे। वे कायरता तथा स्त्रीत्व के मूर्तरूप हैं। मूँछों वाली स्त्री और न हुई तो वे ही हुए।

इसी प्रकार संन्यासी लोग कहते हैं—**"शिवोऽहम् शिवोऽहम्"**; पर जरा-सी परीक्षा कर लीजिए, बस मुँह की खा जाते हैं। खतरा सामने आते ही उनको थरथरी होने लगती है। मैं उन्हें जनाना वेदान्ती कहा करता हूँ। समाज के समाने वे शोचनीय नमूने हैं।

मेरा अपना विश्वास है कि डाकू सफल वेदान्ती बन सकता है; क्योंकि उसमें निर्भयता की प्रचुरता होती है, देह का अध्यास नहीं होता जो साधक के लिए सर्वोत्कृष्ट गुण है। केवल मात्र उसकी शक्ति को आध्यात्मिक दिशा की ओर प्रवृत्त करना होगा।

भय का अस्तित्व नहीं होता। वह काल्पनिक है। केवल मात्र शान्ति से विचार करें तो भय वैसे ही दूर हो जायेगा जैसे सूर्य के सामने हिम द्रवित हो जाता है। सोचें कि एक शेर से आपका सामना हो गया है, आप क्या करेंगे? मन में साहस का सञ्चार करें और निश्चय करें कि आप उस पर आक्रमण करेंगे। कल्पना करें कि आप मशीनगन के सामने रख दिये गये हैं और आपको उससे उड़ा दिया जायेगा। अब साहस लायें। आत्मा के विषय में सोचें। गीता के द्वितीय अध्याय के उन श्लोकों का चिन्तन करें जिनमें आत्मा की अमरता प्रतिपादित की गयी है। अवधूत-गीता के उन पवित्र श्लोकों का बारम्बार चिन्तन करें जिनमें अक्षर-आत्मा का वर्णन है। प्रयत्न करते-करते आप निर्भयता की प्राप्ति कर सकेंगे। आप देखेंगे कि आपमें साहस का सञ्चार हो रहा है।

छोटी-छोटी बातों के लिए क्रोधित होना भी अच्छा नहीं, इससे आन्तरिक शक्ति का बड़े वेग से बहिर्गमन होता है। क्रोधित होने से शरीर-प्रणाली पर बुरा धक्का लगता है। यहाँ पर यह भी जानना चाहिए कि यदि क्रोध पर ब्रह्मचर्य, प्रेम, क्षमा तथा विचार से विजय प्राप्त कर ली गयी तो संसार पर भी विजय की स्थापना हो ही जाती है। क्रोध का आविर्भाव आकस्मिक हुआ करता है; पता नहीं चलता कि वह कब आने वाला है। मनुष्य उद्रेक-प्रधान प्राणी है; वे उसे अपनी दिशा में खींच ले जाते हैं। यदि मनुष्य सावधान है, वीर्य की सतत रक्षा कर रहा है, क्षमा का पालन और विचारों का प्रक्षालन कर रहा है तो वह क्रोध पर विजय पाने में सफल हो सकता है। मनुष्य के लिए क्रोध इस संसार में सबसे बड़ा कष्टकर शत्रु है। यदि क्रोध का दमन कर दिया गया तो मन की बुरी वृत्ति का दमन किया हुआ समझें। तीन-चौथाई साधना क्रोध के दमन करने पर ही सम्पन्न हो जाती है।

अधिकांश लोगों में एक और बुरी आदत है। वे बैठे-बैठे शरीर के किसी अङ्ग को बेमतलब हिलाते रहेंगे। प्रकृति चेष्टापूर्ण स्वभाव वाली है। कुरसी पर बैठे-बैठे पुस्तक पढ़ते हुए भी व्यक्ति जाँघों तथा पैरों को हिलाता रहता है। उसे इस चेष्टा का रत्ती-भर पता नहीं। अतः रोक भी लगायी जाये तो कैसे? यह आदत स्वभाव के साथ-साथ अभ्यस्त हो चुकी है। इस मार्ग से भी शक्ति का क्षय होता रहता है। ध्यानपूर्वक अपने अवयवों की चेष्टा को जानना होगा और रोकने की चेष्टा करनी होगी। कुछ लोग शरीर को एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व को तथा आगे-पीछे झुकाते हैं। योगी में यह विशेषता है कि जब वह आसन लगा कर बैठता है तो काष्ठवत् हो जाता है, हिलना-डुलना सब-कुछ बन्द कर देता है। मजाल क्या कि जरा भी इधर-उधर हिलने-डुलने पाये।

साधुओं में घूमने की बड़ी बुरी आदत है। इससे शक्ति का पतन होता है। ज्यों-ही वे एक ग्राम में पहुँचे, त्यों-ही मार्ग-श्रम के कारण थकावट से चूर हो जाते हैं, निद्रा आ जाती है। साधना की सम्भावना नहीं रहती। निवृत्तिमार्गपरायण साधकों को एक स्थान पर जम कर धारणा और ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। साधना-काल में अधिक चलना-फिरना बन्द कर देना चाहिए। इससे साधक को थकावट की प्रतीति होती है और वह विश्राम की आवश्यकता अनुभव करता है।

पिछले पृष्ठों में मैंने शक्ति के बहिर्गमन के रास्तों का दिग्दर्शन करा दिया है और यह भी बतला दिया है कि किस प्रकार उन रास्तों को बन्द कर शक्ति की सुरक्षा की जा सकती है। आगामी पृष्ठों में भी शक्ति की सुरक्षा के अन्य अनेक उपयोगी निर्देश दिये गये हैं। अब आप लोगों का काम है कि उन निर्देशों को व्यवहार में परिणत कर दें। आज से अपनी शक्ति को सुरक्षित करना होगा तथा उसका उपयोग उन कार्यों के लिए करना होगा जो आध्यात्मिक उद्देश्य के हों, जो जीवन की सच्ची सफलता को सिद्ध करने वाले हों। साथ-साथ यह भी जानना होगा कि किस प्रकार शक्ति को नियन्त्रित और सञ्चालित किया जाये। कुछ लोग यह नहीं जानते कि शक्ति का व्यय किस प्रकार किया जाये। प्रारम्भ में निरर्थक कार्यों में उसे व्यय कर देते हैं और जब उसकी आवश्यकता पड़ती है तो हाथ मल कर रह जाते हैं। इसलिए दूरदर्शी होना चाहिए और विचारशील भी।

जीवन के सही अर्थ को अच्छी तरह समझ लें। संसार में माया का राज्य है, उसके वशीभूत हो कर नहीं रहना चाहिए। माया बड़ी प्रबल है। इसलिए सदा महात्माओं की सङ्गति में रहने का अभ्यास डालना चाहिए। आरम्भिक जीवन में तो सत्सङ्ग को सुरक्षित दुर्ग के समान ही समझना चाहिए। अपनी आन्तरिक शक्तियों को जाग्रत करें। शक्ति की सुरक्षा करें। आत्म-ज्ञान प्राप्त करें। आत्मा आप्तकाम है।

आत्मा में रमने से प्रत्येक अभिलाषा की पूर्ति हो जाती है। सद्गुणों का उपार्जन करें। मनुष्य-जीवन का आधार खोजें और उस जीवन को आगे ले जाने का मार्ग भी। अपने सामने सदा एक आदर्श रखें और उस आदर्श को प्राप्त करें। सांसारिकता से ऊपर उठ कर जीवन को सफल बनाना चाहिए। अपनी आत्मा को महान् तथा उदार बना लें। सदा मन में यही निश्चय करते रहें कि किस प्रकार अपने जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति करने में सफल बनेंगे? जीवन का एक निश्चित लक्ष्य तथा उद्देश्य होना चाहिए। आप अवश्य ही सफल होंगे।

आध्यात्मिक पथ में अनेक अवरोध हैं जो साधक की प्रगति में रोड़े अटकाते हैं। आगामी अध्याय में विविध प्रकार के अवरोधों तथा उनको नष्ट करने की उपयुक्त विधियों की चर्चा की जायेगी। यह विषय सच्चे साधकों के लिए विशेष सहायक होगा।

चतुर्थ अध्याय

योग के लिए तैयारी

१. चित्तशुद्धि

चित्तशुद्धि योग का प्रथम अङ्ग है। राजयोग, भक्तियोग, हठयोग तथा कर्मयोग में इसके साधनों में भेद है। राजयोग में पतञ्जलि महर्षि इसे क्रियायोग कहते हैं जिसकी परिभाषा वह इस प्रकार करते हैं : **"तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः**—तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान क्रियायोग है" (पातञ्जल योगसूत्र : २-१)। यम, नियम, आसन तथा प्राणायाम तप के अन्तर्गत हैं। हठयोग में चित्त की शुद्धि के लिए नेति, धौति, नौलि, वस्ति, कपालभाति तथा त्राटक—ये षट्कर्म हैं। शौच दो प्रकार का है—बाह्य और आभ्यन्तर। आभ्यन्तर शौच अथवा चित्तशुद्धि अधिक महत्त्वपूर्ण है। बाह्य अथवा शारीरिक शौच भी आवश्यक है। आभ्यन्तर अथवा मानसिक शौच में संस्थित होने पर चित्त-प्रसाद, मन् की एकाग्रता, इन्द्रिय-जय तथा आत्म-साक्षात्कार की योग्यता प्राप्त होती है। क्रियायोग के अभ्यास से मन के क्लेश तथा विक्षेप नष्ट होते हैं तथा मन समाधि में प्रवेश करने को तैयार होता है। गीता के सतरहवें अध्याय के १४ से १६ श्लोक तक शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक तप की परिभाषा दी गयी है।

२. नैतिक प्रशिक्षण

यम तथा नियम योग की आधारशिलाएँ हैं। इनसे चित्तशुद्धि प्राप्त होती है तथा क्रूर प्रवृत्तियाँ दूर होती हैं। इस प्राथमिक अर्हता के बिना धारणा, ध्यान तथा समाधि सर्वथा असम्भव हैं। यदि आप इनमें प्रतिष्ठित हैं तो समाधि स्वतः ही आयेगी।

"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह यम हैं" (पातञ्जल योगसूत्र : २-३०) '**शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि नियमाः**—(आन्तरिक-बाह्य) शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान नियम हैं" (पातञ्जल योगसूत्र : २-३२)।

इन सबमें अहिंसा, सत्य तथा ब्रह्मचर्य बहुत ही आवश्यक हैं। ब्रह्मचर्य में काम-वासना का तनिक विचार भी मन में प्रवेश नहीं करना चाहिए। सच्चा ब्रह्मचारी पाषाण, पुस्तक, वृक्ष तथा नारी के स्पर्श में कोई भेद अनुभव नहीं करता। यह पूर्ण ब्रह्मचर्य का लक्षण है।

३. यम तथा नियम का महत्त्व

एक डाक्टर ने विविध आन्तराङ्गों अथवा अवयवों का विवेचन करने वाले शरीर-विज्ञान का ठीक से अध्ययन करने की उपेक्षा की जिसके परिणाम-स्वरूप वह रोग-विज्ञान को नहीं समझ सकता था। उसने रोग-विज्ञान के यथोचित रूप से अध्ययन करने की उपेक्षा की जिससे वह रोग-निदान को यथोचित रूप से नहीं समझ पाता था जिससे वह विभिन्न रोगों में भेद कर सके। उसने भेदीय रोग-निदान तथा औषधि के ध्यानपूर्वक अध्ययन करने की उपेक्षा की जिससे वह ठीक से उपचार नहीं कर सकता था।

यदि आप किसी रोगी का उपचार करना चाहते हैं तो आपको रोग के निदान तथा औषधि की अच्छी जानकारी होनी चाहिए। यदि आप रोग का निदान करना चाहते हैं तो आपको रोग-विज्ञान का यथेष्ठ ज्ञान होना चाहिए। यदि आप रोग-विज्ञान सीखना चाहते हैं तो आपको शरीर-विज्ञान की अच्छी जानकारी होनी चाहिए।

प्रायः अज्ञानी लोग सीधे ध्यान में बैठने लगते हैं और तब समाधि में प्रवेश करने का व्यर्थ प्रयास करते हैं। वे पूरी तरह से नैतिक प्रशिक्षण नहीं लेते। उनमें साधन-चतुष्टय भी विद्यमान नहीं। उनमें तितिक्षा नहीं और न अन्य शारीरिक प्रशिक्षण ही होता है। यम-नियम राजयोग की आधार-शिलाएँ हैं। विवेक तथा वैराग्य ज्ञानयोग की आधार-शिलाएँ हैं।

यदि आप समाधि चाहते हैं तो आपको ध्यान की प्रक्रिया अच्छी तरह जाननी चाहिए। यदि आप ध्यान चाहते हैं तो आपको धारणा की विधि ठीक-ठीक जाननी चाहिए। यदि आप धारणा चाहते हैं तो आपको प्रत्याहार की रीति पूर्ण रूप से जाननी चाहिए। यदि आप प्रत्याहार चाहते हैं तो आपको प्राणायाम जानना चाहिए। यदि आप प्राणायाम चाहते हैं तो आपको आसन अच्छी तरह जानना चाहिए। आसन का अभ्यास आरम्भ करने से पूर्व आपको यम तथा नियम का अभ्यास करना चाहिए। विविध प्रारम्भिक अभ्यासों के बिना ध्यान में कूद जाने से कोई लाभ नहीं है। आपकी वही दशा होगी जो उस दयनीय डाक्टर की हुई जो शरीर-विज्ञान, रोग-विज्ञान तथा औषधि के अध्ययन की उपेक्षा करने के कारण रोगों का ठीक से निदान तथा उपचार नहीं कर पाता था।

इसी प्रकार ज्ञानयोग में भी यदि आप आत्मसाक्षात्कार चाहते हैं तो आपको निदिध्यासन की विधि अच्छी तरह जाननी होगी। यदि आप निदिध्यासन चाहते हैं तो आपको मनन जानना होगा। यदि आप मनन चाहते हैं तो आपको श्रवण करना होगा। यदि आप श्रवण चाहते हैं तो आपमें मुमुक्षुत्व होना चाहिए। यदि आप मुमुक्षुत्व

चाहते हैं तो आपमें समाधान, श्रद्धा तथा उपरति होनी चाहिए। यदि आप उपरति चाहते हैं तो आपमें तितिक्षा, दम और शम होने चाहिए। यदि आप इन्हें चाहते हैं तो आपमें वैराग्य होना चाहिए। यदि आप वैराग्य चाहते हैं तो आपमें विवेक होना चाहिए। विवेक तथा वैराग्य ही वह आधारशिला है जिस पर निदिध्यासन-रूपी अधिरचना का निर्माण होता है। आप यम, नियम, विवेक तथा वैराग्य के बिना कुछ भी नहीं कर सकते।

४. मल-निवारण

मन के तीन दोष हैं—मल, विक्षेप तथा आवरण। मल मन की अशुद्धि को कहते हैं। छः कुवृत्तियाँ मल कहलाती हैं। वे हैं : काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्य। मल का निवारण ही चित्तशुद्धि है। शुद्धिकरण योग का प्रथम अङ्ग है। अन्तःकरण के शुद्ध होने पर मोक्ष तथा योगसिद्धि के लिए सहज प्रवृत्ति होती है। मल का विनाश ही मोक्ष है। कामना ही इन्द्रियों को प्रेरित करती है। इन कुवृत्तियों का विलोपन तथा इन्द्रियों का नियन्त्रण ही सत्त्वशुद्धि है। ये छः कुवृत्तियाँ योग की प्रत्यक्ष बाधाएँ हैं। उनका पूर्णतया उन्मूलन करना चाहिए। उन्हें निःशेष रूप से मिटा देना चाहिए। उनका रञ्चमात्र भी छिपे नहीं रहने देना चाहिए। उपर्युक्त छः कुवृत्तियों के अतिरिक्त सात अन्य कुवृत्तियाँ भी हैं। वे हैं : दम्भ, दर्प, असूया, ईर्ष्या, अहङ्कार, राग तथा द्वेष।

काम सभी प्रकार की इच्छाओं को कहते हैं, किन्तु विशेष अर्थ में यह मैथुनेच्छा का द्योतक है। क्रोध अमर्ष है। लोभ तृष्णा है। मोह भ्रान्ति तथा आसक्ति है। मद गर्व है। मात्सर्य ईर्ष्या है। दम्भ अक्खड़पन है। दर्प वह दम्भी आचरण है जिसमें व्यक्ति अपने को सर्वश्रेष्ठ मानता है। असूया वह ईर्ष्या है जो व्यक्ति को अपने समान अन्य व्यक्ति को सुख भोगते देख कर उद्दीप्त होती है। ईर्ष्या वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति दूसरों को दुःखी देखना चाहता है। अहङ्कार अहंभाव प्रकट करने वाली वृत्ति है। राग आसक्ति है। द्वेष घृणा है।

मल का निवारण निष्काम कर्म तथा उल्लिखित विविध सद्गुणों के विकास से किया जा सकता है। विक्षेप मन का दोलायमान या तरङ्गित होना है। यह उपासना, प्रणव-जप, धारणा तथा ध्यान से दूर किया जा सकता है। आवरण अज्ञान का परदा है जो वेदान्त-साहित्य के अध्ययन, निदिध्यासन तथा आत्मसाक्षात्कार से विदूरित होता है।

५. सद्गुणों का विकास करें

सद्गुणों का विकास चित्त की स्थिरता की प्राप्ति में बहुत सहायक होता है। यह कुवृत्तियों को नष्ट करने की प्रभावकारी विधि है। **"मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्**—मित्रता, दया, हर्ष तथा उदासीनता—इन सभी धर्मों की सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा तथा पापियों के विषय में क्रमशः भावना के अनुष्ठान से चित्त की निर्मलता और प्रसन्नता प्राप्त होती है" (पातञ्जल योगसूत्रः १-३३)। ये सद्गुण घृणा, ईर्ष्या, क्रोधादि को नष्ट करते हैं। उद्यान में पाटल-पुष्प की भाँति किसी भी सद्गुण को अपने हृदय में उपजाया जा सकता है। यदि आप दान देना आरम्भ कर दें तो आपकी लोभ-वृत्ति तिरोभूत हो जायेगी। विनम्रता की भावना के विकास से अभिमान की भावना नष्ट हो जायेगी। तितिक्षा, सहिष्णुता, धैर्य, अध्यवसाय, सङ्कल्प-शक्ति, आत्मनिर्भरता—ये सब साधकों के लिए आवश्यक हैं। प्रेम, विनम्रता तथा करुणा से आप सारे संसार को जीत सकते हैं। भद्रता, परोपकारिता, विश्वप्रेम तथा कुशाग्र बुद्धि—ये चार महत्त्वपूर्ण गुण योग के उच्चतर सोपानों को अधिगत किये हुए व्यक्ति में पाये जाते हैं। ऐसे व्यक्ति सहस्रों व्यक्तियों के आकर्षण-केन्द्र बन जाते हैं जैसे वंशी का मधुर स्वर गायों को अपनी ओर खींच लेता है।

कृपण व्यक्ति परमात्मा से बहुत दूर है। परमात्मा कृपण के उतना ही निकट है जितना कि उत्तरी ध्रुव दक्षिणी ध्रुव के। धारणा, ध्यान तथा समाधि के लिए तैयार होने से पूर्व आपको विश्वप्रेम, स्वैच्छिक उदारता तथा दानशीलता, समदृष्टि, सतत मन का समत्व, सेवा-भावना आदि का विकास करना चाहिए।

६. धैर्य का विकास करें

यहाँ मानसिक धैर्य के विकास के लिए ताश के खेल का एक रूप दिया जा रहा है। इसे एक ही व्यक्ति खेलता है। आप सबको इस खेल को जानना चाहिए। ताश की नौ पंक्तियाँ हैं। आप ताश के पत्तों को एक पंक्ति से दूसरी पंक्ति में खिसका सकते हैं। आप पंक्तियों को कम कर सकते हैं अथवा नयी पंक्तियाँ प्रारम्भ कर सकते हैं; किन्तु पंक्तियों की संख्या नौ से अधिक नहीं होनी चाहिए। आपको उन्हें ईंट, पान, हुकुम तथा चिड़िया की चार पंक्तियों में बादशाह, बेगम, दहला, नहला, अट्ठा आदि के क्रमानुसार लाने का प्रयास करना चाहिए। यह खेलने की प्रविधि है।

साधक को व्यर्थ की बातें नहीं करने दी जातीं, उसे एकान्त में रहना होता है, उस समय उसके पास इस प्रकार का मनोरञ्जन हो तो वह मित्रों के अभाव में अपने को अकेला अनुभव नहीं करेगा। प्रारम्भ में जब वह अपने प्रमोद के साधनों से वञ्चित हो जाता है तो उसे दुःख होता है। अपनी साधना के प्रारम्भिक दिनों में, जब वह ध्यान से थक कर थोड़ा मनोरञ्जन तथा मन की विश्रान्ति चाहता है तब वह इस खेल का आश्रय ले सकता है। सामान्य व्यक्ति इस खेल की उपयोगिता

नहीं समझ सकते हैं। यह धैर्य तथा एकाग्रता के विकास तथा अनुकूल सङ्गति के लाभप्रद अनुकल्प के लिए अभिप्रेत है।

यह खेल जप, स्वाध्याय तथा दीर्घ काल के ध्यान के अनन्तर मन के लिए एक प्रकार की क्रीड़ा, एक प्रकार का मनोरञ्जन है। यह गृहस्थों के लिए उपयोगी है। व्यक्ति चौबीसों घण्टे स्वाध्याय अथवा जप नहीं कर सकता है। मन ऊब जाता है, थक जाता है। वह विविधता चाहता है, नये संवेदन चाहता है। वह विविध मनोवृत्ति वाले मनुष्यों के साथ व्यर्थ बातें करने और अनुकूल सङ्गति में रहने के बदले इस खेल में थोड़ा समय व्यतीत कर सकता है। जब उसे ध्यान में सच्ची रुचि हो जाये, उसमें उसे आनन्द आने लगे, जब उसे देर तक ध्यान तथा जप करने का अभ्यास हो जाये, तब वह इस खेल को छोड़ सकता है।

७. चित्तशुद्धि के लिए चिकित्सा-सहायता

थोड़ी-सी औषधियाँ, होम्योपैथी (सम-चिकित्सा) की औषधियों की सन्दूकची अथवा बारह जीवरसायनिक ऊतक औषधियाँ अथवा ऐलोपैथी (विषम-चिकित्सा) की एक पेटी रखिए जिसमें एप्सम साल्ट (जुलाबी नमक), एस्पिरिन की टिकियाएँ, बोरिक पाउडर (चूर्ण), बोरिक विलेप, टिंचर आयोडिन, वैसलीन, एसिड टारटरिक, पोटैशियम परमैंगनेट (लाल दवा), पट्टी का कपड़ा, रूई आदि हों। मात्रा, रोगों के उपचार की विधि तथा उपर्युक्त औषधियों का उपयोग सीख लीजिए। निर्धनों में औषधि मुफ्त बाँटिए। यह चित्तशुद्धि के लिए निष्काम-कर्म का सर्वश्रेष्ठ रूप है।

विश्वप्रेम, सहज उदारता, निर्धनों तथा सन्तों की परम निस्स्वार्थ सेवा, भविष्य के प्रति उदासीन वृत्ति, यज्ञनिष्ठा, अत्यधिक विनम्रता, शान्त स्वभाव, शास्त्रों तथा दर्शनों का पूर्ण ज्ञान—ये सब सन्त पुरुष के विरल गुण हैं।

आध्यात्मिक उन्नति के लिए ये सद्गुण आवश्यक हैं। इनका एक-एक करके शनैः-शनैः विकास कीजिए। अपनी आय में से प्रति रुपये दश पैसे दान दीजिए। इसे अवश्य कीजिए। दान चित्त को शुद्ध करता तथा हृदय को विशाल बनाता है। साधु-महात्माओं, अपङ्गों, रोगियों, वृद्धों तथा अन्धों की सेवा कीजिए। किसी रोगी तथा संन्यासी के पास खाली हाथ मत जाइए। अपने पास धन-संग्रह न कीजिए। यह महापातक है। धन व्यापक व्यवहार के लिए है। अपने भोजन का कुछ अंश वितरण किये बिना स्वयं ग्रहण न कीजिए। जितना आवश्यक है, उससे अधिक सञ्चय करना पाप है। सबकी सेवा कीजिए। सबकी ईश्वर-रूप में सेवा कीजिए। सब पर दयावान् बनिए। दरिद्रनारायण की सेवा कीजिए।

यह जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है। ब्रह्म-भाव में संसार का तिरोधान नहीं होता; किन्तु यह ब्रह्म से पृथक् है, यह भावना नष्ट हो जाती है और एक नयी चेतना उत्पन्न होती है कि सब-कुछ ब्रह्म ही है। इस विचार पर ध्यान दें : "सब-कुछ आत्मा है। सब एक ही तत्त्व है। सब ब्रह्म है।" यदि आप इस विचार को अपने मन में स्थान देंगे तो आप निष्काम-सेवा में परिपक्व बन जायेंगे।

८. त्राटक

किसी बिन्दु या वस्तु पर पलक मारे बिना, एकटक देखते रहना त्राटक है। धारणा के विकास के लिए यह विशेष अभिप्रेत है। यद्यपि यह हठयोग के षट्कर्मों में से एक है; किन्तु यह ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा राजयोग के अभ्यासकर्ताओं के लिए भी बहुत ही लाभप्रद है। मन पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए अन्य कोई प्रभावकारी साधन नहीं है। इसके स्थिर तथा धीरे-धीरे अभ्यास से नेत्र-ज्योति में सुधार होता है तथा सभी नेत्र-रोग दूर होते हैं। बहुत से लोगों ने त्राटक के अभ्यास में सफलता प्राप्त कर आँखों के चश्मे भी उतार दिये हैं। इससे सङ्कल्पशक्ति का विकास होता है, विक्षेप दूर होता है, मन स्थिर होता है तथा अतीन्द्रिय-दृष्टि, परविचार-ज्ञान, अतीन्द्रिय-शक्ति तथा अन्य सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

अपने सम्मुख भगवान् श्रीकृष्ण, राम, नारायण, देवी अथवा अपने इष्टदेव का चित्र रखिए। पलक मारे बिना उस पर एकटक देखिए। शिर पर, तदुपरान्त देह पर और तब चरणों पर दृष्टि स्थापित कीजिए। इस प्रक्रिया को बारम्बार दोहराइए। जब मन शान्त हो जाये तो केवल शरीर के किसी एक अङ्ग को ही एकटक देखिए। जब तक नेत्रों से अश्रु प्रवाहित न होने लगें, देखते ही रहिए। तब नेत्र बन्द कर लीजिए और मन-ही-मन उस चित्र को देखते रहिए।

अपने सामने श्वेत दीवाल पर एक काले बिन्दु पर त्राटक किया जा सकता है। एक कागज के टुकड़े पर ॐ का चित्र बना लीजिए और उस पर त्राटक कीजिए। यह भ्रूमध्य, नासिकाग्र, अन्तरस्थ चक्रों, सूर्य, नक्षत्र अथवा दीपक पर किया जा सकता है। हठयोग के अन्य पञ्च कर्मों के विवरण के लिए मेरी पुस्तक 'कुण्डलिनीयोग' से सहायता ले सकते हैं।

ये सब पतञ्जलि के क्रियायोग में उल्लिखित 'तप' के प्रकार हैं। इन्द्रिय-संयम, चाहे वह किसी भी मात्रा में हो, तप है। वाणी तथा मन का नियन्त्रण महत्तम तप है।

९. भक्ति क्या है

ईश्वर-प्रणिधान भक्तियोग का एक रूप है। भक्तियोग प्रेम का तनुकौशेय धागा है जो भक्त के हृदय को भगवान् के चरणकमलों में बाँधता है। भक्ति भगवान् के प्रति

उत्कट श्रद्धा तथा परम अनुराग है। भक्ति भगवान् के प्रति परम प्रेम है। यह प्रियतम की ओर प्रेम का नैसर्गिक भावोद्गार है। यह शुद्ध, निस्स्वार्थ, दिव्य अथवा शुद्ध प्रेम है। यह प्रेम के लिए प्रेम है। यहाँ कुछ भी सौदेबाजी अथवा किसी की प्रत्याशा नहीं है। यह उच्चतर भावना शब्दों में अवर्णनीय है। यह भक्तों द्वारा सच्चाईपूर्वक अनुभव की वस्तु है। भक्ति उदात्त रसयुक्त पवित्र उच्चतर भाव है जो भक्त को भगवान् से मिलाता है।

१०. भक्ति का फल

भक्ति हृदय को कोमल बनाती तथा ईर्ष्या, घृणा, काम, क्रोध, अहङ्कार, दर्प, दम्भ आदि विदूरित करती है। यह सुख, दिव्य उल्लास, आनन्द तथा ज्ञान भरती है। यह सदा भगवान् के सम्पर्क में रहने में भक्त की सहायता करती है। सभी परेशानियाँ, झञ्झटें, चिन्ताएँ, भय, मानसिक सन्ताप तथा क्लेश पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं। भक्त जन्म-मृत्यु के संसार-चक्र से मुक्त हो जाता है। वह चिरन्तन शान्ति, आनन्द और ज्ञान के अमर धाम को प्राप्त कर लेता है।

११. भक्त के लक्षण

भक्त में ये लक्षण पाये जाते हैं। उसमें समदृष्टि होती है। उसमें किसी के प्रति वैर-भाव नहीं होता है। उसका चरित्र आदर्श होता है। उसे किसी वस्तु से राग नहीं होता है। उसमें मेरापन नहीं होता है। सुख-दुःख, शीत-उष्ण, स्तुति-निन्दा में उसका मन सन्तुलित रहता है। वह रुपये को पाषाणवत् समझता है। उसमें काम तथा क्रोध नहीं होते हैं। वह सभी स्त्रियों को अपनी माँ समझता है। उसके ओष्ठों पर सदा भगवान् हरि का नाम रहता है। वह सदा अन्तर्मुख वृत्ति वाला होता है। वह शान्ति तथा आनन्द से पूर्ण होता है।

१२. जप

जप किसी मन्त्र अथवा ईश्वर के नाम को बार-बार दोहराने को कहते हैं। जप तीन प्रकार का होता है—वैखरी, उपांशु तथा मानसिक। उपांशु-जप का फल वैखरी-जप से सहस्र गुना अधिक होता है।

जप की प्रभावोत्पादकता में मन की एकाग्रता की मात्रा के अनुसार वृद्धि होती है। मन को इष्टदेवता पर स्थिर होना चाहिए। तभी आप मन्त्र से अधिकतम लाभ प्राप्त करेंगे। प्रत्येक मन्त्र में प्रभूत शक्ति होती है। मन्त्र तेजस् का पुञ्ज होता है। यह एक विशेष प्रकार की विचार-गति उत्पन्न कर मनस्तत्त्व को रूपान्तरित करता है। मन्त्र के उच्चारण से उत्पन्न लयबद्ध कम्पन पञ्चकोषों के अस्थिर कम्पनों को नियन्त्रित करता है। यह मन के विषयपरक विचारों की नैसर्गिक प्रवृत्तियों को रोकता है। यह

साधना-शक्ति की सहायता करता तथा उसे प्रबलित करता है। साधना-शक्ति मन्त्र-शक्ति द्वारा बलवती बनती है। जब मन्त्र-चैतन्य जाग्रत होता है तो मन्त्र अतिमानवीय शक्ति को उद्‌बोधित करता है।

यह मन को शुचि करता तथा पापों का प्रक्षालन करता है। यह नाड़ियों और प्राणमय-कोष को विशुद्ध करता है। अधिकांश लोगों को चित्तशुद्धि के लिए एक या दो वर्ष तक किसी भी मन्त्र का जप करना आवश्यक होता है। अन्त में मन्त्र साधक को उसके इष्टदेवता के समीप ले जाता है।

प्रतिदिन कुछ हजार मन्त्र-जप करने का अपना लक्ष्य बना लें। अपनी प्रवृत्ति तथा रुचि के अनुसार एक मन्त्र चुन लें। श्रद्धा तथा मुमुक्षुत्व रखें। यथासम्भव एकाग्र मन से मन्त्र का जप करें। १०८ मनकों की माला रखिए। जप न तो बहुत धीरे-धीरे और न बहुत तीव्र गति से ही करना चाहिए। प्रह्लाद ने नारायण-मन्त्र तथा ध्रुव ने श्रीराम के मन्त्र के जप से भगवान् हरि के दर्शन किये। आप भी जप की विधि से क्यों नहीं इस भीषण संसार को पार कर लेते?

पञ्चम अध्याय

योगिक व्यायाम तथा प्राणायाम

१. योगिक व्यायाम के लाभ

योगिक व्यायामों का अभ्यास स्वास्थ्यकर तथा चिरायुप्रद है। यह हृदय, फुफ्फुसों तथा मस्तिष्क की क्रिया को विनियमित करता है। यह पाचन-शक्ति तथा रक्त-परिसञ्चरण-वर्धक है तथा सभी प्रकार के रोगों का निवारण करता है। इसका उद्देश्य व्यक्ति को उच्च मापदण्ड के स्वास्थ्य, बल तथा ओज से सम्पन्न बनने में सक्षम बनाना है।

इन व्यायामों में आसनों, प्राणायामों, मुद्राओं तथा बन्धों का अभ्यास है। प्रारम्भिक अभ्यास-क्रम में छात्रों को षट्-कर्म अर्थात् धौति, वस्ति, नेति, नौलि, त्राटक तथा कपालभाति का अभ्यास करना होता है। आध्यात्मिक पथ में उच्चतर उन्नति के लिए धारणा, ध्यान तथा समाधि का आश्रय लेना पड़ता है। साधना में सफलता तथा पूर्णता सुनिश्चित करने के लिए भक्तियोग, राजयोग तथा ज्ञानयोग के विविध अभ्यासों का सुसंयोजन वाञ्छनीय है।

महर्षि पतञ्जलि परिभाषा देते हैं : **"स्थिरसुखमासनम्"**—जो स्थिर तथा सुखदायी हो, वह आसन है (पातञ्जल योगसूत्र : २-४६)। हठयोगियों, राजयोगियों तथा सगुण ब्रह्म पर ध्यान करने वाले भक्तों के लिए आसनों का अभ्यास आवश्यक है। ज्ञानी के लिए किसी आसन-विशेष की आवश्यकता नहीं है। वह शवासन में, आरामकुरसी में लेटे-लेटे अथवा चलते-फिरते भी चिन्तन कर सकते हैं। चालीस वर्ष से अधिक आयु के व्यक्तियों के लिए पद्मासन में लगातार तीन घण्टे तक बैठना प्रायः कठिन हो जाता है; क्योंकि उनकी अस्थियाँ तथा मांसपेशियाँ अनम्य हो जाती हैं। वयोवृद्ध लोग एक घण्टे के पश्चात् जब थक जायें तो वे अपनी पीठ दीवार से टेक सकते हैं और अपने पैरों को फैला सकते हैं। इस उद्देश्य के लिए कमरे का एक कोना चुन लेना चाहिए। उन्हें दोनों दीवारों के पार्श्व से अवलम्ब प्राप्त हो सकता है। यह सर्वाधिक सुखदायी आसन है। जब वे शवासन में ध्यान करते हैं तो कठिनाई यह है कि निद्रा आ उपस्थित होती है। उन्हें सावधान रहना चाहिए। युवकों को ध्यान के उद्देश्य के लिए पद्म तथा सिद्ध आसन को और ब्रह्मचर्य तथा सुस्वास्थ्य बनाये रखने के लिए अभिप्रेत अन्य विविध आसनों को करना चाहिए।

यदि आप प्रस्तर की प्रतिमा की तरह लगातार तीन घण्टे तक एक ही आसन पर बैठ सकते हैं तो यह आसन-जय अथवा आसन-सिद्धि की प्राप्ति है। मैं आसनाभ्यास के प्रथम वर्ष तीन घण्टे तक आसनाभ्यास को प्रदिष्ट करता हूँ। तीन घण्टे तक आसन का अभ्यास करते समय जब पैरों में पीड़ा हो तो कुछ मिनट तक अपने पैरों को फैला दें और पुनः उसी आसन पर बैठ जायें। एक वर्ष में आपको आसनाभ्यास में परिपक्वता आ जायेगी।

२. पद्मासन

पद्मासन का अर्थ है कमल के समान आसन की आकृति। इसे कमलासन भी कहते हैं। पद्मासन तथा सिद्धासन जप, ध्यान तथा प्राणायाम के अभ्यास के लिए सर्वोत्तम हैं।

भूमि पर बैठ कर टाँगों को सामने फैला दें। तब दाहिना पैर मोड़ कर बायीं जङ्घा पर और बायाँ पैर मोड़ कर दाहिनी जङ्घा पर रख लें। दोनों हथेलियाँ घुटनों पर रखें।

दोनों हाथों की अँगुलियों को परस्पर फँसा कर बायें गुल्फ पर रख सकते हैं मुख उत्तर अथवा पूर्व दिशा में हो।

३. सिद्धासन

महत्त्व में पद्मासन के बाद सिद्धासन का स्थान है। यह आसन सिद्ध हो जाने से बहुत-सी सिद्धियाँ मिलती हैं। मोटी जाँघ वाले स्थूलकाय व्यक्ति भी इस आसन को बड़ी सरलता से कर सकते हैं। ब्रह्मचर्य में संस्थित होने का प्रयास करने वाले युवा लोगों को इस आसन का अभ्यास करना चाहिए।

एक पैर की एड़ी गुदा-स्थान पर तथा दूसरे पैर की एड़ी को लिङ्ग-मूल पर रखें। दोनों टाँगें इस भाँति एक-दूसरे पर रखी हों कि जिससे पैर के टखने एक-दूसरे पर रखे रहें। हाथ पद्मासन की भाँति ही रखे जा सकते हैं।

हठयोग के ग्रन्थों में पद्मासन तथा सिद्धासन के गुणों तथा लाभों की बड़ी महिमा गायी गयी है। जो नियम से प्रतिदिन इनमें से किसी एक आसन पर पन्दरह मिनट बैठ कर आँखें बन्द कर भगवान् का ध्यान करता है, उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं और उसे मोक्ष मिलता है। ये आसन गठिया-रोग को ठीक करने तथा शरीर में वात, पित्त तथा कफ को समान रूप से रखने में लाभदायी हैं। ये टाँगों और जङ्घाओं की स्नायुओं को शुद्ध तथा सुदृढ़ बनाते हैं। ये ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए बहुत ही उपयुक्त हैं।

४. शीर्षासन

एक चौपरता कम्बल बिछा दें। दोनों घुटनों के बल बैठ जायें। अब दोनों हाथों की अँगुलियों को परस्पर फँसा कर भूमि पर रखें। अपना शिर फँसी हुई अँगुलियों के ऊपर अथवा दोनों हाथों के बीच में रखें। धीरे-धीरे पैरों को उठा कर सीधा करें। जितनी देर सम्भव हो सके, स्थिर खड़े रहें और तब धीरे-धीरे पैरों को नीचे लायें। इस आसन को बहुत धीरे-धीरे करें जिससे झटका न लगे। इस आसन को करते समय मुख से श्वास नहीं लेना चाहिए, नासिका से ही श्वास लेना चाहिए।

इस आसन के अभ्यास से प्रारम्भिक दिनों में दोनों हाथों को शिर के दोनों ओर भूमि पर रख सकते हैं। इससे अभ्यास में सुविधा रहेगी। जब सन्तुलन रखना सध जाये, तब जकड़बन्द अँगुलियों वाले हाथों में शिर रखने की विधि अपना सकते हैं। आरम्भ में टाँगों को स्थिर रखने के लिए अपने किसी मित्र की सहायता ले सकते हैं अथवा दीवार के सहारे कर सकते हैं।

बदरीनारायणवासी पण्डित रघुनाथ शास्त्री इस आसन के बड़े प्रेमी हैं और दो-तीन घण्टे तक एक ही श्वास में करते हैं। उनका कहना है कि इस आसन के करने से प्राणायाम और समाधि स्वतः ही होने लगते हैं। दूसरा कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं होती। वाराणसी में एक ऐसे योगी हैं जो इसी आसन में समाधि लगाते हैं। श्वास पर ध्यान दें तो पता चलेगा कि वह अधिकाधिक सूक्ष्म होता जा रहा है। प्रारम्भ में श्वास लेने में कुछ कठिनाई होती है; किन्तु अभ्यास बढ़ने पर यह दूर हो जाती है। इस आसन में वास्तविक आनन्द और उल्लास का अनुभव होता है। श्री पी॰ वी॰ आचार्य प्रतिदिन ध्यान से पूर्व प्रातः और सायङ्काल इस आसन को ४५ मिनट तक करते हैं। इससे ध्यान लगाने में उन्हें बड़ी सहायता मिलती है; क्योंकि इस आसन से मस्तिष्क-केन्द्रों को प्रचुर मात्रा में रक्त मिलता है जिससे वे बड़ी क्षमता से कार्य करते हैं। उन्होंने अपना यह विचार मुझसे कई बार प्रकट किया था। यही एक ऐसा आसन है जिसके अभ्यास से मस्तिष्क को यथेष्ट प्राणशक्ति तथा रक्त मिलता है। अभ्यास के समय अनाहत-शब्द स्पष्ट सुनायी देने लगता है। इन शब्दों को ध्यानपूर्वक सुनें। इसके गुणकारी परिणामों तथा प्रभावों का वर्णन शब्दों द्वारा सम्यक् रूप से नहीं किया जा सकता। यह आसन समस्त रोगों की एक ही रामबाण औषधि है। इससे स्मरण-शक्ति की श्लाघनीय उन्नति होती है। इससे आध्यात्मिक शक्ति की वृद्धि होती है। शीर्षासन के पश्चात् ध्यान लगाने से बहुत ही लाभ प्राप्त होता है। यह वीर्य को ओज में रूपान्तरित कर देता है। इस आसन से शरीर में शक्ति, स्फूर्ति और तेज आता है। योगतत्त्वोपनिषद् में लिखा है :

"अधः शिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ १२४ ॥
क्षणात्तु किञ्चिदधिकमभ्यसेत्तु दिनेदिने ।
वली च पलितं चैव षण्मासार्धान्न दृश्यते ॥ १२५ ॥
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥ १२६ ॥

—इस मुद्रा के लिए प्रथम दिन क्षण-भर के लिए नीचे शिर करके ऊपर को पैर करें। इसके बाद प्रतिदिन क्षण-क्षण-भर अभ्यास बढ़ाते रहें, तो छः महीने में ही शरीर की झुर्रियाँ और केशों की श्वेतता मिट जायेगी। जो नित्यप्रति एक पहर तक इसका अभ्यास करता है, वह काल को भी जीत सकता है।"

यह ब्रह्मचर्य के लिए बड़ा सहायक है। इससे कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत होती है। इससे स्वप्न-दोष, शुक्राणु आदि वीर्य-विकारों से मुक्ति मिलती है, आँखों का तेज बढ़ता है। सीतापुर के श्री ठाकुर द्वारकासिंह जी ने इस आसन के अभ्यास से अपनी दृष्टि में पर्याप्त सुधार किया है। आँख, कान, नाक, शिर, गले, पेट, जननेन्द्रिय, यकृत, प्लीहा और फुफ्फुस-सम्बन्धी जितने भी रोग हैं, उनको इस आसन के अभ्यास से दूर किया जा सकता है। यह बहरापन, सुजाक, बहुमूत्र-रोग, अर्श-रोग, श्वास, यक्ष्मा, पायोरिया, कोष्ठबद्धता, उदरशूल, उपदंश आदि रोगों का निवारण करता है। यह आसन प्रभावशाली रक्तशोधक तथा मस्तिष्क और स्नायुओं की बलवर्धक औषधि है। यह जठराग्नि को प्रदीप्त करता है। मैंने सीतापुर में इस आसन का प्रचार किया। अब सीतापुर में शीर्षासन का वातावरण छाया हुआ है। वहाँ पर अनेक लोग इस आसन का नियमित अभ्यास कर रहे हैं और इसके आश्चर्यजनक प्रभाव का अनुभव कर रहे हैं। अधिवक्ता, तत्त्वज्ञानी और विचारक इसका ठीक मूल्याङ्कन कर सकेंगे।

५. सर्वांगासन

यह दूसरा प्रमुख आसन है। पीठ के बल चित लेट जायें। अब धीरे-धीरे टाँगों को सीधे उठायें। कमर को दोनों हाथों का सहारा दें। यह आसन सरल है। शीर्षासन इसकी अपेक्षा कुछ अधिक कठिन है। इस आसन को करते समय गल-ग्रन्थि पर ध्यान जमायें। प्रतिदिन दो बार इस आसन का अभ्यास ५ से २० मिनट तक करें। ठुड्डी को छाती पर दबायें।

मुझे ये दोनों आसन बहुत प्रिय हैं। जो लोग मेरा परामर्श लेने आते हैं, उन्हें मैं बराबर इन दोनों आसनों के साथ-साथ पश्चिमोत्तानासन के अभ्यास करने का परामर्श देता हूँ। मैं शीर्ष-सर्वाङ्गासन का बराबर प्रचार करता हूँ। इन तीनों आसनों के अभ्यास से आप सदा पूर्ण स्वस्थ रह सकते हैं। आपको अन्य शारीरिक व्यायाम या दूर तक पैदल घूमने की आवश्यकता नहीं रहेगी। साधारण शारीरिक व्यायाम करने से प्राण

शरीर से बाहर निकलता है; किन्तु आसन करने से प्राण शरीर में आता है। आसनों के अभ्यास से शरीर तथा स्नायु-मण्डल में प्राणों का वितरण बराबर से हो जाता है। इस प्रकार इन दोनों के प्रभाव भिन्न हैं। आसन शारीरिक ही नहीं आध्यात्मिक भी हैं; क्योंकि इनसे कुण्डलिनी-शक्ति जाग उठती है तथा यह राजयोग का तृतीय अङ्ग भी है। एक विशेष आसन एक विशेष रोग का निवारण करता है। आसनों की इस अद्भुत शक्ति को देखें। सर्वाङ्गासन मेरुदण्ड में रक्त केन्द्रित करता है और मेरुदण्ड-स्थित सभी स्नायु-मूलों को सुन्दर ढङ्ग से पोषित करता है। इस आसन के अतिरिक्त कोई ऐसा साधन नहीं है जिससे मेरुदण्ड-स्थित स्नायु-मूलों को पर्याप्त मात्रा में रक्त उपलब्ध हो सके।

इस आसन के अभ्यास से सामने वाली ग्रीवा की निचली ग्रन्थि को, जिसे गलग्रन्थि कहते हैं, समुचित पोषण प्राप्त होता है। गलग्रन्थि अप्रणाल अन्तःकर्परीय ग्रन्थि है, जिसमें एक अद्भुत उदासर्जन होता है। गलग्रन्थि शरीर के चयापचय में, इसकी वृद्धि, संरचना तथा विकास में आश्चर्यजनक भाग अदा करती है। चयापचय शरीर में निरन्तर होने वाले रचनात्मक एवं विघटनकारी परिवर्तनों का पूर्ण योग है। इस गलग्रन्थि का कार्यसम्बन्ध पोषग्रन्थि, मस्तिष्क की तृतीय नेत्र-ग्रन्थि, अधिवृक्क तथा यकृत, प्लीहा, अण्डकोष आदि की अप्रणाल ग्रन्थियों से है। गलग्रन्थि के रोगी होते ही अन्य सब ग्रन्थियाँ सुस्त पड़ जाती हैं और दुश्चक्र बन जाता है। सर्वाङ्गासन के अभ्यास से गलग्रन्थि स्वस्थ रहती है और गलग्रन्थि के स्वस्थ रहने पर शरीर के सभी अङ्ग अपना काम स्वस्थ रूप से करते हैं।

सर्वाङ्गासन से मेरुदण्ड बहुत ही लचीला रहता है। मेरुदण्ड के लचीला होने का फल है सदा रहने वाली युवावस्था। सर्वाङ्गासन कुण्डलिनी को जाग्रत करता, स्वप्नदोष को रोकता, कोष्ठबद्धता को दूर करता, पाचन में सहायक होता, हृदय को प्रफुल्लित करता, रक्त का शोधन करता है, स्नायुओं और मस्तिष्क को सबल बनाता तथा सभी प्रकार के रोगों को दूर करता है। सर्वाङ्गासन शक्ति प्रदान करता, बलवृद्धि करता तथा नव-चेतना देता है। शीर्ष-सर्वाङ्गासन करते रहने से यौवन की पुनर्प्राप्ति होती है और बन्दर के वृषण लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

६. पश्चिमोत्तानासन

भूमि पर बैठ जायें। अपने पैरों को भूमि पर फैला कर लकड़ी की भाँति कड़े रखें। पैर के अँगूठों को हाथों से पकड़ें। मस्तक को धीरे-धीरे दोनों घुटनों पर रखें। आप और अधिक झुक कर मस्तक को जङ्घाओं के बीच में भी रख सकते हैं। इससे

अनावश्यक चरबी कम होती है और जठराग्नि प्रदीप्त होती है। यह उदर के सभी रोगों तथा प्लीहा की अपवृद्धि से मुक्ति में लाभदायी है।

७. सुखपूर्वक-प्राणायाम

अपने ध्यान-गृह में अपने इष्ट-देवता के चित्र के समक्ष पद्मासन अथवा सिद्धासन में बैठ जाइए। दाहिने हाथ के अँगूठे से दाहिनी नासिका को बन्द कर दीजिए और बायीं नासिका से बहुत धीरे-धीरे श्वास लीजिए। अब दाहिने हाथ की कनिष्ठिका तथा अनामिका अँगुलियों से बायीं नासिका भी बन्द कर दीजिए। जितनी देर श्वास को सुखपूर्वक रोक सकें, रोके रखिए। तब अँगूठे को हटा कर बहुत ही धीरे-धीरे दाहिनी नासिका से श्वास निकाल दीजिए। अब आधी क्रिया समाप्त हो गयी है। तब दाहिनी नासिका से श्वास लीजिए। श्वास को पूर्ववत् रोकिए और बायीं नासिका से बहुत ही धीरे-धीरे श्वास को छोड़ दीजिए। इन छः क्रियाओं का एक प्राणायाम बनता है। बीस बार प्रातः तथा बीस बार सायङ्काल को इसे कीजिए। यह संख्या शनैः-शनैः बढ़ाते जाइए। यह भाव रखिए कि आपमें पूरक श्वास के साथ करुणा, प्रेम, क्षमा, शान्ति, आनन्द आदि सारी दैवी सम्पदाएँ प्रवेश कर रही हैं तथा रेचक श्वास के साथ काम, क्रोध, लोभ आदि सारी आसुरी सम्पदाएँ निष्कासित हो रही हैं। पूरक, कुम्भक तथा रेचक के समय ॐ, गायत्री अथवा किसी मन्त्र का मानसिक जप करें। परिश्रमी साधक ८० कुम्भक प्रति बैठक के हिसाब से चार बैठकों में ३२० कुम्भक कर सकते हैं।

यह प्राणायाम सारे रोगों को दूर करता, नाड़ियों को शुद्ध बनाता, धारणा-काल में मन को स्थिर करता, पाचन-शक्ति को बढ़ाता, जठराग्नि को प्रदीप्त करता, ब्रह्मचर्य-पालन में सहायता देता तथा मूलाधार में प्रसुप्त कुण्डलिनी को जाग्रत करता है। शीघ्र ही नाड़ियों का शोधन हो जाता है। आप भूमि से ऊपर उठ सकते हैं।

८. भस्त्रिका-प्राणायाम

लुहार की धौंकनी जिस प्रकार निरन्तर फैलती और सिकुड़ती रहती है, उसी प्रकार दोनों नाकों से धीरे-धीरे वायु ले कर पेट को फुलायें और तेजी से वायु को निकाल दें (वायु की आवाज धौंकनी-जैसी होगी)। दश से बीस बार तक इसी प्रकार श्वास लें और छोड़ें। तब सुखपूर्वक-कुम्भक करें—गम्भीर श्वास लेने के बाद धीरे-धीरे श्वास छोड़िए। इस प्रकार की भस्त्रिका तो तीन बार करें। आप सदा निरोग रहेंगे। इसके अभ्यास से गले की सूजन घटती, जठराग्नि प्रदीप्त होती, बलगम नष्ट होता, नाक तथा छाती के रोग मिटते तथा दमा, क्षय आदि रोग दूर होते हैं। यह क्षुधा को बढ़ाता है।

९. शीतली-प्राणायाम

दोनों ओष्ठों को सिकोड़ कर तथा जिह्वा को बाहर निकाल कर शू की आवाज के साथ मुँह से वायु अन्दर खींचें और धीरे-धीरे फुफ्फुसों को वायु से भर लें। जितनी देर सुविधा से हो सके, श्वास को रोके रखें, फिर दोनों नासारन्ध्रों से धीरे-धीरे श्वास छोड़ें। प्रतिदिन इसका अभ्यास करें। इससे रक्त शुद्ध होता तथा क्षुधा-पिपासा शान्त होती है। यह अपच पित्तविकार, श्लेष्मा, गुल्म, प्लीहा, क्षय, ज्वर आदि रोगों को नष्ट करता है।

१०. महामुद्रा

बायीं एड़ी से मल-द्वार को दबायें। दायाँ पैर सीधा करें और उसके अँगूठे को दोनों हाथों से पकड़ें। ठुड्डी को छाती पर दबायें। (श्वास को न लेते हुए) कण्ठ-नली को सिकोड़ें और दृष्टि को भृकुटि में स्थिर करें। इस मुद्रा के अभ्यास से क्षय, कोष्ठबद्धता, तिल्ली की अपवृद्धि, अपच और ज्वर सब दूर होते हैं। वस्तुतः यह सभी रोगों में गुणकारी है।

११. उड्डीयान-बन्ध

श्वास को बाहर निकाल दें और पूरी शक्ति लगा कर पेट की मांसपेशियों को अन्दर की ओर खींचें जिससे कि वे पीठ से जा लगें। प्रतिदिन पाँच-छः बार ऐसा अभ्यास करें। इससे वसा घटती है, कोष्ठबद्धता दूर होती है, पाचकाग्नि उद्दीप्त होती है, प्लीहा की अपवृद्धि कम होती है और शौच नियमित होता है। जो इसका अभ्यास करता है, वह मृत्यु पर विजयी होता है। यह प्राण और अपान दोनों को सुषुम्ना की ओर प्रेरित करता है। सभी बन्धों में यह श्रेष्ठ है। यह बहुत ही स्वास्थ्यप्रद है। इसका अभ्यास प्रतिदिन करें। इससे भूख बढ़ती है।

षष्ठ अध्याय

मन तथा उसके कार्य

१. साधना का सारांश

राजयोगी शनैः-शनैः इन आठ सोपानों पर चढ़ता है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। प्रारम्भ में वह यम तथा नियम के अभ्यास द्वारा अपने में नैतिक शुद्धता लाने का प्रशिक्षण प्राप्त करता है। तब वह आसन में स्थिरता लाता है। इसके पश्चात् वह मन को स्थिर बनाने तथा नाड़ी-शुद्धि के लिए प्राणायाम का अभ्यास करता है। तदनन्तर प्राणायाम, धारणा तथा ध्यान के अभ्यास से समाधि प्राप्त करता है। संयम के द्वारा उसे विभिन्न सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। वह मन में उठने वाली सारी चित्तवृत्तियों का निरोध करता है।

हठयोग भौतिक शरीर तथा प्राणायाम से सम्बन्ध रखता है। राजयोग मन से सम्बन्ध रखता है। राजयोग तथा हठयोग अन्योन्याश्रित हैं। दोनों के ज्ञान तथा अभ्यास के बिना कोई भी पूर्ण योगी नहीं हो सकता। हठयोग का समुचित अभ्यास जहाँ समाप्त होता है, वास्तविक राजयोग वहाँ से आरम्भ होता है। हठयोगी अपनी साधना का प्रारम्भ शरीर तथा प्राण से करता है, परन्तु राजयोगी अपने मन के स्तर से और ज्ञानयोगी अपनी बुद्धि तथा सङ्कल्प-शक्ति से आरम्भ करता है। यही मुख्य भेद है। राजयोग में सफलता-प्राप्ति के लिए व्यक्ति को मन के रहस्य तथा उसके नियन्त्रण की विधि का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए।

हठयोग के साधक को चाहिए कि वह आसन, प्राणायाम, मुद्रा तथा बन्ध के द्वारा मूलाधार-चक्र में प्रसुप्त कुण्डलिनी को जाग्रत करे। उसे प्राण तथा अपान के योग के लिए प्रयत्न करना चाहिए तथा संयुक्त प्राण-अपान को सुषुम्ना-नाड़ी से ले जाना चाहिए। कुम्भक-प्राणायाम से उष्णता बढ़ती है तथा वायु कुण्डलिनी के साथ विभिन्न चक्रों से होती हुई ऊपर सहस्रार-चक्र की ओर जाती है। जब कुण्डलिनी सहस्रार-चक्र में भगवान् शिव से युक्त होती है तब योगी समाधि प्राप्त कर परम शान्ति, आनन्द तथा अमरत्व का उपभोग करता है।

२. मन का विकास

मन तीन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में अपने को प्रस्तुत करता है। यह सामान्य बुद्धि से आरम्भ करता है और कोई वस्तु इन्द्रियों को जैसी भासती है उसी रूप में वह उसे

स्वीकार कर लेता है। वह यह विचार-विमर्श नहीं करता कि वह (वस्तु) यथार्थ है अथवा काल्पनिक, वह स्वयं में एकाकी है अथवा इसका सम्बन्ध किसी आधारभूत तत्त्व से है। अधिकांश लोग संसार के विषय में सामान्य बुद्धि के दृष्टिकोण से आगे कभी नहीं जाते और वस्तुतः इससे आगे बढ़ कर सोचना उनके वश की बात नहीं है। उनका विचार है कि सभी ज्ञान बाहर से उपलब्ध होता है तथा मानव-मस्तिष्क बाह्य पदार्थों से बिना किसी प्रतिकार के विचार प्राप्त करता है।

जब सामान्य बुद्धि पर्याप्त प्रौढ़ हो जाती है तब कुछ लोग जो बुद्धिमान् होते हैं उनमें वैज्ञानिक तर्क अथवा वैज्ञानिक समझ जाग्रत होती है। संसार जो सामान्य बुद्धि से पहले असम्बद्ध तथा एक के बाद एक आने वाली घटनाओं की शृङ्खला-सा प्रतीत होता था अब कारण-कार्य-सम्बन्ध के नियम द्वारा सम्बद्ध विभिन्न दृश्य-प्रपञ्चों की एक लगातार शृङ्खला माना जाने लगा। कुछ भी स्वच्छन्द नहीं है। सब नियति से बँधे हुए हैं। आवश्यक कारण प्रस्तुत कीजिए, आकाङ्क्षित परिणाम उसका अनुसरण करेगा। वैज्ञानिक मानते हैं कि मानव-मस्तिष्क दृश्य-प्रपञ्च तथा संयोजना-नियमों से परे नहीं जा सकता। वह परा सत्ता, इन नियमों का प्राणदायक तत्त्व क्या है, ऐसा विषय है जहाँ पहुँच कर वैज्ञानिक समझ रुक जाती है, इनके परे अज्ञात देश है।

इस तरह के भौतिक समाधान से असन्तुष्ट मनुष्य शनैः-शनैः अन्तर्मुख होता है और अपने अन्तःकरण की सूक्ष्म परिचर्या को निरखता-परखता है। जीव अपने को नित्य मुक्त समझता हुआ भी न जाने क्यों अपने को नियति की बेड़ी से बँधा हुआ अनुभव करता है। संसार के बाहरी पदार्थ उसे प्रभावित करते हैं और वह न चाहते हुए भी तदनुसार आचरण करता है। कालक्रमेण उसमें विवेक उत्पन्न होता है और वह निर्णय लेता है कि जिसके वशीभूत वह अपनी मर्यादा को समझने में अक्षम है, वह कोई और नहीं, उसका अधीनवर्ती मन है। यही मन जब तक उसे नाच नचाता रहा, बेचारा जीव अपने स्वरूप से अनभिज्ञ रहा; किन्तु इसे ही अपने अधीनवर्ती रूप में जान लेने पर जीवात्मा अपनी विक्षुब्धावस्था से अवकाश पा कर परम शान्ति और सुख प्राप्त करता है।

अन्तःकरण के नाम से मन चार भागों में विभक्त है। इस तरह का पदार्थ नित्य नहीं हुआ करता। इसका आदि तथा अन्त है। इसका क्षेत्र है। इसका अपना विस्तार भी है। यह सूर्य की रश्मियों की भाँति प्रकाशमान्, पारदर्शक तथा हलका है। यह चञ्चल है। मन चेतन पदार्थ है। राजसिक मन अणु है। सात्त्विक मन विभु है। इस प्रकार मन अणु भी है और विभु भी है। यह अणु इसलिए है कि एक बार में एक ही वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यह उस द्वारपाल की भाँति है जो एक बार में एक ही व्यक्ति को, एक ही विचार को अन्दर प्रविष्ट होने दे। जब मन की मलिनता दूर होती है तो यह विभु बन जाता है। योगियों का मन सत्त्व होता है। सत्त्वातीत मन ब्रह्मस्वरूप ही है। मानसिक जगत् एक ही है। वृत्तिभेद के कारण एक ही मन के चार नाम हैं—मन, बुद्धि, चित्त तथा अहङ्कार। मन कठोर नहीं है अर्थात् उसकी समाकृति सदा एक-सी नहीं रहती है, किन्तु प्रत्यास्थ है। मन की वृत्तियाँ सूर्य-रश्मि की भाँति दृश्य पदार्थ तक (शरीर को पूर्णतः छोड़ कर नहीं) जाती हैं और उसे व्याप्त कर लेती हैं तथा तत्स्वरूप हो जाती हैं। मन पदार्थ से प्रसूत है, ऐसा वेदान्त भौतिक अर्थ में नहीं मानता; किन्तु उन्हें मौलिक तथा साररूप में एक ही मानता है। चित्त (शुद्ध चेतना) एक-न-एक रूप में उन्हें प्रभावित अथवा क्रियाशील बनाता है। वे एक ही शक्ति के पदार्थ तथा ऊर्जा के रूप में भिन्न-भिन्न आकृतियाँ हैं।

३. प्रत्यक्ष ज्ञान का सिद्धान्त

अन्तःकरण के विभाग हैं। वह आकाश में गति कर सकता है। मन परिवर्तनशील तथा विभेदपूर्ण है। मन एक स्थान से दूसरे स्थान को आ-जा सकता तथा दृश्य पदार्थ का आकार धारण कर सकता है। पदार्थ तक जाने और उसका आकार धारण करने की क्रिया वास्तविक है। प्रकृति में कुछ भी स्थैतिक नहीं है। विशेषकर मन सदा जाने अथवा अनजाने में परिवर्तित होता रहता है। मन तेजस्वी, पारदर्शी तथा हलका होता है और इन्द्रियों के द्वारा सूर्य-रस्मि की भाँति आ-जा सकता है। इस भाँति मन सक्रिय शक्ति, क्रियाशक्ति का एक रूप है। क्योंकि मस्तिष्क, जो मन का ही एक अङ्ग है, एक यान्त्रिक ठोस आवरण में परिबद्ध है और बन्द-सा प्रतीत होता है; अतः यद्यपि यह वस्तुतः गुप्त प्रवृत्तियों के सूक्ष्म तथा सतत आदान-प्रदान द्वारा बाह्य जगत् के निरन्तर सम्पर्क में रहता है, पर कल्पना इसे बाह्य जगत् से पृथक् ही चित्रित किया करती है। मन गतिहीन, निष्क्रिय तथा मात्र ग्रहणशील वस्तु नहीं है। मन अपने कार्यकलापों तथा संस्कारों द्वारा उत्पन्न कार्यकलापों के स्वरूप के कारण प्रत्यक्ष ज्ञान की क्रिया में सक्रिय भाग लेता है। वेदान्त का निम्नांकित सुप्रसिद्ध अनुच्छेद प्रत्यक्ष ज्ञान का विवरण देता है।

एक जलाशय से निकल कर जल की धारा जब खेत में पहुँचती है तो खेत के आकार—वर्गाकार, त्रिकोणाकार या अन्य किसी आकार—में परिणत हो जाती है। इसी प्रकार तैजस अन्तःकरण चक्षु या अन्य किसी इन्द्रिय से बाहर जा कर जिस वस्तु को आवृत करता है, उससे तदाकार हो जाता है। अन्तःकरण की इस प्रक्रिया को वृत्ति कहते हैं। प्रोफेसर पी० एन० मुखोपाध्याय की मान्यता है कि पाश्चात्य मनोविज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान का एकाङ्गी चित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। बाह्य उद्दीपन पदार्थ इन्द्रियों को प्रभावित करता है तथा आकाश की तरङ्गें नेत्र-पटल को प्रभावित करती

हैं। मन तैजस के रूप में बाहर आता है और पदार्थ का आकार ले लेता है। अन्तःकरण सात्त्विक तथा तैजस होने से बाहर जा कर विषय-चैतन्य के रूप में विषय-अज्ञान को हटाता है (जैसे क्ष-रश्मि जो सामान्यतः स्वयं अदृश्य रहती है, अपारदर्शी पदार्थों को पारदर्शी बना देती है) और विषयाकार बन जाता है। वृत्त्यारूढ़ चैतन्य ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय अवस्था में क्रमशः प्रमातृ-चैतन्य, प्रमाण-चैतन्य और विषय-चैतन्य के नाम से अभिहित होता है।

४. शुद्ध तथा अशुद्ध मन

मन की उत्कृष्ट तथा निष्कृष्ट दो अवस्थाएँ हैं। ब्रह्मविद्यावादी निकृष्ट मन को काम मन कहते हैं। निकृष्ट मन अशुद्ध मन, नैसर्गिक मन, सकाम मन पद से वाच्य है। उत्कृष्ट मन का सात्त्विक मन तथा शुद्ध मन नाम भी है। जिसे मन का नाश कहा जाता है, वह निकृष्ट या अशुद्ध मन का ही नाश है। सात्त्विक मन तो ज्ञानी में भी रहता है। ज्ञानीजन इस तरह के मन तथा शरीर का उपयोग एक उपकरण के रूप में करते हैं। स्वरूपनाश और अरूपनाश नाम से दो मनोनाश हैं। मन का अरूपनाश केवल विदेह कैवल्य में ही होता है। स्वरूपनाश और अरूपनाश को क्रमशः गौण मनोनाश तथा मुख्य मनोनाश भी कहते हैं। मुक्तिकोपनिषद् में अरूपनाश तथा स्वरूपनाश का वर्णन करते हुए श्रीराम जी हनुमान् से कहते हैं कि अरूपनाश या गौण मनोनाश की अवस्था जीवन्मुक्ति प्रदान करती है, जबकि स्वरूपनाश या मुख्य मनोनाश के अनन्तर जिज्ञासु विदेह-मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। मन की मलिनता के निवारण के साथ-ही-साथ निकृष्ट मन का नाश हो जाता है और सात्त्विक मन, उत्कृष्ट मन बना रहता है। जीवन्मुक्त के शरीर-त्याग करने पर उत्कृष्ट मन भी पूर्णतः नष्ट हो जाता है। यह ब्रह्म में लीन हो जाता है, क्योंकि यह चैतन्य में परिणत हो जाता है। शुद्ध मन ब्रह्म ही है। जैसे कर्पूर अग्नि के और नमक जल के सम्पर्क में आ कर क्रमशः अग्नि और जल ही बन जाता है, वैसे ही विदेहमुक्ति के साथ सात्त्विक मन भी ब्रह्मरूप ही हो जाता है।

काम, क्रोधादि छः प्रकार के विकारों से मुक्त हो कर मन आपका गुरु बन जाता है। आपका अन्तःकरण आपकी प्रत्येक समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है। अन्तःकरण की इस सूक्ष्म तथा मौन वाणी को ध्यानपूर्वक सुनने के लिए अपने को प्रशिक्षित कीजिए। सभी ज्ञान अन्दर से ही आता है।

५. ज्ञानी में मन

सुषुप्ति-अवस्था में जैसे मन अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है, वैसे ही ज्ञानी में निवास करने वाला मन बहुत सूक्ष्म होता है।

निर्विकल्प-समाधि में मन का सर्वथा नाश नहीं होता, बल्कि यह सुषुप्ति की भाँति सूक्ष्मावस्था में होता है। ज्ञानी की आहार-विहारादि की क्रियाओं को ठीक से समझना कठिन है। उसका जीवन प्रारब्ध-भोगार्थ होता है। मन की वृत्तियों द्वारा ही सुख-दुःखादि अनुभव किये जाते हैं। अतः ज्ञानी अपने प्रारब्ध भोग के लिए इन वृत्तियों को बनाये रखता है, पर उसका मन इनसे असम्पृक्त रहता है; क्योंकि वह अपने स्वरूप से, ब्रह्म से तादात्म्य करता है, अपने शरीर से नहीं। यद्यपि यह बात सर्वथा भिन्न है, तथापि यदि शरीर में फोड़ा हो जाये तो शरीर निश्चय ही प्रभावित होगा।

संस्कारसहित-वृत्तिहीन मन सूक्ष्म मन कहा जाता है। मन दो पदार्थों के साथ रहता है। वह या तो प्रत्यक्ष ज्ञान के समय वृत्तियों के द्वारा पदार्थ के साथ होता है या संस्कारों के साथ रहता है। सविकल्प-समाधि में यह सूक्ष्म मन रहता है। राजयोगी सविकल्प-समाधि की अवस्था में इस सूक्ष्म मन द्वारा कार्य करता है। यदि यह सूक्ष्म मन भी नष्ट कर दिया जाता है तो व्यक्ति निर्विकल्प-समाधि में प्रवेश कर जाता है।

एक सामान्य विचार को साथ ले कर ज्ञानी निर्विकल्प, निर्बीज या असम्प्रज्ञात-समाधि में प्रवेश कर जाता है। हठयोगी अपनी कुण्डलिनी जाग्रत करके समाधि में प्रवेश करता है। सामान्य विचार के (ज्ञान-मार्ग) द्वारा समाधि में प्रवेश करना कुण्डलिनी जाग्रत करके (हठयोग द्वारा) समाधि में प्रवेश करने की अपेक्षा कठिन है।

एक भ्रमर किसी कीड़े को पकड़ लाता है और उसे अपने छत्ते में रख देता है। वह कीड़े को कई बार डङ्क मार कर छत्ते को बन्द कर देता है। कीड़ा भ्रमर के डङ्क की पीड़ा को भुला नहीं पाता। वह भ्रमर का निरन्तर चिन्तन करता रहता है और भ्रमर के सतत चिन्तन से स्वयं भ्रमर बन कर छत्ते से बाहर निकलता है। इसी भाँति ज्ञानयोग के साधक का मन औपनिषदिक ब्रह्म के श्रवण, मनन तथा निरन्तर निदिध्यासन से ब्रह्मरूप हो जाता है। जैसा वह सोचता है वैसा ही वह बन जाता है। मन जिस विषय का गम्भीरता से चिन्तन करता है, वह उसी का रूप धारण कर लेता है। यह अनन्त रूप से विकसित हो कर ब्रह्म में लीन हो जाता है। मन अणु है और विभु भी। मन एक बार में एक ही कार्य कर सकता है, सुनता है तो देख नहीं पाता और देखता है तो सूँघ नहीं पाता। इस अवस्था में यह अणु है, किन्तु समाधि के संस्कारों से परिशुद्ध हो कर यह व्यापक और महान् बन जाता है।

सागर के तट पर खड़े हो कर आप सागर की विशालता को निरखते हैं। इस समय आपका मन सागर जितना विशाल हो गया है। पर्वत की चोटी पर खड़े हो कर नीचे सुविस्तृत भूखण्ड को देखते हैं तो आपका मन तदनुसार विस्तृत हो जाता है। राजपूताना के बञ्जर पठार को देखते हैं तो आपका मन उतना ही फैल जाता है।

ध्यानकक्ष में आ कर आप विभु नीले आकाश को देखें तो मन आकाश के समान चतुर्दिक् व्याप्त प्रतीत होगा। इन अनुभवों पर ध्यान दें।

६. मन—एक भयभीत पक्षी

भूखा बाज पक्षी अपने शिकार के लिए अन्य पक्षी का पीछा करता है। वह भयभीत पक्षी अपनी सुरक्षा के लिए मकान के एक कमरे में घुस जाता है। लेकिन जब वह बाहर निकलता है तो बाज फिर उसका पीछा करता है। वह फिर कमरे में घुस जाता है। वह अनेक बार बाहर आता है और अनेक बार बाज उसका पीछा करता है। वह पक्षी भयभीत तथा व्यग्र हो जाता है। प्रारम्भिक अवस्था में ध्यानाभ्यासी साधक के मन की अवस्था ऐसी ही होती है। उसका मन यथा-स्थान जाने का प्रयत्न करता है, पुनः बाहर आ जाता है और भयभीत पक्षी की भाँति एक विषय से दूसरे विषय पर मँडराता रहता है। पुनः वह अपने मूलस्थान की ओर जाता है। वह पुनः बाहर आता है। इस भाँति उसका मन कभी विषयों की ओर तो कभी स्वरूप की ओर दौड़ता-भागता है। निरन्तर तथा स्थिर अभ्यास के द्वारा मन को विषयों से समाहृत कर अनवरत निदिध्यासन द्वारा उसे आत्मा में केन्द्रित करना होता है। चिन्तन, मन की एकाग्रता, शरीर से पृथक् होने का प्रयास तथा चित्त की वृत्तियों का मूक साक्षी होने की भावना का अभ्यास साथ-साथ चलना चाहिए। ध्यान से प्राप्त कुशाग्र बुद्धि, शक्ति तथा अभ्यासशीलता—ये सफलता के तीन आवश्यक घटक हैं। लक्ष्य की प्राप्ति के लिए धृति तथा उत्साह नितान्त अपरिहार्य हैं। इन गुणों का शनैः-शनैः तथा स्थिरतापूर्वक विकास करना चाहिए। अनावश्यक चिन्ता से बचें। दुःखी न हों। उद्विग्न न हों। आलस्य तथा समय का अपव्यय न करें। यदि प्रगति में विलम्ब हो तो चिन्तित न हों। धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करें। यदि आप अपनी साधना में सच्चे हैं तथा आपमें दृढ़ मुमुक्षुत्व और वैराग्य है तो आपकी सफलता अवश्यम्भावी है। जैसे एक टिटि्टभ पक्षी ने पत्ती से समुद्र का जल उलीच देने को सोचा और उसे रिक्त करने के लिए दोगुने उत्साह से कार्यतत्पर हो गया, आपमें भी वैसा ही दृढ़ धैर्य तथा प्रबल अध्यवसाय होना चाहिए।

७. मन—एक नटखट बन्दर

आपको याद होगा की नवयुवक ब्रह्मचारी सदा नटखट हुआ करते हैं। वे कार्यपराङ्मुख होते हैं। एक ब्रह्मचारी कुछ लोगों के साथ स्वर्गाश्रम से मुनिकीरेती की ओर एक नौका से गङ्गा पार कर रहा था। उस नौका में एक बाल बन्दर भी था। उसमें एक सुरा-विक्रेता भी सुरा-पात्र लिये बैठा था। उस बन्दर ने उस पात्र से जी भर कर सुरा पी ली। यह नटखट ब्रह्मचारी बन्दर के साथ खेलवाड़ कर रहा था। नौका में एक बिच्छू ने बन्दर के पैर में जोर से डङ्क मार दिया। ब्रह्मचारी ने झाड़ू की एक सींक उठायी और उसे बन्दर के मुख में चुभा दी। अब देखिए, क्या हुआ? बन्दर स्वभाव से ही बहुत नटखट होता है। उसने खूब सुरा पी ली थी। उसके अतिरिक्त बिच्छू ने उसे डङ्क मारा था। ब्रह्मचारी ने उसे झाड़ू की तीक्ष्ण तीली से क्षुब्ध किया। जरा कल्पना करें कि उस समय उसकी मानसिक स्थिति क्या रही होगी। बन्दर बहुत ही उग्र तथा ऊधमी बन गया। वह नौका के एक छोर से दूसरे छोर तक छलाँग लगाने लगा। उसने बहुत शरारत की। नौका में बैठे लोग इतनी मुसीबत में पड़े कि सब लोग सिमट कर एक कोने में पहुँच गये जिससे नौका उलट गयी।

यही दशा मानव के भावात्मक मन की है। कामवासनाओं, मनोविकारों, लौकिक वासनाओं, संस्कारों, संवेदनाओं तथा भावनाओं से पूर्वतः सन्तृप्त है, फिर आप उसे नाना प्रकार के कामोत्तेजक पदार्थों, भोजनोद्दीपकों से और आगे धकेलते हैं। आप नाट्यशालाओं, तमाशों, चलचित्रों के उत्तेजक वातावरण में रहते, कामुक उपन्यासों के पढ़ने में संलग्न होते तथा अनात्म विषयों की चर्चा करते हैं। अतः आपकी अवस्था उस बन्दर से अच्छी नहीं है जिसने नौका उलट दी। आपको एक क्षण के लिए भी मानसिक शान्ति नहीं है। परेशानियाँ, चिन्ताएँ, झञ्झटें तथा कठिनाइयाँ आपको मार डाल रही हैं। आप काम, क्रोध, राग तथा द्वेष से इधर-उधर आलोड़ित हो रहे हैं। आप अनादि-अनन्त संसार-चक्र में परिभ्रमण कर रहे हैं। मानसिक वैराग्य तथा मानसिक संन्यास प्राप्त करें। योग, ध्यान तथा निदिध्यासन का अभ्यास करें। प्रथम साधन-चतुष्टय प्राप्त करें। एकमात्र ध्यान ही आपको अपने मन के नटखट स्वभाव को नष्ट करने में सहायक होगा।

८. मन—एक नादान बच्चा

ईसामसीह का उपदेश है : "सतर्क रहें और प्रार्थना करें।" मन को देखते रहें। चित्तवृत्तियों की गतिविधियों को देखते रहें। उन्हें खदेड़ दें। उनका उन्मूलन करें। विचारों का अस्तित्व मिटा डालें। उन्हें नष्ट कर डालें। यह योग अथवा दार्शनिक की सङ्कल्प-शक्ति द्वारा किया जाता है। यदि आप भक्त हैं तो प्रभु की पूर्ण, उन्मुक्त तथा अप्रतिबन्ध शरणागति लें अथवा उनको आत्मनिवेदन, आत्मसमर्पण कर उनसे प्रार्थना करें। आपके इष्टदेवता आपकी सहायता करेंगे। यदि आप ध्यान-काल में मन को देखें तो यह ठीक एक नादान बच्चे की तरह व्यवहार करता हुआ दिखायी पड़ेगा। बच्चा कोयला खाने को भागता है। आप उसे वहाँ से हटा कर मिठाई खाने को दे दें। ज्यों-ही मिठाई समाप्त होती है, वह पुनः राख खाने के लिए दौड़ पड़ता है। इसी भाँति मन पूर्व भोगे हुए भोग्य-पदार्थों की ओर दौड़ता-भागता रहता है। वह उनके विषय में

निरन्तर तथा भावपूर्ण ढङ्ग से सोचता रहता है। यह उसका पुराना स्वभाव है। वह उन्हें कभी नहीं त्यागेगा। वह पुरानी लीकों पर चलने का यत्न करता है। वह ध्यान के प्रारम्भ-काल में नयी लीक पर, नयी प्रणाल में, सगुण मूर्ति अथवा निर्गुण के नये मार्ग पर, अनन्त प्रकाश में कुछ समय तक, चार-पाँच मिनट तक चलता है और पुनः पूर्व-अनुभूत विषयों की ओर दौड़ जाता है। चलने का प्रयास करने वाला बच्चा कुछ पग चलता है और गिर पड़ता है। यह पुनः उठता है और फिर गिरता है। इसी भाँति मन भी कुछ मिनटों तक अपने लक्ष्य (ईश्वर अथवा ब्रह्म) का ध्यान करता है और पुनः दलदल में, विषयों के पङ्किल सरोवर में जा गिरता है। आपका मन जिस गँदले, कीचड़दार दलदल में गिर गया है उससे आपको उसे पुनः निकालना होगा। उसे फुसलायें और सकारात्मक उदात्त विचारों से उसे प्रफुल्ल, प्रसन्न तथा उल्लसित बनायें। जैसे गुल्ली-डण्डे के खेल में बालक छोटी लकड़ी (गुल्ली) को बड़ी लकड़ी (डण्डे) से धक्का दे कर हवा में उछाल देता है वैसे ही आपको उदात्त विचारों द्वारा मन को उन्नत तथा विस्तृत बनाना होगा। उदात्त तथा आध्यात्मिक विचारों द्वारा मन को उन्नत बनायें, ब्रह्माकार-वृत्ति द्वारा उसे विस्तारित करें तथा स्थिर और सतत अभ्यास द्वारा उसे आत्मा में स्थित करें।

९. मन—एक उच्छृंखल साँड़

एक जमींदार के एक बहुत ही उच्छृंखल साँड़ था। वह घर में घास-भूसा कुछ भी नहीं खाता, पड़ोसियों के खेतों में इधर-उधर फिरता, उनकी लहलहाती फसलें उजाड़ देता, उन्हें खा जाता था। जमींदार ने साँड़ को पकड़ कर घर में सुन्दर स्वादिष्ट बिनौला, चना, भूसी, हरी घास आदि खिलाने-पिलाने की लाख कोशिश की; किन्तु जैसे ही उसे छोड़ता, वह पुराने खेतों की ओर तुरन्त भाग जाता। जमींदार उसे अपने घर वापस लाता और अच्छी तरह खिलाता। कुछ दिनों में साँड़ को घर का आहार स्वादिष्ट लगने लगा और वह फिर कभी खेतों में नहीं गया।

इसी तरह भ्रमणशील मन को सहज ही वश में किया जा सकता है। एक धीर साधक के लिए कुछ भी कठिन नहीं है। मन उच्छृङ्खल साँड़ की तरह है। इसके सामने ध्येय के रूप में कृष्ण, राम अथवा चतुर्भुज महाविष्णु की किसी सगुण प्रतिमा को रखिए। मन जितनी बार बाहर जाता है, ला कर फिर-फिर इसी मूर्ति पर टिकाइए जैसा कि जमींदार ने अपने साँड़ के साथ किया था। निरन्तर अभ्यास से जब आप इस धारणा में पटु हो जाते हैं तब 'मैं अनन्त सर्वव्यापक प्रकाश हूँ' का निर्गुण ध्यान आरम्भ कर सकते हैं। बारम्बार के अभ्यास से कुछ समय में मन विषयों की ओर नहीं

भागेगा। वह अपने अन्दर ही सच्चा सुख प्राप्त करेगा और ब्रह्म में निमज्जित हो जायेगा।

१०. मन—एक उच्छृङ्खल घोड़ा

मान लीजिए, आपके अस्तबल में एक उच्छृङ्खल घोड़ा है। इसे अभी शिक्षा-दीक्षा कम ही मिली है। एक बार आप इसे चराने के लिए अस्तबल से बाहर ले जाते हैं तो यह दोबारा वापस जाने को तैयार नहीं होता। यह आपके बँगले के अहाते में यहाँ-वहाँ भागता-फिरता है; अन्दर अस्तबल में जाना नहीं चाहता। इसे अन्दर ले जाने की दो ही विधियाँ हैं। एक तो कोड़े मार-मार कर ले जाने की क्रूर विधि है। दूसरी सौम्य विधि है। घास का एक गुच्छा अथवा उबले हुए कुछ चने इसके मुँह के सामने ला कर रखें। यह खाने को आगे बढ़े तो मत दें, गुच्छे को आगे-आगे बढ़ाते चलें। यह आपके पीछे-पीछे चलता जायेगा। इस तरह अस्तबल के अन्दर तक ले जायें और उसे अन्दर ही बन्द कर दें।

इसी भाँति अनुशासनहीन मन उच्छृङ्खल घोड़े की तरह है। प्राणायाम तथा हठयोग की अन्य साधनाएँ एक अर्थ में उग्र तथा क्रूर हैं। सौम्य विधि है मन की समता का विकास। जब आप समता में संस्थित हो जायेंगे तो आपको अपूर्व सुख, अनन्त आनन्द प्राप्त होगा। समता की अवस्था शनैः-शनैः मानसिक प्रशिक्षण से प्राप्त की जाती है। मन में राग-द्वेष के दो प्रवाहों को नष्ट करना चाहिए। समता सङ्कल्प के विकास को तीव्र करती है। सभी प्रकार के मनोविकार इस एक ही मनोविकार, राग-द्वेष से उत्पन्न होते हैं। ये प्रवाह ही आपको प्रवृत्ति की ओर खींच लाते हैं। वे आत्मसमर्पण के शत्रु हैं। कामना और अहङ्कार को नष्ट कर डालिए। अभिनिवेश को, जीवन तथा विषय-भोगों की तृष्णा को मार डालिए। विवेक, वैराग्य, तितिक्षा, उदासीनता तथा विचार का विकास कीजिए। निरन्तर सत्सङ्ग कीजिए। ये प्रवाह समाप्त हो जायेंगे। ये प्रवाह ही सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, शीत-उष्ण, सद्-असद् के विचार उत्पन्न करते हैं। द्वन्द्व भ्रामक हैं। आप सुख को दुःख में और दुःख को सुख में परिणत कर सकते हैं। एक शाकाहारी व्यक्ति अध्ययन के लिए इंग्लैण्ड जाता है। वहाँ पर आमिषाहारी व्यक्तियों से मिलने-जुलने पर मांस चखना आरम्भ कर देता है। इससे उसे आरम्भ में पीड़ा तथा अरुचि होती है और मतली आती है। वह कुछ दिनों तक मांस खाना चालू रखता है। कुछ सप्ताह में वह मांस को हृदय से चाहने लगता है। छः माह में वह एक बार में चार पौण्ड मांस खा जाता है और पक्का मांसाहारी बन जाता है। यही दशा मदिरा-पान की भी है। एक मद्यत्यागी जबर्दस्त पियक्कड़ बन जाता है। उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में मांस तथा मदिरा, जो कभी घृणा तथा दुःख उत्पन्न

करने वाले पदार्थ थे, अब सुख तथा प्रेम प्रदान करते हैं और सुख तथा राग के भाजन बन गये हैं। आपने इन दोनों पदार्थों के सम्बन्ध में अपने विचार, अपनी चिन्तन-पद्धति बदल कर दुःख को सुख में परिणत कर लिया है।

मान लें कि आपको चाय प्रिय है और आपने आध्यात्मिक जीवन स्वीकार कर लिया है। आपके गुरु कहते हैं : "चाय नहीं पीनी चाहिए; क्योंकि इससे पाचन-तन्त्र बिगड़ जाता है तथा स्वप्नदोष होता है। यह आध्यात्मिक साधना के लिए हानिकारक है।" इन बातों को सुनते ही आप चाय पीना छोड़ देते हैं। आपने चाय के विषय में अपना विचार बदल दिया। जो वस्तु आपको सुख दे रही थी, अब दुःख देने लग गयी है। आपने सुख को दुःख में परिणत कर लिया। दूध किसी को सुख देता है तो किसी को दुःख। स्वस्थ रहने की अवस्था में सुखद और ज्वर की दशा में दुःखद होता है। जब आप दूध का प्रथम प्याला पीते हैं तो उससे आपको सुख प्राप्त होता है, किन्तु दूसरा तथा तीसरा प्याला पीने से वमन होने लगता है। यह सब क्या है? यह माया है। सुख तथा दुःख सापेक्ष शब्द हैं। सुख तथा दुःख किसी वस्तु में नहीं रहा करते। ये व्यक्ति के मन की उपज हैं। आम मधुर नहीं हैं। आम का विचार मधुर है। माया आपको भुलावे में डालती है। इन्द्रियाँ आपको अन्धाधुन्ध धोखा देती हैं। मन आपको ठगता, प्रलोभित करता, धोखा देता, बढ़ा-चढ़ा कर कहता, अतिरञ्जित करता तथा अनावश्यक भयभीत बनाता है। सदा सतर्क रहें। भला-बुरा, पाप-पुण्य, शत्रु-मित्र की भावना केवल मन की सृष्टि है। जो व्यक्ति आपका शत्रु है, वही किसी दूसरे व्यक्ति का मित्र है। जो व्यक्ति पहले मित्र था, आज शत्रु है। राग-द्वेष का कोई वास्तविक स्वरूप नहीं है। वे भ्रामक हैं। उनको नष्ट कीजिए। समता की अवस्था में विश्राम कीजिए। निर्द्वन्द्वावस्था प्राप्त कीजिए। शान्ति में विश्राम कीजिए।

११. इन्द्रियों को सदा वश में रखें

इन्द्रिय-संयम बहुत ही आवश्यक है। इन्द्रियों पर पूर्ण संयम के बिना आप आध्यात्मिक मार्ग में कुछ भी नहीं कर सकते हैं। जिसने अपनी इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्त कर लिया, वह स्थितप्रज्ञ है। आप पूर्ण प्रत्याहार के बिना शारीरिक चेतना से ऊपर नहीं उठ सकते। प्रत्याहार केवल आत्म-नियन्त्रण, इन्द्रिय-संयम से ही सम्भव हो पाता है। इन्द्रियों को नियन्त्रित किये बिना आप धारणा का अभ्यास नहीं कर सकते। यदि आपने इन्द्रियों को अनियन्त्रित छोड़ दिया तो अल्पविकसित वैराग्य के नष्ट होने की सम्भावना रहती है। इन्द्रियों का रजोगुणी विद्रोह आध्यात्मिक संस्कारों का भी सत्यानाश कर डालता है। अतः इन शान्ति के शत्रुओं को दमन करने में सदा बड़ी सावधानी बरतनी चाहिए। ज्ञान-योगियों को भी इन्द्रियों का नियन्त्रण करना चाहिए।

इन्द्रियों का नियन्त्रण दम है जो ज्ञानयोग के साधकों की षट्सम्पत्तियों में से एक है। जिह्वा सबसे बुरा शत्रु है। जिह्वा के नियन्त्रण से सभी इन्द्रियों का नियन्त्रण हो जाता है। तीन वर्ष तक नमक का सेवन त्याग दीजिए। इससे जिह्वा स्वयं ही नियन्त्रित हो जायेगी। दूध, चावल, फल, नमक-रहित दाल, नमक-रहित शाक, चीनी आदि का सेवन करें। दो वर्ष तक मौन रखें। इससे आप वागिन्द्रिय का नियन्त्रण कर सकते हैं। लगातार तीन घण्टे तक एक आसन में बैठने का प्रयास करें। इससे आप पैरों पर नियन्त्रण रख सकते हैं जो शरीर को निरन्तर गतिशील बनाये रखते हैं। प्राणायाम, उपवास, शीर्षासन, सर्वाङ्गासन, सिद्धासन—ये सब जननेन्द्रिय के नियन्त्रण में सहायक होते हैं। त्राटक से नेत्र अन्धाधुन्ध नहीं भागते। चलते समय नासिकाग्र पर त्राटक करें। योनिमुद्रा प्रारम्भ में कानों के नियन्त्रण में सहायक होती है। कठोर चटाई पर सोयें। इस प्रकार आप शरीर की सभी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रख सकते हैं।

१२. चञ्चल मन पर विजय पाइए

अपने मन की आदतों और उसकी युक्तियों को अच्छी तरह जानना चाहिए। तभी मन पर नियन्त्रण स्थापित करना सरल होगा और तभी सङ्कल्प को शक्तिमय, स्मृति को विकसित तथा विचारों को परिशुद्ध कर सकेंगे। मन की एक आदत (जो सबसे मुख्य है) इधर-उधर घूमने की है। एक लक्ष्य पर जमे रहना मन के लिए असम्भव-सा है। यह वायु की तरह इधर-उधर घूमते रहता है। श्रीकृष्ण से अर्जुन ने कहा था :

"चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ (*गीता* : ६-३४)

—हे कृष्ण! मन चञ्चल है, प्रमथन करने वाला है, यह बली तथा दृढ़ है। इसका निग्रह वायु के समान दुष्कर है।"

इस पर श्रीकृष्ण ने कहा : "हे अर्जुन निस्सन्देह मन का निग्रह कठिन है और यह चञ्चल भी है; किन्तु निरन्तर अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इस पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है" (गीता : ६-३५)। यहाँ पर भगवान् श्रीकृष्ण मन पर नियन्त्रण स्थापित करने का उपाय स्पष्ट शब्दों में सूचित करते हैं। मन पर विजय पाने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम इच्छाओं का उन्मूलन करें और इन्द्रियों पर अपना अधिकार पूर्णतया स्थापित कर लें। मन के चञ्चल होने का कारण और है ही क्या—केवल इच्छा ही तो मन को व्यग्र और उद्विग्न बनाया करती है। इन्द्रियाँ विषयों के पीछे भागा करती हैं और मन इन्द्रियों का अनुसरण करता है, जैसे कुत्ता स्वामी का। विषय पदार्थों में रमे रहने के कारण मन की वृत्तियाँ (किरणें) इतस्ततः बिखरी हुई रहती हैं। विषय-पदार्थों को पाने, उन पर अपना अधिकार स्थापित करने तथा उनको

भोगने की इच्छा होने के कारण मानसिक शक्तियाँ छितरी हुई रहती हैं। अभी मन सुन्दर गीत सुनना चाहता है। वह तुरन्त कर्मेन्द्रियों (पाँव) और ज्ञानेन्द्रियों (कानों) को आदेश देता है। पाँव कहते हैं : "प्रिय महोदय मन ! हम आपको रेडियो तक ले जाने के लिए सदा तैयार हैं। हम केवल आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहे हैं। आइए। प्रस्थान कीजिए।" कान भी सम्मिलित हो जाता है : "श्रीमान् ! मैं आपके साथ की प्रतीक्षा ही कर रहा हूँ। मैं आपसे अधिक उत्सुक हूँ। मैं उत्सुकता से आपके आदेश की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।" यह क्षुद्र जीव मन के पाश में बँध जाता है। कुछ ही देर में जिह्वा कहती है : "आप मेरे प्रति निर्दयी तथा पक्षपाती क्यों हैं? मैं कान तथा पाँव के समान ही आपकी प्रिय मित्र हूँ। सिटी रेस्तरा या ताजमहल होटल चलें। वहाँ प्रथम श्रेणी की काफी तथा काश्मीरी सेब मिलते हैं। मेरी उपेक्षा न करें। मैं भी आपकी सर्वोत्तम मित्र हूँ। मैं ही शरीर को जीवित रखती हूँ। यदि मैं कोई आहार न ग्रहण करूँ तो यह शरीर नष्ट हो जायेगा और आपको यह शरीर छोड़ना पड़ जायेगा।" जब मनुष्य स्वादिष्ट, कीमती भोजन ले लेता है तब शिश्नेन्द्रिय उत्तेजित हो उठती है और मनुष्य में काम-वासना प्रज्वलित होने लगती है; क्योंकि शिश्नेन्द्रिय जिह्वा की मित्र है। दोनों ही इन्द्रियाँ एक ही तन्मात्रा से उत्पन्न हुई हैं। जिह्वा सात्त्विक अंश से उत्पन्न हुई, अतः वह ज्ञानेन्द्रिय है। शिश्नेन्द्रिय राजसिक अंश से उत्पन्न हुई, अतः वह कर्मेन्द्रिय है। शिश्नेन्द्रिय कहती है : "मैं ही इस विश्व-नाटक को सञ्चालित करती हूँ। यदि मैं कार्यविरत हो जाऊँ तो यह विश्व समाप्त हो जाये। मेरे द्वारा ही लोग प्रजनन में समर्थ होते हैं। इसलिए आइए। मेरे साथ सम्मिलित होइए और जैसा कि आपने कर्णेन्द्रिय तथा जिह्वा के साथ किया है वैसे ही मुझे भी सन्तुष्ट कीजिए।" इस प्रकार मनुष्य को पाँचों इन्द्रियाँ भटकाती रहती हैं। उसे क्षण-भर का विश्राम नहीं मिलता। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों तथा क्षुद्र जीव के साथ मन इनमें रमण करता है।

यदि रमण करते हुए मन पर नियन्त्रण स्थापित करना है तो सभी प्रकार की वासनाओं और इच्छाओं का त्याग कर देना होगा और इन्द्रियों पर अपना पूर्ण आधिपत्य जमा लेना होगा। तभी धारणा, ध्यान, स्मृति-साधना और विचार-साधना में सफलता प्राप्त हो सकती है।

जब-जब मैं उत्तर प्रदेश, पञ्जाब, काश्मीर तथा आन्ध्र प्रदेश में व्याख्यानार्थ पर्यटन के लिए गया तो अनेक शिक्षित व्यक्तियों से मिला था; वे मुझसे पूछते थे : "स्वामी जी ! धारणा तथा ध्यान किस प्रकार किये जायें? हम लोग गत बारह वर्षों से ध्यानाभ्यास कर रहे हैं; किन्तु सफलता अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी।"

इसका कारण यही है कि वे लोग ध्यान करने का वैज्ञानिक तथा वैधानिक तरीका अभी तक नहीं समझ पाये हैं। उन्होंने चित्त-शुद्धि नहीं प्राप्त की है। उनमें

लोक-वासना वर्तमान है। उनका मन सन्तुलित तथा अनुशासनबद्ध नहीं है। इन प्रारम्भिक आवश्यक साधनाओं में सफल हुए बिना वे धारणा करना चाहते हैं। यह कैसे सम्भव हो सकता है? यह तो किसी मदमत्त हाथी को रेशम के पतले धागे से बाँधने का असफल प्रयास हुआ। श्रीकृष्ण भगवान् ने अस्थिर मन को स्थिर करने के लिए यह उपदेश दिया : "सङ्कल्पजात कामना-समूह को निःशेष परित्याग कर एवं मन के द्वारा इन्द्रिय-समूह को विषय-व्यापार से सब ओर से निवृत्त करके धैर्यानुगत बुद्धि द्वारा धीरे-धीरे उपरामता को प्राप्त हो तथा मन को आत्मा में स्थित करके कुछ भी चिन्तन न करे। यह स्थिर न रहने वाला चञ्चल मन जिन-जिन विषयों में जाता है, उस-उस विषय से प्रत्याहरण कर उसे आत्मा के ही वशीभूत करे।"

भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेशों पर ध्यान दें : "सभी कामनाओं का निःशेष त्याग करना चाहिए।" प्रायः देखा जाता है कि कुछ साधक आत्मतृप्ति के लिए अपने मन में कुछ इच्छाएँ रखे रहते हैं। उनके मन में कुछ-न-कुछ इच्छाएँ वर्तमान रहती हैं। एक गृहस्थी, जो एकाग्रता और ध्यान का अभ्यास करता है, पूर्णतः इच्छाहीन हो, ऐसा हो नहीं सकता। कुछ-न-कुछ इच्छा उसमें आत्म-सन्तोष के लिए छिपी हुई रहेगी। इससे यह होता है कि उन लोगों की शक्ति निचले छिद्र से टपकती रहती है और परिणामस्वरूप वे विशेष उन्नति नहीं कर पाते। अभ्यास करते-करते वे चार-पाँच सोपान पार कर लेते हैं, किन्तु सहसा नीचे आ गिरते हैं। मानसिक विक्षेप और मन के परिभ्रमण को रोकने के लिए परिपूर्ण वैराग्य की आवश्यकता है। इन्द्रियों का चारों ओर से दमन होना चाहिए। 'चारों ओर से' शब्द पर ध्यान दें।

इन्द्रियों में से किसी एक का नियन्त्रण करना पर्याप्त नहीं होगा, बल्कि सभी इन्द्रियों को सभी ओर से वश में करना होगा। यह मुख्य विषय है, इसे नहीं भूलना चाहिए। यह अवश्य है कि अभ्यास और साधना कठिन तथा परिश्रमपूर्ण है; किन्तु इससे हतोत्साह हो जाने की कोई आवश्यकता नहीं। साधना करते रहें और धैर्यपूर्वक उसकी प्रतिक्रिया पर भी ध्यान देते जायें। कुछ लोगों में यह भूल है कि वे अत्यन्त उत्साह और धड़ल्ले से साधना आरम्भ कर देते हैं। तीन महीनों तक वे छः घण्टे प्रतिदिन एकाग्रता का अभ्यास किया करते हैं; किन्तु तीन महीनों के बाद, जब देखते हैं कि उनको कोई भी सिद्धि प्राप्त नहीं हुई, अभ्यास को त्याग देते हैं। तभी श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं : "धीरे-धीरे अभ्यास करना आरम्भ करें और उस अभ्यास में नियमित रहें।" मन को बार-बार एक लक्ष्य पर निर्धारित करना, एक बिन्दु पर स्थिर करना अभ्यास कहलाता है। मन की एकाग्रता को योग में धारणा कहते हैं। जब अस्थिर मन स्थिर और शान्त हो जाता है, उस अवस्था को 'एकाग्रता की अवस्था' कहते हैं। एकाग्रता में मन की वृत्ति एकाकार हो जाती है।

नये साधकों के लिए एकाग्रता का अभ्यास श्रमदायक और रुचिहीन प्रतीत होता है; किन्तु एकाग्रता का विज्ञान संसार के सभी विज्ञानों से अधिक रुचिकर और लाभदायक है। जब व्यक्ति धारणा में आगे कदम बढ़ाते जाता है, जब एकाग्रता के अभ्यास में उसे रुचि होने लगती है, जब उसे एकाग्रता के लाभ स्पष्ट प्रतीत हो जाते हैं, वह अभ्यास को कदापि नहीं छोड़ता। यदि एक दिन का भी अभ्यास छूट गया तो वह विकल हो जाता है। एकाग्रता उसके लिए परम आनन्द, आन्तरिक आध्यात्मिक शक्ति, दिव्य वैभव तथा अनन्त शान्ति है। एकग्रता के फलस्वरूप साधक को ब्रह्मज्ञान होता है, दिव्य चक्षु खुल जाते हैं और परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है। यह अपूर्व विज्ञान है। इसके लाभों को पूर्णतया दिग्दर्शित करना मेरे लिए असम्भव है।

अब एक कुरसी पर मन को एकाग्र करें। इसका अर्थ है कि हम कुरसी के सभी भागों का अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं। कुरसी देवदार, शीशम आदि किस लकड़ी की बनी है, उसकी कारीगरी, परिसज्जा, उसका टिकाऊपन, उसका मूल्य, पीठ, हाथ आदि को, उससे प्राप्त होने वाला आराम, उसका भारीपन अथवा हलकापन अथवा यात्रा के लिए सुवाह्य इत्यादि-इत्यादि बातों को देखते हैं। जब हम कुरसी पर मन को एकाग्र करना चाहते हैं तो इन बातों पर अवश्य विचार करना होगा। ऐसा न करने पर मन इधर-उधर घूमता रहेगा। जब मन एक विषय का विचार कर रहा होता है तो वह एक क्षण में उस विषय को छोड़ कर बन्दर की भाँति दूसरे विषय पर छलाँग लगाता है और तब तीसरे विषय और उससे अन्य विषय पर। यह एक स्थान पर अथवा एक विषय में कुछ देर तक नहीं टिक सकता।

यदि मन की चञ्चलता को ध्यान से देखें तो पता चलेगा कि यद्यपि मन मुक्त बन्दर की भाँति अन्धाधुन्ध घूमता रहता है, पर इसके भटकने में एक प्रकार का नियम है। कड़ी के बिखरे रहने पर भी साहचर्य का नियम बना रहता है। मन एक पुस्तक की बात सोचते-सोचते जहाँ से वह पुस्तक ली थी उस किताब-घर को, उससे उस मित्र को जिससे वह पुस्तक खरीदते समय स्टेशन पर मिला था, उससे रेलवे को, रेलवे से लन्दन में रहने वाले उसके सञ्चालकों को, लन्दन से स्केटिङ्ग, स्केटिङ्ग से आल्प्स-पर्वत को, आल्प्स से उस पर स्थित चीड़ के वृक्षों, क्षय के चिकित्सालयों को सोचने लगता है। चीड़ के वृक्षों की याद आते ही मन में अल्मोड़ा की याद आने लगती है और अल्मोड़ा का विचार आते ही उसे स्वामी विवेकानन्द जी की याद आने लगती है, जिन्होंने मायावती में अद्वैत-आश्रम की संस्थापना की थी। यहाँ मन अद्वैत भावों में भी रम सकता है; क्योंकि उसका मन अद्वैत-आश्रम में स्थापित हो चुका है। यह भी हो सकता है कि वह वहीं से विषय-वासनाओं में चक्कर लगाने लगे। अल्मोड़ा की

वेश्याओं की याद भी उसे आ सकती है। मन की शुद्धता पर विचारों की प्रणाली निर्भर रहती है।

उपर्युक्त सभी घटनाएँ क्षण मात्र में मन के अन्दर घट जाया करती हैं। मन इतनी तीव्रता और तड़िद्वेग से दौड़ लगाता है कि कल्पना तक नहीं की जा सकती। पहले मन एक विषय को पकड़ता है, उस पर विचार करता है और तब उसके साहचर्य से इस विषय तथा इस विचार को छोड़ कर अन्य विषय और विचार पर छलाँग लगाता है। यह भी एकाग्रता है, यद्यपि इस एकाग्रता को अविच्छिन्न नहीं कहा जा सकता। जब विचार तैलधारावत् एक ही प्रणाल में एक ही विषय में चलता है तब वह धारणा है। अतः साधक को चाहिए कि दौड़ते हुए मन को विषय से अलग हटा कर बार-बार पूर्व-विषय में स्थित करे और उसी विषय-सम्बन्धी विचारों को सोचे। यह आध्यात्मिक साधना है। यह योगाभ्यास है। यही धारणा और ध्यान है। इस साधना की परिणति समाधि में होती है जो अतिचेतन-अवस्था है, जिसे तुरीय-अवस्था भी कहते हैं।

एकाग्रता में यह बात विचारणीय है कि प्रारम्भ में मन को एक ही विषय में एकाग्र किया जाये। अर्थात् मन को एक ही बात सोचने को अभ्यस्त करना चाहिए। इतना अवश्य है कि मन उस विषय से सम्बन्ध रखने वाली सभी घटनाओं और विषयों के सम्बन्ध में विचार कर सकता है। उसे अन्यत्र नहीं जाने देना चाहिए। कुछ समय बाद, अभ्यास करते-करते मन केवल एक ही विषय के एक ही विचार को सोचने में सिद्ध हो जायेगा। अनवरत और अविचलित साधना का यही सुन्दर पुरस्कार मिला करता है। इसका आनन्द अवर्णनीय है।

जब हम किसी कुरसी का विचार करते हैं तो कुरसी से सम्बन्ध रखने वाली सभी बातों का विचार करें। अन्य विषयों से सम्बन्धित कोई विचार नहीं आने देना चाहिए। जिस प्रकार गिरजाघर की घण्टी लगातार बजती रहती है ठीक उसी प्रकार विचार भी निर्बाध गति से बहते रहने चाहिए। एक ही विषय से सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न विचार हो सकते हैं, इसमें कोई हानि नहीं। आरम्भ में उनको भी विषय के अन्तर्गत कर दिया जाये। धीरे-धीरे विषय से सम्बन्ध रखने वाले विचारों की संख्या को कम करते जायें। उनको कम करते-करते कुछ काल के बाद केवल एक ही विषय के एक विचार पर आ जाना चाहिए। यहाँ पर धारणा की पूर्ति हो जाती है। जब इस (एक) विचार का भी लय हो जाता है तब समाधि का अवतरण होता है।

जब मन में केवल एक ही विचार रहता है तो उसे 'सविकल्प-समाधि' कहते हैं। यह समाधि की निम्न अवस्था है। जब मन का अन्तिम विचार भी लय हो जाता है, जब मन में एक विचार भी नहीं रहता और जब सर्वथा विचारशून्यता आ जाती है तो

मन का अत्यन्ताभाव हो जाता है यह मानसिक शून्यता है। यह राजयोग-दर्शन की 'निर्विचार' की अवस्था है। किन्तु साधक को तो इस वृत्तिहीन स्थिति से भी ऊपर जाना है और परम पुरुष अथवा ब्रह्म के साथ तदाकार होना है जो मन का मूक साक्षी है तथा मन को शक्ति और प्रकाश देता है। जब वह इस अवस्था की प्राप्ति कर लेगा तभी कहा जा सकता है कि चरम सीमा में पदार्पण कर दिया गया है।

मन तो जड़ वस्तु है, किन्तु अधिष्ठान आत्मा से जीवन-ज्योति पा कर चैतन्यवत् दिखलायी देता है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में रखा गया जल सूर्य की गरमी से गरम हो जाता है, उसकी अपनी स्वतन्त्र गरम सत्ता नहीं होती, उसी भाँति मन जड़ होते हुए भी ब्रह्म से जीवन-सञ्चार प्राप्त कर चैतन्य वस्तु के समान आभासित होता है। बुद्धि का प्रतिबिम्ब मानस-प्रदेश में पड़ने से मन सक्रिय और चेतन प्रतीत होता है। यही तथ्य है। सत्यद्रष्टा ऋषियों ने यही कहा था। यहाँ पर हम यह कहना नहीं भूलते कि पश्चिम के मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक अभी अन्धकार की खाई में ही हैं, अभी तक उनको अज्ञान ने ही दबा रखा है। उनका कहना है कि विचार तथा मन से परे कुछ भी नहीं है, बुद्धिवाद ही मन की चरम सीमा है। हम उनसे और क्या कहें, केवल यही कि 'तुम जो-कुछ सोचते हो, सोचते ही जाओ। तुम्हारा जो-कुछ भी विश्वास है, उसी पर अपने को स्थिर रखो।' किन्तु कभी-न-कभी उनको उपर्युक्त सत्य को अङ्गीकार करना ही होगा, अन्य मार्ग है ही कहाँ? कुछ दार्शनिकों तथा मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि मन मस्तिष्क का स्राव है। हद है ऐसे भी विश्वास की। अब जा कर वे अवचेतन मन, मानस-द्रव के सिद्धान्त मानने लगे हैं जो हिन्दू ऋषियों को अविस्मरणीय काल से ज्ञात था। सच पूछो तो मन स्वयंज्योति आत्मा की भाँति स्वयम्प्रकाश नहीं है। वह तो आत्मा से प्रकाश ले कर प्रकाशित हुआ दिखता है। पावस ऋतु में खद्योत के समान है वह। आत्मा सूर्यों का सूर्य और सभी प्रकाशों का परम प्रकाश है। शास्त्रों ने उसे परम ज्योति, अनन्त ज्योति और स्वयंज्योति के नाम से सूचित किया है।

अच्छा, फिर हम अपने पूर्व-प्रसङ्ग की ओर चलें। जब हम कुरसी पर मन को एकाग्र करने का अभ्यास करते हैं तो अन्य वस्तुओं के विचारों को मन के अन्दर न आने दें। यदि मन अस्थिर हो कर इधर-उधर भाग भी रहा हो तो उसे फिर-फिर वापस लाते रहें। गुलाब के फूल पर मन को एकाग्र करना चाहें तो केवल गुलाब की ही भावना में तन्मय हो जाना चाहिए। किसी व्यक्ति तथा उसके गुणों का चिन्तन कर रहे हैं तो केवल उस व्यक्ति का ही चिन्तन करें। किसी पुस्तक पर अपने विचारों को स्थिर कर रहे हैं तो पुस्तक-सम्बन्धी विषय का ही विचार करें, पुस्तक से इतर किसी का विचार न किया जाये। जब रेडियो अथवा सिनेमा के विषय में सोच रहे हों तो रेडियो अथवा सिनेमा के विषय में सोचें। जितनी देर तक हो सके, उस विषय पर विचार

करते रहें, तत्सम्बन्धी सभी विचारों को समाप्त कर दें। इसके लिए अपना प्रिय विषय चुन लिया जाये। धीरे-धीरे अरुचिकर विषय में बार-बार रुचि उत्पन्न कर अपने चिन्तन का विषय बना सकते हैं।

जब अपने हाथों में कोई काम लें, उसकी सफलता के लिए अपना तन-मन पूरा लगा दें। पूरे दिल से काम करें। एकाग्रता से काम करें। एकाग्रतापूर्वक काम करने से छः घण्टों का काम केवल आधा घण्टे में पूर्ण व्यवस्थित ढङ्ग से किया जा सकता है। यह यौगिक प्रक्रिया है।

इसी प्रकार अध्ययन भी पूरे ध्यान से करें। मन को भटकने न दें। बाहरी शब्दों से मन को असंस्पृष्ट रखें। केवल मात्र लक्ष्य पर ही दत्तचित्त रहें। आँखों को भी इधर-उधर दौड़ने न दें। अध्ययन करते समय सिनेमा, खाने-पीने या मित्रों की बातें न सोचा करें। उतनी देर के लिए मन से सारा संसार अदृश्य हो जाना चाहिए। एकाग्रता हो तो इस प्रकार की। यह असम्भव नहीं, किन्तु अभ्यास पर निर्भर है। कुछ काल तक स्थिर तथा निरन्तर अभ्यास करते रहने से एकाग्रता का अवतरण हो जायेगा।

जब सभी वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं तो यह सदा अशान्त बना रहने वाला मन शान्त हो जाता है। कामना सङ्कल्प उत्पन्न करती है। व्यक्ति आकांक्षित पदार्थ को प्राप्त करने के लिए कार्य करता है। इस प्रकार वह संसार-चक्र में उलझ जाता है। यह चक्र वासनाओं के नष्ट होने पर ही रुकता है।

अहङ्कार, सङ्कल्प, वासना तथा प्राण का मन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन चारों के अभाव में मन का कोई अस्तित्व नहीं होता। प्राण मन का जीवन है। अहङ्कार मन का मूल है। सङ्कल्प मन-रूपी वृक्ष की शाखाएँ हैं। वासना मन का बीज है। इस बद्धमूल घोर अज्ञान-रूपी संसार-वृक्ष का मूल मन है। पुष्पों, प्रतानों, फलों आदि से लदी हुई इसकी शाखाएँ विविध दिशाओं में फैली हुई हैं। यदि यह मूल—मन—नष्ट कर दिया जाये तो यह संसार-वृक्ष—जन्म-मृत्यु-रूपी वृक्ष—भी नष्ट हो जायेगा। इस मूल—मन—को ब्रह्म-ज्ञान-रूपी कुठार से काट डालिए। सङ्कल्प-रूपी शाखाओं को विवेक तथा वैराग्य के चाकू से काट डालिए।

१३. विचारोन्नति

यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है। बहुत कम लोग इस कला को जानते हैं। यहाँ तक कि शिक्षित कहलाने वाले व्यक्ति भी इस मूलभूत शिक्षा से वञ्चित हैं। सभी में यादृच्छिक विचारणा होती है। इस मानसिक कारखाने में अनिश्चित तथा नाना प्रकार के विचार आते और चले जाते हैं। उन विचारों में न तो कोई क्रम है और न सामञ्जस्य ही। न तो उनमें कोई ताल है और न उनका कोई कारण ही। न तो उनमें किसी प्रकार

का मेल या सङ्गठन ही है। न उनमें विधि है न अनुशासन। सभी कुछ अव्यवस्थित तथा अस्त-व्यस्त है। विचारों में स्पष्टता नहीं है। आप किसी विषय को नियमित तथा क्रमबद्ध रूप से दो मिनट के लिए भी नहीं सोच सकते हैं। आपको विचारों तथा मानसिक क्षेत्र के नियमों का ज्ञान नहीं है। आपके अन्दर एक पूर्ण पशुशाला है। विषयी व्यक्ति के मन में प्रवेश करने के लिए सभी प्रकार के वैषयिक विचार परस्पर लड़ रहे हैं और एक विचार दूसरे विचार पर विजय पाने के लिए सतत सचेष्ट है। नेत्र-इन्द्रिय अपने विचारों को मन के अन्दर घुसाना चाहती है। यह मनोरम दृश्य देखना चाहती है। कान रेडियो का आनन्द लेना चाहते हैं। इसी भाँति अन्य इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को चाहती हैं। अधिकांश लोगों के मन में क्षुद्र, विषयी, घृणापूर्ण, द्वेषमय तथा वीभत्स विचारों का साम्राज्य है। वे एक भी उदात्त दिव्य विचार को एक क्षण के लिए भी अन्दर प्रवेश करने का अवसर नहीं देते। मन का ढाँचा ही इस प्रकार का है कि मानसिक शक्ति विषय-वासना की ही ओर दौड़ती है।

प्रत्येक व्यक्ति का सोचने, समझने और काम करने का अपना तरीका होता है। जिस तरह एक व्यक्ति की आकृति तथा वाणी दूसरे से भिन्न हुआ करती है, उसी तरह विचारों तथा समझ में अन्तर है। यही कारण है कि मित्रों में प्रायः अनबन हो जाया करती है। एक दूसरे के दृष्टिकोण को ठीक से समझ नहीं पाता। यही कारण है कि घनिष्ठ मित्रों में भी एक क्षण में मनमुटाव, फूट तथा झगड़ा हो जाता है। मित्रता देर तक नहीं टिकती। प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे के विचारों के स्फुरण से मेल रखे, तभी एक-दूसरे को आसानी से समझ सकता है। कामुक विचार, घृणा की भावना, द्वेष तथा स्वार्थ के विचार—मन में विकृत रूप प्रस्तुत करते हैं तथा समझ को धूमिल कर देते हैं जिसके कारण बुद्धि में विकार आ जाता है। स्मरण-शक्ति का ह्रास होने लगता है और मन में भ्रम उत्पन्न होता है।

प्रत्येक विचार का विशेष रूप-रङ्ग हुआ करता है, विशेष आकार-प्रकार हुआ करता है और लम्बाई-चौड़ाई भी हुआ करती है। विचार उतना ही ठोस होता है जितना कि एक प्रस्तर-खण्ड। विचार एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य तक जाते और पहुँचते हैं। विचारों से मनुष्य प्रभावित होता है। शक्ति-पूर्ण विचार वाला व्यक्ति निर्बल विचार वाले व्यक्ति को जल्दी प्रभावित कर सकता है। दूर-संवेदन (टेलीपैथी) द्वारा योगी लोग संसार के किसी भी भाग के लोगों के पास अपने विचार पहुँचा सकते हैं। दूर-संवेदन प्राचीन काल के योगियों की विद्युत्-वेग से शब्द या विचार भेजने की क्रिया है।

व्यक्ति के मानसिक कारखाने से क्रोध या घृणा का विचार लोगों की ओर बाण-सन्धान करता है, व्यक्ति को हानि पहुँचाता है, विचार-जगत् में विरोध और फूट फैलाता है और फिर भेजने वाले के पास ही लौटता है और उसको भी चोट पहुँचाता है। यदि मनुष्य विचार की शक्ति और उसके प्रभाव को समझ ले तो वह अपने मानसिक कारखाने में विचारों के निर्माण में बहुत ही सावधान हो जायेगा। प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह सुदीर्घकालीन मानसिक अनुशासन, खान-पान में समन्वय, सत्सङ्गति, धार्मिक पुस्तकों का स्वाध्याय, जप, ध्यान, प्राणायाम, प्रार्थना आदि का अभ्यास कर शुद्ध सात्त्विक विचारों को उत्पन्न करने की शक्ति का विकास करे। भला व्यक्ति यदि अपने मित्र से दूर भी रहता हो तो वह अपने मित्र को अच्छे विचारों द्वारा सहायता पहुँचा सकता है। सच तो यह है कि अपने अन्दर किसी भी दुर्विचार को प्रश्रय नहीं देना चाहिए। सदा अपने विचारों का निरीक्षण कर व्यर्थ और निम्न विचारों को दूर हटाया जाये और मानसिक शक्ति की सुरक्षा की जाये। व्यर्थ की चिन्ता से शक्ति ही नष्ट होती है।

अपने को सदा धार्मिक कार्यों के सम्पादन तथा धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन में संलग्न रखें। आप अच्छे और पवित्र विचारों का विकास कर सकते हैं। यादृच्छिक विचारण बन्द कर दें। एक विषय को ले लें और उसके विभिन्न पहलुओं और स्थितियों का चिन्तन करना आरम्भ कर दें। जब आप किसी विषय पर विचार करते हैं तो उस समय किसी दूसरे विचार या विचारों को सचेतन मन में न आने दें। बार-बार मन को अपने लक्ष्य की ओर प्रेरित करें। मान लें, आप जगद्गुरु शङ्कराचार्य के जीवन-चरित्र तथा उनकी शिक्षाओं के विषय में सोचते हैं तो उनकी जन्मभूमि, उनके प्रारम्भिक जीवन, चरित्र, व्यक्तित्व और गुण, उनकी शिक्षा तथा विद्वत्ता, उनके ग्रन्थ, उनका दर्शन, उनके महत्त्वपूर्ण उद्धरण, समय-समय पर प्रदर्शित उनकी सिद्धियाँ, उनकी दिग्विजय, उनके चार शिष्य, चार मठ तथा प्रस्थानत्रय पर भाष्य तथा उनसे सम्बन्धित प्रत्येक विषय को ले कर सोचते रहें। एक-एक करके उनके इन गुणों का पूर्णतया विचार कर लें। मन को बार-बार चिन्त्य विषय पर ले आयें। तब दूसरा विषय लें। इस अभ्यास से नियमबद्ध चिन्तन का विकास होगा, मानसिक शक्ति को अधिक बल तथा तेज मिलेगा तथा उसका रूप स्पष्ट तथा परिमार्जित होगा। साधारण व्यक्तियों में यह मानसिक शक्ति विकृत तथा निस्तेज रहती है। प्रत्येक विचार का एक मूर्त रूप होता है। उदाहरणार्थ, मेज क्या है? एक मानसिक शक्ति (मूर्ति) और कुछ स्थूल पदार्थों का मिश्रण। जो-कुछ बाहर देखा जाता है उसकी प्रतिमूर्ति मन में रहती है। आँखों के अन्दर की पुतली एक छोटी-सी वस्तु है। कैसे छोटे से छिद्र से देखे गये विशाल पर्वत का रूप मन पर पड़ता है। पर्वत की विशाल काया आँख के छोटे छिद्र में कैसे समा जाती है? यह आश्चर्यों का आश्चर्य है। पर्वत की मूर्ति पहले से ही

मन में रहती है ? मन प्रभावित होने वाले विशाल चित्रपट के समान है जिसमें बाहर देखे गये सभी पदार्थों के चित्र अङ्कित रहते हैं।

आपको मानसिक नियमों—साहचर्य का नियम, सापेक्षता का नियम तथा सन्निकर्षता का नियम—का ज्ञान रखना चाहिए। तब आप बहुत शीघ्रता से विचारोन्नति कर सकते हैं। आप साहचर्य-नियम के द्वारा पदार्थों को स्मरण कर सकते हैं। विचारोन्नति के लिए ब्रह्मचर्य तथा शुद्ध सात्त्विक भोजन आवश्यक हैं।

मन संस्कारों के समूह के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। यह विभिन्न विषयों के सम्पर्क से उत्पन्न कामनाओं के समूह के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। यह सांसारिक झञ्झटों से उत्पन्न भावनाओं का समूह है। यह विभिन्न पदार्थों से सञ्चित विचारों का समूह है। ये कामनाएँ, विचार तथा भावनाएँ निरन्तर बदलते रहते हैं। मन के भण्डार से कुछ पुरानी कामनाएँ निरन्तर विदा होती रहती हैं और उनका स्थान नयी कामनाएँ लेती रहती हैं। यदि सभी विचारों को मिटा दिया जाये तो मन नामक कोई पदार्थ अवशेष नहीं रहता। अतः विचार ही मन है। विचारों से स्वतन्त्र तथा पृथक् संसार जैसा कोई पदार्थ नहीं है। दो विचारों का चाहे जितना भी घनिष्ठ सम्बन्ध हो, एक समय में नहीं रह सकते।

१४. मानसिक शिल्पशाला

अब मैं सर्वाधिक आश्चर्यजनक मानसिक कारखाने का वर्णन करूँगा, जो आपके अत्यन्त निकट है और आश्चर्यों का परमाश्चर्य है। पक्का भौतिकवादी भी एक पल में पूर्ण आस्तिक हो जायेगा, यदि वह आँखों को बन्द कर इस अद्‌भुत कारखाने के कार्यों पर मनन करने लगे।

इस मानसिक शिल्पशाला का एक सञ्चालक है। उस सञ्चालक का अपरोक्ष दर्शन हो जाने से आत्म-साक्षात्कार, मोक्ष, परिपूर्णता और अमरता की प्राप्ति की जाती है। धारणा तथा ध्यान से शुद्ध हुए हृदय के द्वारा उस महान् शिल्पी का दर्शन किया जा सकता है। मैं दोबारा यह बतला देना चाहता हूँ कि आत्म-साक्षात्कार प्रमुख कर्तव्य है। इस कर्तव्य की पूर्ति हो जाने से सच्चे आनन्द की प्राप्ति होती है। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि ईश्वर सर्वत्र विराजमान् है तथा इस मन, सङ्कल्प तथा स्मृति का आदि कारण है। वही इस क्षुद्र मन को शक्ति तथा प्रकाश प्रदान करता है। इस बात को विस्मरण न करें कि ब्रह्म इस शिल्पशाला का मूक द्रष्टा है। हिरण्यगर्भ—जो सभी मनों का पूर्ण योग है—इस शिल्पशाला का परमोच्च सञ्चालक है। वह इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डीय शिल्पशाला की व्यवस्था तथा पर्यवेक्षण करता है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी मानसिक शिल्पशाला होती है। जो मन के अन्दर निवास करता है, जो मन के अन्दर है, मन जिसको नहीं जानता, मन जिसका शरीर है और जो मन पर शासन करता है, वही आपका आत्मा, अन्तर्यामी तथा अमृत है। इस आन्तरिक शासक को, जो मन और मानसिक शिल्पशाला को प्रकाशित करता है, नमस्कार है।

जिस प्रकार लोहे का एक टुकड़ा चुम्बक की सन्निधि में रह कर गतिशील हो जाता है, उसी प्रकार आन्तरिक शासक की उपस्थिति में यह जड़ मन चलता और कार्य करता है; किन्तु इस सिद्धान्त को पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों, बुद्धिवादियों, स्वतन्त्र विचारकों, साम्यवादियों तथा समाजवादियों ने अभी तक अच्छी तरह नहीं समझ पाया है। इसीलिए वे अशान्त हैं और घनघोर अन्धकार में भटक रहे हैं। आध्यात्मिक स्फुरण अथवा सूक्ष्म प्राण की चेतना मन में विचारों का निर्माण करती है।

यदि आप अतीन्द्रियदर्शी शक्ति से इस मानसिक शिल्पशाला की आन्तरिक क्रियाविधि को देख सकें तो आप निर्वाक् हो जायेंगे। जिस प्रकार टेलीफोन कार्यालय के केन्द्र में विभिन्न स्थलों से समाचार प्राप्त होते हैं तथा केन्द्रीय आपरेटर (प्रचालक) अनेक स्विचों को संयुक्त, विभक्त तथा सन्धित कर समाचारों को यथास्थान के लिए प्रसारित करता है; ठीक उसी प्रकार इस मानसिक शिल्पशाला में मन संयोजन, वियोजन और सन्धिकरण का कार्य किया करता है। मान लें, हम किसी पदार्थ को देखना चाहते हैं तो मन तुरन्त अन्य चार केन्द्रों—श्रवण, घ्राण, रसना और अनुभव रूप इन्द्रियों के द्वारों—को बन्द कर देता है। मन की कार्य-शक्ति इतनी तीव्र गति वाली होती है कि उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। विचारिए कि अवचेतन मन (चित्त) के अन्दर असंख्य कपोतबिल हैं जिनमें विविध प्रकार के अनुभव, विचार, दृश्य इत्यादि सुव्यवस्थित रूप से अङ्कित किये रहते हैं। उनका नामकरण, वर्गीकरण और क्रम-निश्चय इतना सुव्यवस्थित रहता है कि त्रुटि की कोई भी आशङ्का नहीं। आर० एम० एस० (पत्रों का वर्गीकरण करने वाला रेलवे डाक-विभाग) में जिस प्रकार प्रमुख वर्गीकर्ता अत्यन्त तीव्र गति से पत्रों को यथास्थान पर व्यवस्थित करता है, उसी प्रकार चित्त अथवा अवचेतन मन भी तड़ित् गति से प्रत्येक कार्य पूर्ण सावधानी तथा चातुरी से करता जाता है।

मन में ज्यों-ही विचार प्रविष्ट होता है, त्यों-ही यह विद्युल्लहर का रूप धारण कर सतह पर आ जाता है और जीव को कर्म के लिए प्रभावित करने लगता है। यदि आप ध्यान दें तो आपको विचारों के अनेक रङ्ग दिखायी देंगे। आध्यात्मिक विचारों के मन में आते ही सुन्दर पीले रङ्ग का अनुभव होगा। जब मन में क्रोध का आविर्भाव हो तो लाल रङ्ग के बाण तीव्रता से छूटते प्रतीत होंगे। तात्पर्य यह है कि विचारों की प्रकृति और स्वभाव के अनुसार उनके रङ्गों में विभिन्नता होती है।

इस प्रकार पता चलता है कि इस विश्व और समस्त ब्रह्माण्ड में पूर्ण शासन की स्थापना है। आधारभूत अन्तर्यामी के कारण भगवान् ही उसका आधार होने से सृष्टि का प्रत्येक कार्य शान्ति और सफलतापूर्वक चल रहा है। परमात्मा इस सृष्टि का सञ्चालक और पथप्रदाता है। जिस प्रकार महाराजा की उपस्थिति में आमात्यादि कर्मचारी यथाविधि कार्य करते रहते हैं, उसी प्रकार परमात्मा के सर्वव्यापक होने से मन और अन्य इन्द्रियाँ परस्पर सहयोगपूर्वक कार्य करते हैं।

इस मानसिक शिल्पशाला के प्रहरी आँख और कान हैं। ये बाहर के कम्पनों के प्रवेश के लिए प्रवेश-द्वार हैं। मुख दूसरा द्वार है, उसे बहिर्गमन द्वार कहा जाना चाहिए। आँखों और कानों के द्वार से मानसिक शिल्पशाला के अन्दर उत्पादन करने योग्य सामग्री आया करती है। इन्हीं मार्गों से ज्योति और शब्दों की लहरें अन्दर प्रविष्ट करायी जाती हैं। शिल्पशाला में इन लहरों को दृष्टि अथवा दर्शन के रूप में परिवर्तित किया जाता है; इस परिवर्तन का कार्य मन को सौंपा गया है। मन दृष्टि या दर्शन को बुद्धि को सौंपता है। बुद्धि इन दृश्यों को विचारों के रूप में परिणत कर देती है। बुद्धि द्वारा विचारों के रूप में बदले जाने पर मुख के द्वार से इनका बहिःप्रकाशन होता है; वाक्-इन्द्रिय इस कार्य को सम्पन्न करती है। जिस प्रकार चीनी के कारखाने में गन्ने के रस को अनेक रसायनों में मिश्रित कर, विविध निथारने के टैंकों में डाला जाता है, शीतल किया जाता, ठोस बनाया जाता तथा रवे में रूपान्तरित कर रेलवे स्टेशन को सुपुर्द करने के लिए बोरियों में भरा जाता है उसी प्रकार इस मानसिक शिल्पशाला में ज्योति तथा ध्वनि की लहरियों को विविध प्रकार के शक्तिमान् विचारों में परिणत किया जाता है।

बाहरी भौतिक आँखें और बाहरी भौतिक कान तो केवल बाह्य उपकरण मात्र हैं। उनको बाहरी निमित्त माना जाता है। वास्तविक दृष्टि और श्रवण-केन्द्र तो मस्तिष्क के अन्दर तथा कारण-शरीर में स्थित हैं। ये केन्द्र ही इन्द्रिय-निकेतन हैं। इस बात को अच्छी तरह समझ लें। बुद्धि उपर्युक्त सामग्रियों को मन से ले कर पुरुष अथवा आत्मा को सौंप देती है—यह पुरुष एक विशाल परदे के पीछे नेपथ्य में रहता है। बुद्धि को पुरुष का मुख्य आमात्य जानना चाहिए। बुद्धि मुख्य आमात्य होने से मन की अपेक्षा पुरुष के अधिक सन्निकट है। मन आदेशक है, पाँचों सैनिक (कर्मेन्द्रियाँ) उसकी आज्ञा की पूर्ति करने के लिए सदा सन्नद्ध रहते हैं। दूसरे शब्दों में बुद्धि को न्यायाधीश जानना चाहिए। मन वकील के समान उसके समक्ष तथ्य को प्रस्तुत करता है। मन इस मानसिक शिल्पशाला का मुख्य कर्मचारी है। उसके सहायक और उप-कर्मचारी हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ ही उप-कर्मचारी का काम करती हैं। ज्ञानेन्द्रियों का काम बाहरी समाचारों को एकत्र करना है और कर्मेन्द्रियों का कार्य है मुख्य

कर्मचारी की आज्ञा का पालन करना। ज्यों-ही ज्ञानेन्द्रिय द्वारा एकत्रित समाचार या तथ्य बुद्धि द्वारा पुरुष के सामने प्रस्तुत कर दिये जाते हैं, त्यों-ही अहङ्कार की द्युति का जन्म होता है। बुद्धि पुरुष से सन्देश प्राप्त करती है, उस पर विचार तथा निश्चित निर्णय करने पर पुनः मन को सन्देश देती है। मन उस सन्देश को कार्य-रूप में परिणत करता है। सन्देश को कार्य-रूप में परिणत करने का उत्तरदायित्व वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और पायु—इन पाँच कर्मेन्द्रियों को सौंपा जाता है। यही पाँच अपने मुख्य कर्मचारी मन की आज्ञा का पालन करते हैं।

मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार के कुल योग को अन्तःकरण अथवा आन्तरिक उपकरण कहा जाता है। जैसे एक ही व्यक्ति न्यायालय में कार्य करते समय न्यायाधीश बन जाता है, सभा या संस्था में कार्य करते समय अध्यक्ष, सभाओं का सभापतित्व करते समय सभापति तथा माल-गोदाम की देख-रेख करते समय उसका रक्षक बन जाता है वैसे ही अन्तःकरण भी विभिन्न कार्य करते समय चार नाम धारण करता है।

जब आप उद्यान से हो कर जाते हैं तो मन सङ्कल्प-विकल्प करता है। वह सोचता है, "आम मीठा होगा या नहीं?" इस अवसर पर बुद्धि उसकी सहायता करती है। वह निश्चय करने पर कहती है : "यह आम अच्छा है।" चित्त का कार्य है अनुसन्धान करना। वह अनुसन्धान करता है—"मैं आम पाने के लिए उपाय सोचूँगा। देखना चाहिए कि इस उद्यान का मालिक कौन है? यदि मिल जाये तो मैं उससे आम खरीद लूँगा।" अहङ्कार दृढ़तापूर्वक कहता है : "किसी भी तरह क्यों न हो, मैं आम अवश्य लूँगा।"

मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार द्वारा कार्य का निश्चय हो जाने से मन पाँव (कर्मेन्द्रिय) को आदेश देता है। आदेश मिलते ही पाँव उसे माली के पास ले जाते हैं। अहङ्कार आम खरीदता है और खाता है। आम का यह संस्कार मन में स्थित हो जाता है और इस प्रकार मन में उस वासना का जन्म हो जाता है। कालान्तर में मन के अन्दर वासना-स्मृति के कारण पुनः भोग की इच्छा उत्पन्न होती है। इस प्रकार सङ्कल्प का जन्म होता है। सङ्कल्प के जागते ही मन आम खाने के लिए पुनः लालायित हो उठता है। यही संसार-चक्र है, इसे ही वासना-चक्र कहते हैं; अर्थात् वासना, विचार और कर्म। अनन्त काल से यह चक्र घूमता आ रहा है। इसी कारण मनुष्य बन्धन में जा गिरा है।

वासना की पुनरावृत्ति होते-होते काम या कामना का उदय होता है। मनुष्य के लिए इस काम-वासना पर विजय प्राप्त करना कठिन हो जाता है, अतः वह काम और इन्द्रियों का दास बन जाता है। तृष्णा का अर्थ है किसी पदार्थ के लिए सदा लालायित

रहना। इच्छा और वासना में इतना ही अन्तर है कि इच्छा स्थूल होती है, किन्तु वासना सूक्ष्म और अवचेतन मन के अन्दर छिपी हुई रहती है। किसी विषय का भोग करने पर जो आनन्द प्राप्त होता है, उससे मन में मोह की उत्पत्ति होती है। मोह और मृत्यु में कोई अन्तर नहीं है। जो व्यक्ति इन्द्रिय-वासनाओं में आसक्त है, वह सदा बन्धन में आबद्ध रहता है और अनेक पदार्थ उसे घेरे हुए रहते हैं। उन विषय-पदार्थों से छूटना उसके लिए कभी-कभी असम्भव भी हो जाता है; किन्तु जिस व्यक्ति ने इस अन्तरङ्ग तमाशे को बनाये रखने वाले इस मानसिक शिल्पशाला के सञ्चालक के ज्ञान द्वारा इन ग्रन्थियों का उच्छेदन कर डाला है, वही इनके चक्र से मुक्ति पा सकता है।

भाव, भावना, उद्रेक, रुचि, वृत्ति और प्रवृत्ति के अलग-अलग और निश्चित स्थान हैं। मन में पठार और निचले भूभाग भी हैं, पर्वत और घाटियाँ भी हैं। आध्यात्मिक शिखर, वृत्तिपरायण मन तथा बुद्धि के क्षेत्र भी हैं। शुद्ध मन और अशुद्ध मन दोनों का स्थान भी यहीं है।

व्यक्ति की सङ्कल्प-शक्ति मन की किसी तीव्र इच्छा को पूर्ण करने के लिए जब मैदान में उतरती है तो स्मृति, धारणा आदि शक्तियाँ उसके पीछे पंक्तिबद्ध खड़ी हो जाती हैं। वे अपने स्वामी सङ्कल्प-शक्ति को सहायता देती जाती हैं। जब सङ्कल्प-शक्ति द्वारा एक कार्य सम्पन्न कर लिया जाता है तो कल्पना-शक्ति आगे आती है और दूसरी योजना बनाने लगती है। स्मरण-शक्ति कल्पना-शक्ति की सहायता करती है। तीनों गुण, विविध प्रवृत्तियाँ तथा काम, क्रोध आदि तेरह कुवृत्तियाँ ये सब विविध रङ्गों में अपने स्वरूप को प्रकट करती हैं। चलचित्र में जिस प्रकार अनेक अभिनेता विद्युत् गति से आते और चले जाते हैं, उसी प्रकार विविध प्रवृत्तियाँ मञ्च पर आ कर अपना कार्य सम्पन्न करती हुई वहीं वापस चली जाती हैं, जहाँ से उनका आना हुआ था। यदि इस कार्यवाही पर ध्यान दिया जाये तो अत्यन्त आनन्द और आश्चर्य का अनुभव होगा। इस अनुभव को शब्द व्यक्त नहीं कर पाते हैं। इसके परिचय के लिए धारणा तथा चित्तशुद्धि द्वारा अतीन्द्रिय-दृष्टि का विकास करना होगा। यदि अन्तरावलोकन तथा आत्म-विश्लेषण का अभ्यास किया जाये तो इस मानसिक शिल्पशाला के कार्यकलापों तथा मानसिक क्षेत्र की पशुशाला में होने वाले सरकस का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होने लगेगा।

इस मानसिक शिल्पशाला के सञ्चालक को कभी न भूलें। वह और कोई नहीं, आपका अन्तरात्मा है। अर्द्ध रात्रि को जब यह मानसिक शिल्पशाला अस्थायी रूप से स्थिर हो जाती है, तब भी वह जागता ही रहता है। नियमित धारणा के अभ्यास तथा चित्तशुद्धि द्वारा उस सञ्चालक के दर्शन प्राप्त करने का प्रयास करें। मन की विविध

शक्तियों का विकास कर इस जीवन में भव्य सफलता के भागी बनें और अन्ततः उसमें सदा के लिए लीन हो जायें।

१५. स्मृति का विकास

स्मृति का विकास अत्यन्त आवश्यक कार्य है; क्योंकि इससे भगवत्साक्षात्कार में भी सफलता प्राप्त होती है। स्मृतिहीन अपने प्रयास में सदा असफल रहता है। यदि लिपिक स्मृतिहीन हो तो प्रबन्धक अप्रसन्न हो जाता है। भुलक्कड़ व्यक्ति अनेक भूलें करता है। जिसकी स्मरण-शक्ति तीव्र है, जो चीजों को बहुत दिनों तक याद रख सकता है, वह अपने कार्यों में आशातीत सफलता प्राप्त कर सकता है। जिसकी स्मरण-शक्ति तीव्र है, उसका व्यवसाय सफलतापूर्वक चलता है, वह आकलन तथा विकलन को स्मरण रख सकता है और ठीक लेखा रख सकता है। स्मृति-सम्पन्न छात्र सभी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होता है। स्मृति का नवमांश बुद्धि है।

स्मृति, धारणा और अनुसन्धान चित्त के कार्य हैं। जब आप जप के समय किसी मन्त्र को दोहराते हैं तो चित्त ही उसको स्मरण करता है। यह (चित्त) मन या बुद्धि की अपेक्षा अच्छे और महत्तर कार्यों को करने की क्षमता रखता है। वेदान्त में स्मृति एक अलग शक्ति या श्रेणी है। कभी-कभी यह मन के अन्तर्गत मानी जाती है। सांख्य-दर्शन में यह बुद्धि में ही सन्निहित है।

यादगार का संस्कृत शब्द स्मृति है। स्मरण का अर्थ है याद करना। यह अवचेतन मन या चित्त का कार्य है। सोचने और करने से संस्कार चित्त में गहरे पड़ जाते हैं। चित्त बिम्बग्राही शीशे के समान है। इसमें सभी संस्कार अमिट-सा रूप धारण कर जमा हो जाते हैं। जब कभी आप पिछली घटनाओं को स्मरण करने का प्रयास करते हैं, तब वे कूट-द्वार से सचेतन मन की सतह पर लौट जाते हैं। जिस तरह नाटक का पात्र नेपथ्य से रङ्गमञ्च पर आ खड़ा होता है, जिस प्रकार बन्दी कारागार से मुख्य बड़े द्वार के एक छोटे से द्वार से बाहर आता है उसी तरह संस्कार कूट-द्वार से विशाल लहरों या मानसिक चित्रों के रूप में बाहर निकलते हैं।

स्मृति को दो रूपों में व्यवहृत किया जाता है। हम लोग कहते हैं कि मोहन की स्मृति अच्छी है। यहाँ इसका अर्थ यह होता है कि मोहन में पुरानी घटनाओं को एकत्र कर प्रकाशित करने की बड़ी सामर्थ्य है। आप कभी कहते हैं, "मुझे उस घटना की याद ही नहीं है।" यहाँ इसका अर्थ यह होता है कि आप सचेतन मन की सतह पर उन सब घटनाओं को प्रारम्भिक रूप में नहीं ला सकते हैं, जो कुछ समय पूर्व घटी थीं। यह स्मरण का एक कार्य है।

यदि अनुभव नवीन है तो आप अपने गत अनुभवों को सङ्कल्प द्वारा पूरा याद कर सकते हैं। स्मृति से आपको कोई नया ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता है; यह केवल दोहराने की क्रिया करती है। सामान्य स्मृति में अस्थायी सहकारी कारण होता है। वैयक्तिक स्मृति में विशेष सहकारी कारण होता है। जो दूसरे के सहकार से कार्य करता है, उसे सहकारी कारण कहते हैं। गणित में बीजगणित के किसी पद के पूर्व जो संख्यात्मक या आक्षरिक गुणनखण्ड रखा जाता है उसे गुणक या सहकारी कारण कहते हैं।

मान लें, आप किसी मित्र से उपहार के रूप में एक सुन्दर पङ्खा पाते हैं। जब आप उस पङ्खे को व्यवहार में लाते हैं तो वह आपको कभी-कभी उस मित्र की याद दिला देता है। आप उसके सम्बन्ध में कुछ देर के लिए सोचते हैं। अतः पङ्खा उद्बोधक अथवा स्मृति हेतु बना।

स्मृति का विकास करने के लिए अवचेतन मन के कार्यों का ज्ञान होना अत्यावश्यक है। अवचेतन मन में अधिकांश मानसिक कार्य हुआ करता है। सचेतन मन कुछ आराम भी करता है, पर अवचेतन मन सर्वदा काम करता है। जब आप लगातार कई घण्टों तक अपने मन को ठोकने के बाद भी किसी समस्या के समाधान में असफल रहते हैं तो अवचेतन मन ही दूसरे दिन प्रातःकाल विद्युत् के समान उत्तर ला देता है। रात को जब आप यह निश्चय कर सोते हैं कि आपको तीन बजे रात की गाड़ी पकड़नी है तो अवचेतन मन ही आपको ठीक उस समय पर उठा देता है। यदि आपको इससे कौशलपूर्वक कार्य लेने की प्रविधि ज्ञात है तो यह सबकी अपेक्षा अधिक आज्ञाकारी सेवक है। इससे आप बहुत कार्य ले सकते हैं, संसार में विलक्षण गुण-सम्पन्न सभी महापुरुष और प्रतिभाशाली व्यक्ति मन के इस अङ्ग से काम लेने की कला जानते थे। चित्त का कार्य है छानबीन करना, चुनना, आप जब चाहें तब मन के अन्दर से पुराने विवरण निकाल लाना तथा आपके परिशीलन अथवा पुनरवलोकन के लिए तुलन-पत्र अथवा तथ्यों का स्पष्ट विवरण प्रस्तुत करना। सोने से पूर्व चित्त को किसी भी प्रकार का कार्य करने का आदेश दें। यह अगले दिन प्रातःकाल उत्तर खोज लायेगा।

जब आप किसी द्विविधा में पड़ जाते हैं, आकुल हो जाते हैं, जब आपको भ्रान्ति हो जाती है और जब आपके अन्दर स्पष्ट ज्ञान नहीं होता है कि किस प्रकार अमुक कठिन समस्या को हल किया जाये तो आप अपनी कठिनाइयों के स्वरूप को चित्त के समक्ष प्रस्तुत कर दें और इसको निश्चित आदेश दे दें। प्रातःकाल उठते ही आपकी समस्या का निश्चित हल प्राप्त हो जायेगा। इसका प्रयोग करें। आपको अद्भुत

विश्वास तथा बल प्राप्त होगा। आपको अनुभव हो जायेगा कि अवचेतन मन आपका सर्वाधिक विश्वसनीय मित्र है।

जिस व्यक्ति में धारणा-शक्ति बलवती तथा तीव्र है, वह भारी-से-भारी कार्य पलक मारते ही कर सकता है। ऐसा व्यक्ति किसी भी कार्य को कुछ ही समय में सीख सकता है और किसी कला को अल्प समय में ही ग्रहण कर सकता है। डा० जान्सन् की यह विशेषता थी कि वे अनेक प्रकरणों को कुछ ही देर में स्मरण कर दोहरा दिया करते थे। उनकी धारणा-शक्ति पर उनकी माँ आश्चर्यचकित हो जाया करती थीं। उनकी माँ उनसे कहती : "प्रिय पुत्र ! इस अनुच्छेद को कण्ठस्थ कर लो।" उनकी माँ ऊपर की मञ्जिल पर पहुँच भी न पातीं कि जान्सन् उनके पीछे आ पहुँचते और कहते : "माँ, मुझे यह कण्ठस्थ है।" वे पूरे अनुच्छेद को सही-सही दोहरा देते। इस बालक की अलौकिक स्मरण-शक्ति को देखिए।

वाराणसी के बाबू भगवान् दास-लिखित 'प्रणववाद' की भूमिका में लिखा है कि उन्होंने एक पण्डित से सभी गीतों को सुन कर चार खण्डों का एक विशाल ग्रन्थ लिखा। वह व्यक्ति जन्मान्ध था, पर उसे अनेक पुस्तकों के वर्ण्यविषय तथा उनके पृष्ठ अच्छी तरह कण्ठस्थ थे। बच्चू सूर नामक एक अन्य व्यक्ति थे जो खीरी लखीमपुर के निकट एक ग्राम में रहते थे, उनके अद्भुत स्मरण-शक्ति थी। वे जन्मजात अन्धे थे। वे सूरदास तथा तुलसीदास की सभी कविताओं के उद्धरण दिया करते थे। उन्होंने इन्हें कैसे सीखा और कैसे स्मरण रखा, यह एक महान् आश्चर्य है। ऐसे अनेक आश्चर्य हैं जिनको सुन कर हमें दाँतों तले अँगुली दबा देनी पड़ती है।

प्राचीन काल में संस्कृत के विद्वान् वेदों को मुखाग्र कर लेते थे। शिक्षा की उस गुरुकुलीय-प्रणाली में एक विशिष्ट सौन्दर्य था; वह सौन्दर्य था स्मृति-शक्ति को अप्रत्याशित सीमा तक विकसित करने की क्षमता। वाराणसी में अभी भी ऐसे पण्डित विद्यमान हैं जिनके लिए सम्पूर्ण उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र, चित्सुखी, अद्वैतसिद्धि आदि हस्तामलकवत् हैं। ऋषिकेश, मुनि-की-रेती में श्री राधवाचारी के आदर्श दर्शन महाविद्यालय में छोटे-छोटे छात्र हैं जिन्हें गीता के सभी अठारह अध्याय कण्ठस्थ हैं। गुरुकुलीय-प्रणाली के आधार पर शिक्षा देने से विद्यार्थी की स्मृति-प्रतिभा को पूर्ण बल मिलता है। इस दृष्टिकोण से आज के विश्वविद्यालयीय छात्र प्राचीन विद्यार्थी-समुदाय की बराबरी नहीं कर सकते।

किसी प्रकरण को एक बार पढ़ने से उसकी प्रत्यावृत्ति कर सकें तथा किसी प्रकरण को दीर्घ काल तक याद रख सकें और आवश्यकता पड़ने पर शीघ्र ही बिना कठिनाई के दोहरा सकें तो यह अच्छी स्मृति के लक्षण हैं। प्रयाग के श्री चिन्तामणि की स्मृति बहुत अच्छी थी। वे कई वर्ष पूर्व घटी घटना का विस्तृत

विवरण दे सकते थे। वे विश्व के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के जीवन-वृत्त का वर्णन बिना चुके कर सकते थे।

यदि आपका भाई लम्बा है तो उसी प्रकार के मनुष्य को कहीं देखने से आपको अपने भाई की याद आयेगी। यह स्मृति पदार्थों के सादृश्य के कारण है।

मान लें, आप किसी बौने व्यक्ति को मद्रास में देख रहे हैं। जब आप बम्बई में किसी लम्बे व्यक्ति को देखेंगे तुरन्त आपको उस बौने की याद आ जायेगी, जिसे मद्रास में देखा था। किसी बड़े महल का दृश्य आपको किसी किसान की झौंपड़ी अथवा संन्यासी के गङ्गातीरस्थ पर्णकुटीर का स्मरण दिलायेगा। यह स्मृति पदार्थों के असादृश्य के कारण होती है।

जब आप सड़क पर, किसी आँधी वाले दिन, टहलते समय किसी गिरे हुए वृक्ष को देखते हैं तो यह अनुमान लगा लेते हैं कि यह वृक्ष आँधी के कारण गिरा होगा। इस अवस्था में स्मृति कार्य-कारण-सम्बन्ध से होती है।

अवचेतन मन को ही वेदान्त में 'चित्त' के नाम से पुकारा गया है। अवचेतन मन का अधिकांश भाग अनुभवों और स्मृतियों से भरा है, जो पृष्ठ-भूमि में दबा दिये गये हैं; किन्तु पुनर्प्राप्य हैं। आयुवार्द्धक्य के साथ ही स्मृति लुप्त होने के चिह्न प्रकट होने लगते हैं। सर्वप्रथम चिह्न यह है कि आप लोगों के नाम स्मरण करने में कठिनाई पाते हैं। इसका कारण ढूँढने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं। सभी नाम मन-माने हैं। वे नामपत्र की भाँति हैं। नामों में साहचर्य नहीं है। मन प्रायः साहचर्य द्वारा ही स्मरण करता है; क्योंकि उस अवस्था में ही गहन संस्कार पड़ता है। आप वृद्धावस्था में भी पुरानी घटनाओं को भली-भाँति स्मरण कर सकते हैं; क्योंकि घटनाओं के साथ आपका साहचर्य है। आप स्कूलों में पढ़े हुए कुछ परिच्छेदों को वृद्धावस्था में भली प्रकार याद रख सकते हैं; किन्तु जिस प्रकरण को आज प्रातः आपने पढ़ा था, सायङ्काल के समय उसका स्मरण करना आपके लिए कठिन है। इसका कारण यह है कि मन अपनी धारणा-शक्ति खो चुका है। मस्तिष्क-शक्ति का ह्रास हो गया है। जो लोग अधिक मानसिक श्रम करते हैं, ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन नहीं करते तथा चिन्ताओं और दुःखों में उलझे रहते हैं, वे स्मरण-शक्ति से हाथ धो बैठते हैं।

मानसिक प्रक्रिया केवल चेतना के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है। अवचेतन मन का विस्तार सचेतन मन से अधिक है। संवाद जब तैयार हो जाता है तब वह अवचेतन मन से उसके कूट-द्वार के मार्ग से बिजली की भाँति बाहर निकल कर सचेतन मन की सतह पर आ जाता है। हम लोग मन के कार्यों के दश प्रतिशत भाग से ही परिचित रहते हैं, कम-से-कम हमारा ९० प्रतिशत मानसिक जीवन चित्त-जगत् में ही रहता है।

हम लोग किसी समस्या का समाधान करने की चेष्टा करते हैं; पर असफल रहते हैं। हम लोग चारों ओर देखते हैं, प्रयत्न करते हैं, फिर भी विफल ही रहते हैं। सहसा एक विचार मन में आता है, जिससे समस्या का समाधान हो जाता है। यह समाधान अवचेतन मन के माध्यम से हुआ।

कार्य, भोग और अनुभव सूक्ष्म संस्कार के रूप में अवचेतन मन पर अपना प्रभाव अङ्कित कर देते हैं। संस्कार ही जाति, जीवन तथा सुख-दुःख के कारण हैं। संस्कार के पुनरुत्थान से स्मृति का जागरण होता है। योगी जब अन्दर-ही-अन्दर (आत्मा में) गोता लगाता है तो वह इन संस्कारों के सम्पर्क में आता है और अपनी आन्तरिक दृष्टि द्वारा उन्हें प्रत्यक्ष देखता है। इन संस्कारों पर संयम (धारणा, ध्यान और समाधि) द्वारा वह (योगी) अपने पूर्व-जन्मों की जानकारी प्राप्त कर लेता है। दूसरों के संस्कारों पर संयम कर वह उनके पूर्व-जन्मों का ज्ञान भी सम्प्राप्त कर लेता है।

जब आप किसी बात को याद करने की इच्छा करते हैं तो आपको मानसिक उद्योग करना होगा, अपने अवचेतन मन की भिन्न-भिन्न गहराइयों में ऊपर-नीचे जाना होगा और विविध अप्रासङ्गिक विषयों के अद्भुत सम्मिश्रण में से ठीक विषय को चुनना होगा। जिस तरह डाक छाँटने वाला डाक के विभिन्न खानों में ऊपर-नीचे हाथ डाल कर ठीक पत्र को निकाल लाता है; उसी प्रकार अवचेतन मन नाना प्रकार की खोजों के बाद उचित वस्तु को सचेतन मन में ला देता है। वह विविध विषयों में से अपने अनुकूल उचित विषय को चुन सकता है।

जिस समय मन किसी प्रकार का अनुभव करता है, उसी क्षण चित्त में एक संस्कार पड़ जाता है। तात्कालिक अनुभव और अवचेतन मन में संस्कार पड़ने में समय का कोई अन्तराल नहीं है।

अवचेतन मन की सहायता से आप अवाञ्छनीय दुर्गुणों के प्रतिपक्षी स्वस्थ सद्गुणों का विकास कर अपनी दुष्ट प्रकृति को बदल सकते हैं। यदि आप भय पर विजय पाना चाहते हैं तो मन में सोचें कि आपमें भय का अस्तित्व नहीं है और प्रतिपक्ष-भावना द्वारा मन में साहस का आदर्श जगायें। जब साहस का विकास हो गया तो भय अपने-आप ही चला जायेगा। सत् सदा असत् पर विजयी होता है। यह प्रतिपक्ष-भावना है। यह प्रकृति का अचूक नियम है। इच्छा और रुचि के अभ्यास से आपको अरुचिकर वस्तुओं तथा कार्यों में रुचि प्राप्त हो सकती है। आप अवचेतन मन में पुरानी आदतों, पुराने आदर्शों, पुराने विचारों, पुरानी रुचियों तथा पुराने आचरणों को बदल कर उनके स्थान में नये स्थापित कर सकते हैं।

१६. स्मृति की उन्नति के लिए आवश्यक अभ्यास

(१) नेत्रों को मूँद लें। कल्पना करें कि एक सुन्दर विशाल उपवन है। उस उपवन के एक कोने में चमेली का फूल है, दूसरे कोने में गुलाब, तीसरे में चम्पा, चौथे में कुमुदिनी। पहले चमेली के विषय में विचार करें, तब अपने मन को गुलाब के फूल पर, तब चम्पा और अन्त में कुमुदिनी की ओर उन्मुख करें। पुनः मन को चमेली की ओर ले जायें। इसी तरह मन को दो या तीन मिनटों तक घुमाते रहें।

(२) रात्रि को आकाश की ओर एकटक देख कर, एक छोटे से क्षेत्र में तारों की गणना करें।

(३) बृहस्पतिवार को प्रातःकाल यह स्मरण करने का प्रयत्न करें कि पिछले बुधवार को क्या शाक, सब्जी, दाल आदि भोजन किया।

(४) गीता का एक मुख्य श्लोक पढ़ लें। उसी के समान उद्धरणों को रामायण, भागवत, उपनिषद् योगवासिष्ठ और बाइबिल में खोजें। उन उद्धरणों में सम्बन्ध स्थापित करें तथा उन्हें अपने चित्त अथवा मस्तिष्क के खानों में रखें।

(५) 'बै-नी-ह-पी-ला-गु' अक्षरों को स्मरण करें। नाना प्रकार के रङ्गों यथा बैंगनी, नीला, हरा, पीला, लाल और गुलाबी को याद करने का प्रयत्न करें। अपनी स्मृति में किसी विषय-विशेष को समस्थिर रखने के लिए इसी प्रकार के सङ्केत-शब्दों का निर्माण करें। प्रत्येक व्यक्ति का अपना सङ्केत-शब्द हो सकता है।

(६) पर्यायवाची समानार्थक शब्दों को स्मरण रखने का अभ्यास करें। इस अभ्यास से आपके शब्द-भण्डार में वृद्धि होगी और आप सुन्दर निबन्ध लिख सकेंगे। श्रेष्ठ भाषण दे सकेंगे। आप एक अच्छे सम्पादक हो कर अच्छी पुस्तकों की रचना करने में सफल हो सकेंगे। उदाहरणार्थ 'करुणा' शब्द को लें। 'करुणा' शब्द का स्मरण कर दया, कृपा, अनुकम्पा, सहानुभूति, उदारता आदि पर्यायवाची शब्दों को खोज निकालने का यत्न करें।

(७) साहचर्य का नियम स्मृति के विकास में बड़ा सहायक होता है। कलाई-घड़ी से आपको अपने मित्र का स्मरण हो आता है जिसने वह घड़ी आपको उपहार में दी थी।

(८) 'चार' शब्दान्त एक शब्द से समाचार, सदाचार, आचार, उपचार, अनाचार, दुराचार तथा अन्य चारान्त शब्दों का स्मरण हो आता है। 'वान्' शब्दान्त शब्दों में स्वतः भगवान्, पहलवान, गाड़ीवान्, पकवान तथा अन्य 'वान्' शब्दों का स्मरण हो आता है। इस भाँति आप वस्तुओं को स्मरण रख सकतें हैं। आपको अपने मस्तिष्क के विभिन्न खानों में इस भाँति वस्तुओं को समूह के अन्दर रखना होगा। एक वस्तु या

घटना को उसी प्रकार के स्वभाव वाले अन्य तत्त्व से मिला दें, स्मृति अनेक यथानिश्चित सम्बन्धों के रूप में प्रकट होती है।

(९) आलङ्कारिक शब्दों सहित वाक्य-रचना करें। कुछ ऐसे शब्द लें जो 'त' से आरम्भ होते हैं अथवा ऐसे शब्द लें जो 'ल' से समाप्त होते हैं। यहाँ कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं:

"तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।"
"ऐलफैल खैलभैल खलक में गैलगैल
गजन की ठैलपैल सैल उलसत है।"

ये आपके लिए मात्र नमूने हैं। आप अपनी विधि से बना सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति में रचनात्मक शक्ति होती है।

(१०) स्मृति की उन्नति के लिए निश्चयपूर्वक कथन तथा अभिकथन बहुत ही लाभप्रद होते हैं। निम्नांकित सूत्रों का चिन्तन करें तथा निश्चयपूर्वक कथन करें। इन सूत्रों को प्रतिदिन दोहरायें:

मेरी स्मृति बहुत शक्तिशालिनी है ॐ ॐ ॐ
मैं प्रत्येक प्रसङ्ग को अब पूर्णतः स्मरण रख सकता हूँ ॐ ॐ ॐ
मेरी स्मरण-शक्ति में आशातीत विकास हुआ है ॐ ॐ ॐ
मेरी स्मृति में तीव्र धारणा-शक्ति है ॐ ॐ ॐ

(११) एक नोटबुक रख लें। जो-जो काम आपको दिन में करने हैं, उनको नोटबुक में प्रातःकाल अङ्कित कर लें। जैसे ही कोई कार्य सम्पन्न हो जाये, उसमें सही का चिह्न लगा दें। रात्रि को सोने से पूर्व निरीक्षण करें कि आप उन सब कामों को कर चुके हैं या नहीं।

(१२) ताशों की एक गड्डी ले लें। उनमें से छः पत्तों को बाहर निकाल, उन्हें सावधानीपूर्वक देखें। अब उन्हें उलट कर रख दें। एक कागज पर, अपनी स्मृति से उन पत्तों के क्रम को लिखें। इस प्रकार करते-करते उनकी संख्या बारह तक बढ़ायी जा सकती है।

(१३) किसी आराम कुरसी पर सुखपूर्वक बैठ जायें। अपने पिता जी का एक चित्र लें और सूक्ष्मता से उसका निरीक्षण करें। नेत्रों को मूँद लें। मन-ही-मन उसके सभी शारीरिक लक्षणों और शरीर के अवयवों की विशेषता यथा उनकी वक्रनासिका, उनके घुँघराले बाल, उनके नेत्रों, मस्तक, ओष्ठों, कानों की दशा, विस्तीर्ण अथवा सङ्कीर्ण वक्षस्थल, बलवान् अथवा दुर्बल हाथ, अवयवों में सङ्गति है या नहीं, उनके दाँतों की दशा, उनकी चाल, आकृति, लोगों को आकर्षित करने वाले उनके विशेष

गुण, उनकी वाणी का स्वरूप, शरीर के विभिन्न अङ्गों में विशेष चिह्न अथवा तिल का सूक्ष्म वर्णन करने का प्रयत्न करें। किसी महापुरुष को एक बार देख चुकने के पश्चात् उनके उन विशेष गुणों और आकृति को अपने मन में उतार लाने की चेष्टा करें जिनसे आप आकर्षित हुए थे।

(१४) साहचर्य-नियम के द्वारा एक विचार को अन्य अनेक विचारों से मिला दें। 'काफी' शब्द का विचार आते ही मन में नीलगिरि की पहाड़ियों का विचार आयेगा जहाँ काफी की उपज होती है एवं स्टेन की कम्पनी का भी विचार आयेगा जो काफी-चूर्ण बेचती है। इसी प्रकार इस कम्पनी के संस्थापक का भी स्मरण हो आयेगा। सादृश्य-नियम से संसार के अन्य देशों का स्मरण कर सकते हैं जहाँ काफी की खेती की जाती है। आप काफी से होने वाले लाभों तथा हानियों को भी स्मरण कर सकते हैं। काफी के विचार के साथ ही काफी के समान अन्य पेयों का यथा चाय का स्मरण हो जायेगा, उसके साथ लिप्टन का और उसके (चाय के) विशाल व्यवसाय का भी विचार आयेगा। ये सब विचार मन में एक पल में दीप्त हो उठेंगे। अपनी जेब में एक छोटी नोट-बुक रखें। जब भी आपके मन में कोई अच्छा विचार प्रकट हो, उसे तुरन्त संक्षेप में लिखें। संकेत मात्र लिखें। बाद में आप उन्हें विकसित कर सकते हैं। बड़े महात्माओं से आपने जो शिक्षाएँ प्राप्त की हैं, उन्हें अपनी डायरी में अङ्कित कर लें।

(१५) अपने नगर के किसी व्यापारिक स्थान में शाम को टहलते हुए मन-ही-मन यह नोट करें कि उस व्यावसायिक केन्द्र में क्या हो रहा है? घर आ जाने पर एक कागज में उन दुकानों के नाम तथा उनमें रखे हुए सामानों का यथाक्रम विवरण नोट कर लें। दूसरे दिन उसी सड़क पर जा कर अपने नोट किये हुए विवरण को मिलायें और देखें कि क्या आपने कोई चीज छोड़ दी है?

(१६) भिन्न-भिन्न वस्तुओं के निर्माताओं के नाम और उनके द्वारा निर्मित वस्तुओं के तत्कालीन मूल्यों को याद रखने का अभ्यास करें। संसार के प्रसिद्ध दार्शनिकों के नामों, उनकी प्रसिद्ध पुस्तकों तथा शिक्षाओं को स्मरण करने का प्रयत्न करें। प्राच्य तथा पाश्चात्य दर्शनों की तुलना करें। घटनाओं तथा दार्शनिक विचारों की स्मृति की अपेक्षा स्थूल पदार्थों की स्मृति सरल है। नामों की अपेक्षा घटनाएँ स्मरण करना सहज है; क्योंकि घटनाओं के लिए साहचर्य है। नाम यादृच्छिक होते हैं। स्मृति, दर्शन और श्रवण का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन उसी विषय पर विचार करता है जिसे देखा या सुना हो। जिसने दर्शन तथा श्रवण-शक्ति का विकास कर लिया है, उसकी स्मरण-शक्ति का विकास भी सत्वर हो जाया करता है।

(१७) एक और अभ्यास है। कल्पना करें कि आपके सामने एक चित्र-पट है जिसमें नौ पशुओं के चित्र हैं। प्रथम ऊपरी पंक्ति में सिंह, तेंदुआ तथा गाय हैं। दूसरी पंक्ति में घोड़ा, ज़ेबरा तथा रीछ हैं। तीसरी पंक्ति में हाथी, भैंस तथा व्याघ्र हैं। प्रथम पंक्ति के, तत्पश्चात् द्वितीय पंक्ति के और तदनन्तर तृतीय पंक्ति के पशुओं को स्मरण करने का यत्न करें। अभी इसी क्रम में ऊपर से नीचे की ओर अर्थात् सिंह, घोड़ा, हाथी; तेंदुआ, ज़ेबरा, भैंस; गाय, रीछ तथा व्याघ्र को स्मरण करने का यत्न करें। आप बीजगणित के सूत्र अथवा क्रम-परिवर्तन तथा सम्मिश्रण की भाँति ही क्रम को अनेक प्रकार से बदल सकते हैं। विविध प्रकार की स्थूल तथा सूक्ष्म ध्वनियों, भोजन के विविध प्रकार के स्वादों, विभिन्न प्रकार के पदार्थों के विविध प्रकार के स्पर्शों, रङ्गों की रङ्गतों आदि पर भी स्मृति का अभ्यास किया जा सकता है।

(१८) किसी पुस्तक के एक या दो पृष्ठ पढ़ें। पढ़ने के पश्चात् पुस्तक बन्द कर लें और अपने मन में मुख्य-मुख्य बातों को लाने की चेष्टा करें। पुस्तक का विषय अपनी नोटबुक में या तो अपनी शैली में लिख लें या उसकी ठीक प्रतिलिपि तैयार कर लें। उन प्रकरणों की तुलना दूसरी पुस्तक के प्रकरणों से करें। अपना निष्कर्ष और अनुमान निकालें। इस अभ्यास से स्मरण-शक्ति का आश्चर्यजनक विकास होगा तथा अधीत प्रकरण को दीर्घकाल तक याद रखा जा सकेगा। जब आप कोई पुस्तक पढ़ते हैं तो उसके सुन्दर प्रकरणों के एक ओर लाल पेंसिल से रेखा खींच दें। यदि आवश्यक हो तो लाल अथवा नीली पेंसिल से पंक्तियों को रेखाङ्कित भी कर सकते हैं। असावधानी से अक्षरों के ऊपर पेंसिल नहीं फेरनी चाहिए। पतली रेखा खींचें। पेंसिल को नुकीली रखें। पुस्तक का अध्ययन कर चुकने पर अपनी नोटबुक में महत्त्वपूर्ण विषयों को संक्षेप में अङ्कित कर लें। सप्ताह में एक बार उनकी पुनरावृत्ति अवश्य करें। इस संक्षिप्त नोट से पूरे प्रकरणों को दोहराने का यत्न करें।

(१९) सोने से पूर्व दश मिनट तक आत्म-विश्लेषण अथवा आत्म-परीक्षण करें। कुरसी पर आराम से बैठ जायें। अपनी आँखों को बन्द कर लें। दिन-भर में जो-जो अच्छे या बुरे कार्य किये हों, उनको सोचें, जिनको जान कर या अनजान में किया है। पहले दिन अपने कार्यों में से दो-तीन गलतियाँ न भी निकाल सकें तो कोई बात नहीं; क्योंकि आपको ऐसा करने का अभ्यास नहीं है, किन्तु प्रतिदिन के नियमित अभ्यास से आप दैनिक कार्यों में से गलतियों को खोज कर निकाल सकेंगे। अपने कार्यों का सर्वेक्षण करने के लिए एक घण्टा भी अपर्याप्त है। अन्तरावलोकन के अभ्यास से मन सूक्ष्म और तेज होता है। इससे मन अधिकाधिक अन्तर्मुख होता जाता है। यह अभ्यास पलक मारते ही कार्यों का विश्लेषण कर सकता है, उनकी छानबीन कर लाता है, उनको एकत्रित कर सकता है, उनका वर्गीकरण करता है और उनकी स्पष्ट सूची

हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। इस अभ्यास से स्मरण-शक्ति का आश्चर्यजनक विकास होता है तथा गलतियों तथा असत्कर्मों की संख्या कम होती है। एक दिन ऐसा भी आयेगा जब आपसे केवल सत्कर्म ही होगा और एक भी भूल न होगी। बेञ्जामिन फ्रेङ्कलिन इस तरह का अभ्यास करते थे। आप अपनी दैनन्दिनी में प्रतिदिन रात को अथवा दूसरे दिन प्रातःकाल पूरे दिन के सभी कार्यों तथा गलतियों को अङ्कित करें।

(२०) गीता के अठारह अध्यायों को अनेक बार पढ़ें। भिन्न-भिन्न शीर्षकों के अनुसार श्लोकों को याद करने की चेष्टा करें। सोचें कि गीता में कौन-कौन से श्लोक विवेक की व्याख्या करते हैं; कौन-कौन से श्लोक तितिक्षा, वैराग्य, सदाचार, गुणों के विकास, तपस्या के तीन भेदों का विवेचन करते हैं। उन श्लोकों को याद रखें जो प्राणायाम, मन की एकाग्रता, भक्तियोग, ज्ञानयोग, हठयोग, राजयोग, मनोनिग्रह आदि की साधना का वर्णन करते हैं। इन श्लोकों का मन में वर्गीकरण करना होगा। स्मृति की उन्नति के लिए यह भी एक प्रकार का अभ्यास है। कुछ काल में आप एक पंक्ति भी छोड़े बिना सम्पूर्ण गीता को अपने इच्छानुसार किसी भी क्रम से दोहरा सकेंगे।

(२१) क्रिकेट, फुटबाल अथवा टेनिस के मैच के ठीक वर्णन करने की शक्ति का विकास करें। मैच को ध्यानपूर्वक देखें और घर आ कर उसका पूर्ण यथातथ्य विवरण लिखने का अभ्यास करें। जब आप लम्बे अवकाश के पश्चात् घर से वापस आयें तो आपने वहाँ अपना समय कैसे व्यतीत किया तथा आपका दैनिक कार्यक्रम क्या था, इसका विस्तृत विवरण अपनी डायरी देखे बिना ही तैयार करें।

(२२) संसार के सबसे समृद्ध व्यक्तियों, जैसे हैदराबाद के निजाम, राकफेलर, फोर्ड तथा संसार की सबसे बड़ी नदियों जैसे मिसीसिपी, मिसौरी, अमेजन, नील, ब्रह्मपुत्र, गङ्गा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु, कावेरी के नाम स्मरण करने का प्रयत्न करें। इसी प्रकार आप सारे विश्व के सबसे बड़े सङ्गीतज्ञों, कवियों, राजनीतिज्ञों, वैज्ञानिकों, पर्वतों, झीलों, प्रपातों, नगरों, मैदानों तथा मन्दिरों के नाम स्मरण करने का प्रयत्न कर सकते हैं।

१७. स्मरण-शक्ति-सम्बन्धी विशेष आदेश तथा उपदेश

(१) अपनी जेब में सदा कागज और पेंसिल अथवा डायरी रखें; यह अच्छी आदत है। व्यस्त व्यक्ति तथा जो इस जीवन में महान् बनना चाहते हैं, वे हमेशा (चलते हुए भी) साधारण घटनाओं तक में किसी विशेषता को लक्ष्य कर अपनी डायरी में नोट कर लें। जो लोग आशु-लिपि जानते हैं, वे उसका उपयोग कर सकते हैं। जब अवकाश मिले, उन्हें विकसित कर सकते हैं। जब-जब मन में कुछ अच्छे विचार प्रकट हों अथवा जब-जब विशेष विचार उदय हों, तुरन्त उन्हें अपनी नोट-बुक में अङ्कित कर

लिया जाये। यही आदत जीवन के सभी कार्यों और प्रयासों में सफलता की कुञ्जी है। इसका अभ्यास करें, अनुभव करें और सुखी रहें। केवल सिद्धान्तों को रटने अथवा बक देने से काम नहीं चलेगा। एक व्यावहारिक मनुष्य बन जाना चाहिए। मैं सदा इस बात पर जोर दिया करता हूँ और कहते-कहते कभी थकता नहीं। मैं आपको प्रशंसनीय आदर्शों का एक महान् व्यक्ति बनाना चाहता हूँ—अज्ञात भविष्य में नहीं, अभी इसी क्षण। मेरी बातों पर पूरा ध्यान दें। मैं एक सरल विधि जानता हूँ, जिसका प्रयोग कर प्रत्येक व्यक्ति सुगमता से उन्नति के शिखर पर जा पहुँचता है। मुझमें सेवा की तीव्र उत्कण्ठा है; पर मैं ठीक प्रकृति के साधकों को नहीं पाता हूँ। सभाओं में जाया करें, वहाँ जो-जो भाषण सुनें उनको अङ्कित कर लें और उन्हें समाचार-पत्र में प्रकाशित होने के लिए भेज दें। आप अल्प-काल में ही प्रथम श्रेणी के संवाददाता तथा पत्रकार बन सकते हैं। बदरीनारायण या गङ्गोत्री की यात्रा करें और नोट लिखते रहें। अपने नगर में वापस आने पर पूरा विवरण तैयार करें। इस प्रकार के अभ्यासों से स्मरण-शक्ति का अपूर्व विकास हो सकेगा।

(२) अवचेतन मन से काम लेने की कला का पूरा ज्ञान होना चाहिए। यदि शेक्सपीयर के किसी नाटक में कोई बात भूल गये हों तो रात को सोने से कुछ पहले अपने चित्त को निश्चित आदेश दें। दूसरे दिन प्रातःकाल आपके समक्ष स्पष्ट उत्तर आ जायेगा। यदि ऐसा न हुआ तो दूसरे दिन फिर वही आज्ञा दें। तीसरे दिन अवश्य उत्तर मिल जायेगा।

(३) न्यायाधीश को गवाहियों का सारांश लिखना पड़ता है और न्याय की तैयारी भी करनी होती है। उसका मस्तिष्क कभी-कभी संशय-भ्रमित हो जाता है। वह किङ्कर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। उसका निर्णय किसी निश्चित समाधान पर नहीं पहुँच पाता है। ऐसी अवस्था में अवचेतन मन उसके लिए अत्यन्त सुन्दर रीति से काम करता है। वह व्यवस्थापूर्ण ढङ्ग से तथ्य और आँकड़ों को सँजो कर उनका स्पष्ट सारांश उसके समक्ष प्रस्तुत करता है। उसे दूसरे दिन प्रातःकाल कागज पर केवल उसकी प्रतिलिपि तैयार करनी होती है। जिन बातों में विचार तथा विवेचन की अधिक आवश्यकता है अवचेतन मन से उनका उत्तर प्राप्त करने के लिए कुछ दिनों तक प्रतीक्षा करनी होती है।

(४) डाक्टर को औषधियों का खूब स्मरण रहता है; क्योंकि वह रोगों की चिकित्सा में पर्याप्त दिलचस्पी लेता है, किन्तु राजनीति के विषय को याद रखना उसके लिए सम्भव नहीं है; क्योंकि इस ओर उसकी रुचि नहीं है। वकील इलाहाबाद उच्च न्यायालय, बम्बई उच्च न्यायालय तथा मद्रास उच्च न्यायालय के सभी निर्णयों को स्मरण रखता है, किन्तु क्रिकेट मैच के सम्बन्ध में कुछ भी स्मरण नहीं रखता;

क्योंकि इस ओर उसकी दिलचस्पी नहीं है। अतः रुचि का होना आवश्यक है, तब स्मृति आप-से-आप अनुसरण करेगी। व्यक्ति को एक विषय में पूर्ण निष्णात होना चाहिए तथा अन्य सभी विषयों का सामान्य ज्ञान रखना चाहिए। सर्वतोमुखी प्रतिभासम्पन्नता अथवा बहुविज्ञता अत्यन्त श्रेयस्कर अथवा श्लाघनीय है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी बनने का प्रयत्न कीजिए। प्रबल तथा धारणाशील स्मृति, शक्तिशाली सङ्कल्प तथा धारणा और ध्यान के दैनिक अभ्यास से निश्चय ही आपके सङ्कल्प तथा स्मृति का विकास होगा।

(५) स्वस्थ मनुष्य की स्मरण-शक्ति अच्छी होती है। दुबले-पतले और कोमल शरीर वाले मनुष्य की स्मृति खराब होती है। स्मरण-शक्ति की उन्नति में स्वास्थ्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। अतः उचित भोजन, व्यायाम आदि से उच्च कोटि का स्वास्थ्य, बल तथा ओज बनाये रखने का यत्न करें।

(६) जिस प्रकार हाथ और पैरों का विकास तत्सम्बन्धी मांसपेशीय व्यायामों तथा कार्यों से होता है और उनके अनुपयोग से उनका क्षय हो जाता है, उसी प्रकार शरीर की इन्द्रियों का उपयोग उचित रीति से न किया जाये तो उनका अपकर्ष हो जाता है। दर्शन और स्मृति तथा श्रवण और स्मृति में घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस व्यक्ति की तीक्ष्ण दृष्टि है, तीव्र वेदन-शक्ति है, प्रखर अवलोकन है तथा संवेदनशील श्रवण-शक्ति है, उसकी स्मृति उत्तम कोटि की होती है। इन बाहरी अङ्गों की प्रतिमूर्तियाँ सूक्ष्म शरीर में स्थित रहती हैं। वे सूक्ष्म इन्द्रियाँ कहलाती हैं। योगी सूक्ष्म कानों द्वारा तथा सूक्ष्म नेत्रों द्वारा देखता है और इस भाँति वह अतीन्द्रिय-दृष्टि तथा अतीन्द्रिय-श्रवण का विकास करता है। वह परोक्ष की चीजें देख और परोक्ष की बातें सुन सकता है।

(७) लोग प्रायः बहुत असावधान रहा करते हैं। उनमें महत्तर वस्तुओं को सीखने तथा उच्चतर ज्ञान के सञ्चय की रुचि नहीं रहती है। हमारे देश में करोड़ों लोग ऐसे हैं, जो अपना नाम तक नहीं लिख सकते हैं। भारतवर्ष जो बुद्धिमान् और प्रतिभाशाली ऋषियों और प्रबुद्ध साधुओं का देश रहा, अभी अन्य देशों की तुलना में अज्ञान से भरा है। लन्दन का एक साधारण श्रमजीवी राजनीति से खूब परिचित रहता है, समाचार-पत्र पढ़ता है और बहुत-सी स्वदेशी परिस्थितियों पर बहस कर सकता है। भारत के बहुसंख्यक लोग अज्ञान और अन्धकार के दलदल में फँसे हुए हैं। इसका मूल कारण है अस्पृहा, प्रमाद तथा भावशून्य उदासीनता ।

(८) जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए, कुशल वैद्य या वकील या सफल व्यापारी बनने के लिए नेत्रों और कर्णों को बहुत सीमा तक विकसित करना होगा। अन्धा या गूँगा तथा बहरा व्यक्ति समाज के लिए मृतक के समान है। ज्ञान की प्राप्ति कहो या धन की—दोनों के लिए आँखों, कानों और वाणी का अवलम्बन चाहिए। ये इन्द्रियाँ ही ज्ञान और धन-सञ्चय के लिए आयतन मानी जाती हैं। जगत् के सभी पदार्थों या कार्यों का ज्ञान इन्हीं दो मार्गों से होता है और वाक्-इन्द्रिय से दूसरों को दिया जाता है।

(९) राह चलते समय बहुत ही सतर्क रहना चाहिए। अपनी आँखों और कानों को सावधान रखना चाहिए। मार्ग में जो-कुछ सुनते, देखते या पढ़ते हैं, उसे याद रखने की चेष्टा करें। आपको निरीक्षण-शक्ति का विकास करना चाहिए। बहुत ही सावधान रहें। अवधान से निरीक्षण में सहायता मिलती है। रुचि के द्वारा निरीक्षण तथा अवधान का आविर्भाव होता है। जब कोई व्यक्ति कुछ बातें करता है तो उसे बड़े धैर्यपूर्वक सुनें। यदि उसमें कुछ लाभदायी तथा रोचक बातें हों तो उन्हें अपनी दैनन्दिनी में तत्काल नोट कर लें। सप्ताह में एक बार अपनी दैनन्दिनी के पृष्ठों को अवश्य पढ़ें।

(१०) अपने कानों के निकट एक घड़ी रखें और उसकी 'टिक्-टिक्' ध्वनि को ध्यानपूर्वक सुनें। दूसरे दिन उसको कुछ दूरी पर रखें और उसकी ध्वनि को ध्यानपूर्वक सुनें। इसी प्रकार प्रत्येक दिन उसको अधिकाधिक दूर रखते जायें और उसकी ध्वनि को ध्यानपूर्वक सुनने का अभ्यास करें।

(११-१२) अपने कानों को सदा सूक्ष्मग्राही रखें। पक्षियों और पशुओं के शब्द, लड़कों का कोलाहल, कारखानों की आवाज, मोटरगाड़ियों की ध्वनि, वायुयानों का स्वर, मोटर-साइकिलों की ध्वनि, लोगों का चीखना, चिल्लाना, चित्कारना, सिसकना, हँसना, चिढ़ाना, मजाक आदि के नाना प्रकार के शब्दों के अन्तर को समझते रहें। एक शान्त कमरे में बैठ जायें। अपनी आँखों को बन्द कर लें और इन विभिन्न शब्दों पर मन की एकाग्रता को केन्द्रित करें। एक स्वर से दूसरे स्वर में क्या अन्तर है, समझें। आपमें यह योग्यता आ जानी चाहिए कि बिना देखे, किसी व्यक्ति को उसके स्वर अथवा पद-चाप से पहचान जायें। संसार में कई व्यक्ति ऐसे हैं जिनका स्वर एक-दूसरे से मिलता है। आपको यह समझने की योग्यता होनी चाहिए कि श्रीमान् आर. बनर्जी की बोली और आपके भतीजे श्री गंगाराम की बोली, जो एक-दूसरे से मिलती है, किस प्रकार एक-दूसरे से अलग-अलग पहचानी जा सकती है। इसी प्रकार आपमें कल्याणी, भैरवी, दीपक, मालकोश आदि रागों को सुनते ही पहचानने की क्षमता होनी चाहिए।

(१३) दूसरे व्यक्ति के वक्षस्थल पर अपना कान लगा कर उसके हृदय की गति की आवाज को सुनने का प्रयत्न करें। गौरैया तथा अन्य पक्षियों की आवाज को सुनें और उनकी आवाजें पहचानने का प्रयत्न करें। कभी-कभी वे गाती हैं और किसी समय सङ्कट उपस्थित होने पर सङ्कट की सूचना देती हैं। उन शब्दों में या तो अपने

मित्रों को सावधान रहने का सन्देश रहता है या आ कर सहायता देने का। पशुओं तथा पक्षियों की अपनी भाषा होती है। योगी उनकी भाषा को समझ सकते हैं। स्वर पर संयम करने की एक विशेष प्रविधि है। कई पुरुषों का स्वर स्त्रियों के समान होता है और कई स्त्रियाँ पुरुषों के समान मोटा बोलती हैं। इन दोनों में भेद समझने की क्षमता होनी चाहिए। साँप के फुफकारने की ध्वनि को समझना चाहिए और उसकी फुफकार में क्या अन्तर है, यह भी अच्छी तरह जानना चाहिए। आपमें यह क्षमता होनी चाहिए कि आप दूर से बतला सकें कि उस कमरे में साँप है। कुत्ते, घोड़े और हाथी बहुत चालाक जानवर होते हैं। उनमें साधारण चेतना होती है। वे कुछ शब्दों द्वारा हँसते, मुसकाते और प्रसन्नता तथा कृतज्ञता के भावों को प्रकट करते हैं। आपमें उन सब स्वरों की प्रकृति को समझने की योग्यता होनी चाहिए। जिन अभ्यासों का वर्णन ऊपर दिया जा चुका है, उनका अभ्यास करने पर आप अपनी श्रवण-शक्ति तथा स्मरण-शक्ति का आश्चर्यजनक विकास कर सकते हैं। अपने व्यापार तथा लोक-कार्य में सुसफल हो सकते हैं। क्षिप्रग्राही कानों और तीक्ष्ण नेत्रों से सुपरिणाम प्राप्त होते हैं।

(१४) जब कभी किसी व्यक्ति से मिलें तो उसको शिर से पैर तक सावधानी से देखें और मन में उसकी विशेष आकृति, उसकी आँखें, उसकी भौंहें, उसके दाँत, उसकी भुजाएँ, उसकी बोली, उसका व्यवहार, उसका रूप-रङ्ग, उसकी चाल आदि को नोट करते जायें। बहुत से लोग ऐसे हैं, जो अपने अन्तरङ्ग मित्रों की आकृति का विवरण भी नहीं दे सकते जिनके साथ वे वर्षों से रह रहे हैं। पुत्र अपने पिता की आकृति की विशेषता नहीं बतला पाता है यद्यपि उनमें घनिष्ठ सम्बन्ध है और वे कई वर्षों से साथ-साथ रहे हैं। इसका प्रत्यक्ष कारण यह है कि पुत्र ने अपनी निरीक्षण-शक्ति, दृष्टि तथा स्मृति का विकास नहीं किया है। जब तक निरीक्षण-शक्ति तीव्र और असाधारण न हो, मनुष्य वैज्ञानिक नहीं बन सकता। वैज्ञानिक को प्रकृति में घटने वाली सूक्ष्मतम घटनाओं का निरीक्षण करना पड़ता है तथा निष्कर्ष और अनुमान लगाने पड़ते हैं। उसे प्रकृति के नियमों का अध्ययन करने के लिए तथ्य तथा आँकड़े एकत्रित करने होते हैं।

(१५) अपने किसी मित्र की बैठक में जा कर वहाँ की प्रत्येक वस्तु का सूक्ष्म निरीक्षण करें। अब आँखों को बन्द कर एक बार उनकी यथावत् कल्पना करें। अब कमरे से बाहर आ जायें और अपनी नोट-बुक में सभी वस्तुओं के नाम उसी क्रम से लिखें जिस क्रम से वे कमरे में रखी गयी हैं। अब कमरे में प्रवेश करें और अपने विवरण की जाँच करें। यह अभ्यास दीर्घ काल तक करते रहना चाहिए। इससे आपमें अपूर्व दर्शन-शक्ति का विकास होगा।

(१६) किसी स्थानीय पुस्तकालय में जा कर वहाँ अलमारी अथवा खानों में रखी हुई दो पंक्तियों की सभी पुस्तकों को ध्यानपूर्वक नोट कर लें। अपने नेत्रों को बन्द कर लें और सोचें। अब अपनी डायरी में उन्हें नोट कर लें और मिलान करें। भूलें होती हैं तो होने दें। इसमें कोई हानि नहीं। एक समय ऐसा भी आयेगा जब आपसे एक भी भूल न होगी। आपमें ऐसी क्षमता होनी चाहिए कि आप अपने मित्रों की चाल तथा उनके अङ्गों की गति को दूर से देख कर बड़ी भीड़ में खोज सकें।

(१७) काश्मीर के श्रीनगर में एक अन्धा व्यक्ति रहता था, जो वस्त्रों के रङ्गों का निश्चय केवल स्पर्श द्वारा ही करता था। स्पर्श-शक्ति के विकास की क्या ही आश्चर्यजनक सीमा है! यह सब प्रशिक्षण की ही विशेषता है। रात को आप अच्छी तरह देख नहीं सकते हैं। उस समय देखने की शक्ति मन्द हो जाती है; पर सुनने की शक्ति का विकास हो जाता है। यह प्रकृति का क्षतिपूर्ति का नियम है। बहुत से बहरे और गूँगे व्यक्ति हैं जो बहुत ही प्रतिभाशाली हैं। वे प्रेस में कम्पोजीटर हो कर अच्छा काम करते हैं। जब एक इन्द्रिय विकारयुक्त हो जाती है तो दूसरी इन्द्रिय अधिक विकसित होती है। कार्यविरत इन्द्रिय की शक्ति का उपयोग दूसरी इन्द्रिय करती है; अतः उसका शीघ्र विकास होता है। प्रकृति बहुत दयालु तथा बुद्धिमती है। ऐसे भी लोग हैं जो एक समय में दो से अधिक चीजें स्मरण नहीं रख सकते। एक सिपाही था, जो बारूद के घटकों के नाम ही याद नहीं रख पाता था, यद्यपि वह प्राङ्गेय कारखाने में लगातार कई महीनों तक रहा। इसका कारण स्मृति-शक्ति का कुण्ठित हो जाना है।

(१८) न्यायालय में न्यायाधीश के कान क्षिप्रग्राही होने चाहिए। तभी वह सुयोग्य न्यायाधीश हो सकता है। वह सभी गवाहियों को बिना किसी भूल के शीघ्र लिख सकता है। सेनापति की दृष्टि अत्यन्त तीक्ष्ण होनी चाहिए। तभी वह पैदल सेनाओं और घुड़सवारों का पर्यवेक्षण कर सकता है, दूर से आते हुए शत्रु-शैन्य को स्पष्ट देख सकता है। अपनी श्रवण और अवधान की शक्तियों की उन्नति करनी होगी। इन दोनों के विकास से स्मृति की उन्नति में बहुत सहायता मिलती है। कुछ लोगों में श्रवण-शक्ति का विकास अधिक रहता है और कुछ लोगों की दर्शन-शक्ति अधिक विकसित रहती है। कुत्तों की नाक तेज होती है। प्रकृति ने प्राणियों की रचना में अपनी बौद्धिक कुशलता का पर्याप्त परिचय दिया है। साँपों की श्रवण-शक्ति क्षिप्रग्राही होती है। वे अपने नेत्रों से सुन लेते हैं। उनके अलग कान नहीं होते। व्याघ्र की नाक तेज होती है। उन्हें बहुत दूर से ही रक्त की गन्ध मिल जाती है। ईश्वरीय सृष्टि में पग-पग पर प्रकृति की बौद्धिकता का लीला-विलास है। सङ्गीतज्ञों और गायकों के कान क्षिप्रग्राही हुआ करते हैं। उनको इनका विकास करना होता है। शब्दों की गूँज में से उनको बहुत-सी विभिन्न लहरियों को खोजना पड़ता है और राग के भेद समझने

पड़ते हैं। मनुष्य का व्यवसाय ही उसे अपनी उस विशेष इन्द्रिय का विकास करने को बाध्य करता है जो उसकी कला अथवा विज्ञान की उन्नति में सहायक हो।

(१९) अपनी स्मृति को समुन्नत करने में जो व्यायाम आपके सर्वाधिक अनुकूल हो उसे अपना लें और नित्यप्रति इसमें नियमित रहें। प्रतिदिन का विवरण रखें। यह भी बहुत ही आवश्यक है। केवल पुस्तकों के पृष्ठों को पलटते रहने से काम नहीं चलेगा। यदि आप शीघ्र आत्म-सुधार करना चाहते हैं, यदि आप एक सच्चे मनुष्य बनना चाहते हैं तो टिप्पणियाँ लिखें और सभी शिक्षाओं को आचरण के साँचे में ढालें। आप अपनी प्रगति देख सकते हैं और अपनी त्रुटियों को सुधार सकते हैं। मैं आपको शीघ्र ही एक व्यावहारिक मनुष्य बना देना चाहता हूँ। एक छोटी-सी पुस्तिका रखें। आपने जो अभ्यास किया है उसकी प्रतिलिपि प्रतिमाह मेरे पास भेजें। मैं आपको आपकी सफलता के लिए अग्रवर्ती पाठ्यक्रमों के सम्बन्ध में मूल्यवान् सुझाव दूँगा। मैं आपको ठीक मार्ग पर लगा दूँगा। यदि आप बहुत ही इच्छुक और लगन के पक्के हैं तो केवल तीन महीने में ही पर्याप्त उन्नति अनुभव करेंगे।

(२०) स्मरण-शक्ति की उन्नति के लिए उपर्युक्त प्रयोगों में से कुछ को चुन लें और उनका अभ्यास करें। कुछ प्रगति कर लेने पर अपनी स्मरण-शक्ति का उपयोग केवल उन्हीं मुख्य विषयों को स्मरण करने के लिए करें जिनसे आपका सम्बन्ध है। यदि आप संन्यासी हैं तो आपको अपने युवाकाल तथा विद्यार्थी-जीवन को स्मरण करने की आवश्यकता नहीं है। यदि आप वकील हैं तो आपको विभिन्न औषधियों तथा उनके मूल्यों को स्मरण करने की आवश्यकता नहीं है। इसी भाँति यदि आप धारणा तथा ध्यान का अभ्यास कर रहे हैं तो गत शुक्रवार को खायी हुई दाल को स्मरण करने की आवश्यकता नहीं है। त्यागी शास्त्रों के अनेक विषयों तथा अनुच्छेदों को स्मरण रखता है; किन्तु उसकी थैली में कितने सिक्के हैं, इसे वह स्मरण नहीं रखता। शक्ति तथा स्मरण-शक्ति का उपयोग लाभप्रद स्रोतों में ही करना चाहिए। स्मृति की उन्नति के महत्त्व को समझने तथा स्मरण-शक्ति को उपयोगी दिशा में ही प्रयोग करें। यह आपके दैनिक जीवन में बहुत ही लाभदायी होगा। यह आपके सङ्कल्प के विकास में अत्यधिक सहायक होगा। अब हम सङ्कल्प की उन्नति पर विचार करेंगे जिसकी राजयोग की साधना में प्रमुख भूमिका है।

१८. सङ्कल्प की उन्नति

सङ्कल्प की उन्नति एक अन्य प्रमुख साधना है। यह सभी आध्यात्मिक साधकों के लिए लाभप्रद है। सङ्कल्प ही आत्मबल है। सङ्कल्प को यदि शुद्ध तथा अप्रतिहत बना लिया जाये तो वह अद्भुत तथा चमत्कारिक कार्य भी कर सकता है। बलवती

इच्छा वाले व्यक्ति के लिए त्रिलोक में कोई भी प्राप्तव्य असम्भव नहीं है। संसार में बहुत से लोग ऐसे हैं जिनको सङ्कल्प, मन और बुद्धि की जानकारी नहीं है, यद्यपि वे सङ्कल्प तथा मन के विषय में खूब तर्क किया करते हैं। वासना से सङ्कल्प अशुद्ध और निर्बल हो जाता है। एक-एक इच्छा, यदि वश में कर ली गयी तो वह सङ्कल्प बन जाती है। काम-शक्ति, मांसल शक्ति, क्रोध आदि शक्तियों पर जब अधिकार प्राप्त कर लिया जाता है तो वे सङ्कल्प में रूपान्तरित हो जाती हैं। इच्छाएँ जितनी कम हों, सङ्कल्प उतना ही बलवान् होता जाता है।

मनुष्य के अन्दर जितने प्रकार के मानसिक बल हैं, सङ्कल्प-बल उन सबका राजा है। सङ्कल्प इच्छा-शक्ति है, प्राण क्रिया-शक्ति है और बुद्धि ज्ञान-शक्ति है। जब सङ्कल्प क्रियाशील होता है तो निर्णय-शक्ति, स्मृति-शक्ति, धारणा-शक्ति, प्रज्ञा, तर्क-शक्ति, विवेक-शक्ति, अनुमान-शक्ति, प्रतिभिज्ञा-शक्ति आदि पलक मारते ही क्रियाशील हो जाती हैं। वे अपने स्वामी सङ्कल्प की सहायक बन कर उसके कार्य में सहायता देने आती हैं।

भगवदिच्छा सर्वशक्तिमयी है। ईश्वर का सङ्कल्प हुआ कि तत्क्षण ही कार्य का सम्पादन हो जाता है। मनुष्य सङ्कल्प करता है, पर उसे इच्छित वस्तु की प्राप्ति होने या कार्य के पूर्ण होने में देर लग जाती है; क्योंकि उसका सङ्कल्प कमजोर होता है। मनुष्य सोचता है, सङ्कल्प करता है और धीरे-धीरे उस वस्तु को कुछ काल में प्राप्त कर लेता है। यदि सङ्कल्प शुद्ध और बलवान् है तो पदार्थ की प्राप्ति अथवा कार्य की सफलता तत्क्षण में ही प्राप्त की जा सकती है। किन्तु सङ्कल्प ही किसी वस्तु की प्राप्ति में सफल नहीं होता है। सङ्कल्प के साथ निश्चित उद्देश्य को भी जोड़ना होगा। इच्छा या कामना तो मानस-सरोवर में एक छोटी लहर-सी है; किन्तु सङ्कल्प वह शक्ति है जो इच्छा को कार्य-रूप में परिणत कर देती है। इच्छा का कार्यान्वित होना सङ्कल्प पर निर्भर है।

ज्ञानी पुरुष जो-कुछ सोचते हैं, वह शुद्ध सङ्कल्प है, वही सत्सङ्कल्प है। सत्सङ्कल्प की शक्ति के कारण वे किसी भी कार्य को सफलतापूर्वक कर सकते हैं। चुडाला ने अपने पति शिखिध्वज की परीक्षा लेनी चाही। उसने अपने सङ्कल्प से अपने लिए काल्पनिक पति की सृष्टि कर दी। अपने पति को अपनी अलौकिक शक्ति का विश्वास दिलाने के लिए वह अपने सङ्कल्प से आकाश में स्थित हो गयी। शिखिध्वज ने तत्काल ही उसे अपने गुरु के रूप में स्वीकार कर लिया।

निम्बार्काचार्य ने सङ्कल्प किया कि सूर्य उसके घर के सामने वाले नीम के वृक्ष को पार न करे। सूर्य ने उनकी आज्ञा का पालन किया। मुल्तान के एक योगी शम्स तब्रीज़ ने सङ्कल्प किया कि उनका मांस भूनने के लिए सूर्य नीचे आ जाये। सूर्य ने

तत्काल ही उनकी आज्ञा शिरोधार्य की। इन लोगों में प्रबल सङ्कल्प-शक्ति थी। अपनी साधना के प्रारम्भ में जब आपका सङ्कल्प अल्प मात्रा में विकसित हुआ हो, यदि आप भी ऐसा सङ्कल्प करें तो आप सफल नहीं होंगे।

विश्वामित्र के सङ्कल्प में शक्ति थी; इसलिए वे त्रिशङ्कु के लिए तीसरे लोक की रचना कर सके। दत्तात्रेय की इच्छा-शक्ति प्रबल रहने के कारण वे केवल सङ्कल्प-बल से एक नारी की सृष्टि कर सके। ज्ञानदेव का सङ्कल्प तेजस्वी था जिससे उन्होंने दीवाल को चला दिया। सभी ज्ञानी और योगीजनों का सङ्कल्प बहुत शक्तिमान् हुआ करता है। महात्मा गान्धी जी को ही देखिए। उन्होंने अपने अप्रतिरोध्य सङ्कल्प से समस्त संसार को आश्चर्यजनक ढंग से प्रभावित कर दिया।

अनुद्विग्न तथा सन्तुलित मन, प्रसन्नता, आन्तरिक बल, कठिन कार्य-सम्पादन की क्षमता, सभी अध्यवसायों में सफलता, प्रभावुक तथा आकर्षण व्यक्तित्व, ओजपूर्ण मुख-मण्डल, चमकती आँखें, स्थिर दृष्टि, ओजपूर्ण वाणी, उदार चरित्र, दृढ़ स्वभाव तथा निर्भयता—ये प्रबल सङ्कल्प-शक्ति वाले व्यक्तियों के कुछ लक्षण हैं।

१९. इच्छा-शक्ति की साधना

अवधान, तितिक्षा, विपत्तियों में धैर्य, एक पैर पर खड़ा रहना, भीषण धूप में बैठना, शीतकाल में शीतल जल में खड़ा रहना, हाथों को सदा ऊपर उठाये रखना तथा उन्हें एक स्थिति में रखना आदि, तपस्या, उपवास, सहिष्णुता, प्रकृति-जय, मृदुलता, शान्ति, दृढ़ता, सत्याग्रह, दैनन्दिनी रखना, मन्त्र-जप—ये सब सङ्कल्प-विकास को सुलभ बनाते हैं। उपर्युक्त का दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कारपूर्वक अभ्यास करने से उच्च कोटि का सङ्कल्प-विकास सम्भव हो पाता है।

मनुष्य को चाहिए कि वह दूसरों की बातों को धैर्यपूर्वक सुने, यद्यपि वे बातें रोचक तथा आकर्षक न हों। उसे क्षुब्ध नहीं होना चाहिए। धैर्यपूर्वक सबकी बातें सुननी चाहिए। तभी सङ्कल्प की उन्नति की जा सकती है तथा दूसरों के हृदय को जीता जा सकता है। जो काम आपको अच्छा न लगे, उसे करना चाहिए। इससे सङ्कल्प का विकास होता है। आरम्भ में वे काम आपको रुचिकर नहीं लगेंगे; किन्तु कुछ दिनों के अनन्तर उनमें से नवीन आनन्द बरसने लगेगा।

किसी स्थान में और किसी भी अवस्था में अपने को प्रसन्न रखने की चेष्टा करें। इससे आपके व्यक्तित्व में बल और तेज उतरेगा। यह एक महान् रहस्य है। इसे अपने हृदय में रखें और ऐसे स्थान की खोज करें जिसमें अनहत आनन्द है, शाश्वत सुखदायक निवास है। आप किसी भी कार्य में सफल बनेंगे और किसी भी कठिनाई पर विजय की प्राप्ति कर सकेंगे।

मन की एकाग्रता का अभ्यास सङ्कल्प की उन्नति में अत्यधिक सहायक है। मन का क्या स्वभाव है, वह किस तरह इधर-उधर घूमता है और किस तरह अपना कार्य सम्पन्न करता है; इसका अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त कर लें। भ्रमणशील मन को वश में करने के लिए सरल तथा प्रभावशाली विधियों को खोज निकालना चाहिए। मन की एकाग्रता का अभ्यास तथा स्मृति के विकास के अभ्यास का परस्पर सम्बन्ध है। इन सबका व्यवहार सङ्कल्पोन्नति में सहायता देता है। कहाँ एकाग्रता के अभ्यास या स्मृति के विकास की समाप्ति होती है और कहाँ से सङ्कल्प का विकास आरम्भ होता है, इसकी सीमान्त-रेखा नहीं खींची जा सकती। इसका कोई सुदृढ़ नियम नहीं है। ब्रह्मचर्य की तेजस्विता पर सङ्कल्पों का तेज निर्भर है। ब्रह्मचर्य में स्थित हुए बिना सङ्कल्प की साधना में उन्नति नहीं की जा सकती। सच कहा जाये तो ब्रह्मचर्य के तेज का ही दूसरा नाम सङ्कल्प है। प्रत्येक वीर्य-बिन्दु में चुम्बकीय आकर्षण रहता है।

निम्नाङ्कित सूत्रों के निरन्तर अभिकथन तथा ध्यान से निश्चित ही सङ्कल्पोन्नति होती है :

१. मेरा सङ्कल्प शुद्ध, तेजस्वी और अप्रतिहत है ॐ ॐ ॐ
२. सङ्कल्प से मैं किसी भी कार्य को कर सकता हूँ ॐ ॐ ॐ
३. मेरा सङ्कल्प अजेय है ॐ ॐ ॐ

उपर्युक्त सङ्कल्पों के अभिकथन के समय उनके भावों के अनुरूप अनुभव भी करना चाहिए। अमर आत्मा पर ध्यान करने से सङ्कल्प का विकास होता है। यह विधि सर्वाधिक अच्छी है। अपने सङ्कल्पों का दुरुपयोग न करें, अन्यथा निराशाजनक पतन के गर्त में जा गिरेंगे। आरम्भ में अपने सङ्कल्प की परीक्षा न लें। जब तक सङ्कल्प शक्तिमय, शुद्ध तथा अप्रतिरोध्य नहीं हो जाते, प्रतीक्षा करते रहें।

२०. सङ्कल्पोन्नति-सम्बन्धी आदेश और उपदेश

(१) जो शक्तिशाली और विलक्षण व्यक्तित्वशाली अथवा प्रतिभाशाली व्यक्ति बनना चाहते हैं, उन्हें अपने जीवन के प्रत्येक क्षण का उपयोग महान् कार्यों में करना चाहिए और मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए सचेष्ट रहना चाहिए। व्यर्थ की बातचीत सदा के लिए त्याग देनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को समय के मूल्य का ज्ञान होना चाहिए। सङ्कल्प में तेज तभी निखरने लगेगा, जब समय का उचित उपयोग किया जाये। अध्यवसाय तथा संलग्नता, रुचि तथा अवधान, धैर्य तथा अप्रतिहत प्रयत्न, विश्वास तथा स्वावलम्बन मनुष्य को विश्वविख्यात बना देते हैं।

(२) अपने सङ्कल्पों का व्यवहार योग्यतानुसार करना चाहिए; अन्यथा सङ्कल्प क्षीण हो जायेगा और आप हतोत्साह हो जायेंगे। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है। अपनी

योग्यता के अनुसार अपना कार्यक्रम बना लें और उसका सम्पालन नित्यप्रति सावधानी से करें। अपने कार्यक्रम में पहले-पहल कुछ ही विषयों को सम्मिलित करें। यदि आप अपने कार्यक्रम को अनेक विषयों से भर देंगे तो न तो उसे निभा सकेंगे और न लगन के साथ दिलचस्पी ही ले सकेंगे। आपका उत्साह कम होता जायेगा। शक्ति तितर-बितर हो जायेगी। मस्तिष्क में थकान का अनुभव होगा। अतः आपने जो-कुछ करने का निश्चय किया है, उसका अक्षरशः पालन प्रतिदिन किया जाना चाहिए।

(३) विचारों की अधिकता सङ्कल्पित कार्यों की सफलता में बाधा पहुँचाती है। इससे भ्रान्ति, संशय और दीर्घसूत्रता का उदय होता है। सङ्कल्प की तेजस्विता में शिथिलता आ जाती है। अवसर हाथ से चले जाते हैं। कभी-कभी तो यह भी हो जाता है कि आप किसी कार्य को हाथ में लेने से हिचकिचा जाते हैं। अतः आवश्यक है कि कुछ समय के लिए विचार करें और तभी निर्णय करें। ज्यों-ही मन में विचार आये त्यों-ही सङ्कल्प करना आरम्भ कर देना चाहिए। अनावश्यक विलम्ब नहीं करना चाहिए। कभी-कभी सोचते तो हैं, पर कर नहीं पाते हैं। उचित विचार तथा उचित अनुभवों के अभाव में ही यह हुआ करता है। अतः उचित रीति से सोचना चाहिए और उचित अनुभव ही करने चाहिए; तभी सङ्कल्प की सफलता अनिवार्य है। उचित विचार के साथ उचित अनुभव का होना अपरिहार्य है।

(४) जो मनुष्य सङ्कल्प-विकास की चेष्टा कर रहा है, उसे सदा मस्तिष्क शान्त रखना चाहिए। सभी परिस्थितियों में अपने मन का सन्तुलन बनाये रखना चाहिए। मन को अनुशासन की शिक्षा देनी चाहिए। यह अभ्यास करणीय है। मन का सन्तुलन हुआ तो पहुँचे हुए योगी के लक्षणों का आभास प्रत्यक्ष होता है। जो योगी अपने मन को सदा सन्तुलित रखता है, वास्तव में वह सुखी तथा सिद्ध पुरुष है। वह सभी कार्यों में आशातीत सफलता प्राप्त करता है। मन को सन्तुलित करने के लिए आप पचासों चेष्टाओं में असफल होते रहेंगे; किन्तु इक्यावनवीं चेष्टा से आपके सङ्कल्प को बल प्राप्त होगा। आपमें मानसिक सन्तुलन धीरे-धीरे प्रकट होगा। आरम्भ में असफलताओं के बावजूद भी हतोत्साह नहीं होना चाहिए।

(५) भयानक सङ्कट आने पर भी मन का सन्तुलन नहीं खोना चाहिए। मन को शान्त तथा उत्साही रखें। बहे हुए दूध पर चिल्लाने से क्या लाभ? घटना घट चुकी है। हँस-हँस कर विफलताओं का प्रतिकार करना होगा। उससे सर्वोत्तम लाभ उठाने का प्रयत्न करें। कठिनाई को पार करने की, विषय को अकटु बनाने की विधि खोज निकालें। मन को कभी भी उद्विग्न न होने दें। भावनाओं की प्रचुरता और बुलबुले के समान उठने वाली उत्तेजनाओं के प्रवाह में बह न जायें। उनको वश में करें। आखिर

सङ्कट आया क्यों, यह झञ्झट बरसी कैसे—इस पर मनन करें। सङ्कट अथवा क्लेशकर स्थिति को पार करने के लिए उपयुक्त, प्रभावकारी सरल युक्ति खोज निकालें। अनेक बाधाओं तथा आपदाओं का सहज ही निराकरण किया जा सकता है। विफलताओं, दोषों तथा भूलों के चिन्तन में निमग्न न हो जायें। इससे आपका सङ्कल्प निर्बल हो जायेगा। दोषों को पड़े रहने दें। ज्यों-ज्यों आपका सङ्कल्प शुद्धतर और महत्तर होता जायेगा, त्यों-त्यों सभी अवगुण स्वतः ही हटते जायेंगे।

(६) समय मिलने पर यह विचार अवश्य करें कि आप अपने प्रयत्न में असफल क्यों हो रहे हैं। कारण खोज कर दूसरी बार चेष्टा करें और सावधानी से आगे बढ़ें। जिन कारणों से पहली बार असफलता मिली थी, उनका निराकरण करें, अलग हटाएँ। अपने को स्थिरचित्त रखें। सावधान तथा सचेत रहें। सतर्क रहें। आपको फुरतीला होने के साथ-ही-साथ कार्यकुशल तथा कार्यक्षम होना चाहिए। भूलें नहीं करनी चाहिए।

(७) कभी-कभी व्यावहारिक कठिनाइयाँ द्विविधा में डाल देती हैं। आपको हतोत्साह नहीं हो जाना चाहिए। हिम्मत न हारें, वरन् अपनी बुद्धि का अच्छी तरह उपयोग करें। चतुर तरीकों तथा सफल योजनाओं का आविष्कार करें। अपनी अन्तर्हित शक्तियों तथा प्रसुप्त क्षमता को काम में लायें। जब घर में आग लग जाती है तो आप कितनी स्फूर्ति से काम में जुट जाते हैं! उस क्षण आप कितनी तत्परता तथा निपुणता से कार्य करते हैं! पता नहीं चलता कि कहाँ से वह तेज तथा वह बल आया है। उस समय आपको अन्येतर व्यापार अनुभूत नहीं होते, आपका चित्त एकाग्र हो जाता है। अतः आप अपनी सम्पत्ति तथा उस मकान में रह रहे अपने सम्बन्धियों के प्राणों की रक्षा करने के लिए तत्काल कौशलपूर्ण युक्तियाँ निकाल लाते हैं। आप आश्चर्यजनक कार्य करते हैं। जब बला टल जाती है तो कहते हैं : "ईश्वर की रहस्यमयी शक्ति उस समय मेरे अन्दर कार्य कर रही थी।"

(८) विकट परिस्थितियों पर विजय पाने और सफल बनने के लिए दृढ़ लगन और अनहत धैर्य की आवश्यकता है। धृति और मानसिक साम्य सङ्कल्पोन्नति में पर्याप्त सहायक होते हैं।

(९) यदि सङ्कल्प के विकास में विलम्ब हो तो दुःखित और चिन्तित नहीं होना चाहिए। किसी-न-किसी दिन सङ्कल्प आपकी सब इच्छाओं की पूर्ति करेगा ही। जिस दिन सङ्कल्प का आविर्भाव होगा, आप केवल इच्छा मात्र से दूसरे के दुःखों को दूर कर सकेंगे। इच्छा करें—"रोगी उस रोग से मुक्त हो जाये।" यह इच्छा सचमुच में तत्काल घट जायेगी। आप वास्तव में चकित हो जायेंगे। सङ्कल्प मात्र से अपनी शारीरिक व्याधियों का निवारण किया जा सकता है। निश्चयपरायण बुद्धि से सङ्कल्प

करें : "मैं श्री बालकृष्ण को ८ बजे प्रातः मिलूँगा।" वह व्यक्ति ठीक समय पर आपके पास आ पहुँचेगा। सङ्कल्प आपका आज्ञाकारी तथा सहयोगशील सेवक है। आप जो-कुछ भी चाहेंगे, वह सब सङ्कल्प-बल से ही प्राप्त हो जायेगा। यदि विलम्ब हो तो सङ्कल्प का प्रयोग पुनः करें। प्रारम्भ में सङ्कल्प के प्रयोग में कुछ कठिनाई अवश्य अनुभव होगी; क्योंकि आपको इसका अभ्यास नहीं है। अभ्यास करते-करते आपको सङ्कल्प का प्रयोग आ जायेगा और आप इसकी युक्ति और पद्धति को समझ जायेंगे। सङ्कल्प का प्रयोग देखते-देखते किया जा सकता है और प्रकाम्य वस्तु की प्राप्ति भी पलक मारते ही हो जाती है। सङ्कल्प की तेजस्विता पर उपलब्धि निर्भर है। अभ्यास से आप पूर्णता प्राप्त करेंगे और अनुभव से आपको नवीन प्रयोगात्मक शिक्षा मिलेगी।

(१०) अपने सङ्कल्पों के प्रयोग में आपको बहुत सावधान रहना होगा। सङ्कल्प-शक्ति को महान् आध्यात्मिक सफलताओं की प्राप्ति के लिए सुरक्षित रखना ही बुद्धिमानी है। सांसारिक सफलता के लिए शक्ति का प्रयोग करना मूर्खता होगी। यह जीवन केवल एक बुलबुला है, केवल दीर्घ-स्वप्न के समान है। ऐसे संसार की सफलताएँ आपको नित्य शान्ति और चिर सुख नहीं दे सकेंगी। यदि विश्वास नहीं है तो अपने सङ्कल्पों का प्रयोग एक या दो सांसारिक सफलताओं के लिए करके देखें। तब आप स्वयं समझ जायेंगे और तभी आपको इस महान् शक्ति की उपयोगिता का पता चलेगा। अतः अपने सङ्कल्पों का प्रयोग आत्मसाक्षात्कार के लिए करें। सांसारिक सफलताओं को ठुकरा दें। इनका मूल्य ही क्या है? खर या काक की विष्ठा के समान ये त्याज्य हैं। वैभवशाली सांसारिक बनने के बदले राजयोगी बन जायें। तभी आप नित्य तृप्त हो सकेंगे।

(११) शान्तिपूर्वक और दृढ़ता से अपने अभिकथन का पालन करते रहें। अपने अभिकथन का अभिप्राय भली-भाँति समझ लें तथा उसे अनुभव करने का प्रयास करें। धीरे-धीरे भावना प्रत्यक्ष होती जायेगी। आपको अपने पुराने शत्रुओं से, संस्कारों से युद्ध करना पड़ेगा। अतः धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करें। धैर्य, अवधान, सहिष्णुता, मन की साम्यता तथा प्रत्युत्पन्न मति के विकास की चेष्टा करनी चाहिए। यह जान लें कि सङ्कल्पों के विकास के लिए इन गुणों का विकास अनिवार्य है। अवधान का भी विकास करें। तीन माह तक सङ्कल्प-साधना करें। इस काल में आपको आन्तरिक बल का अनुभव होगा और वे कार्य जो कुछ काल पूर्व कठिन प्रतीत होते थे, अब आसानी से किये जा सकेंगे। आप यह भी अनुभव करेंगे कि आपका मन स्थिर हो गया है। पहले जो विचार आपके मन को सहज में ही उद्विग्न कर देते थे, वे अब वैसा नहीं कर पायेंगे। आप सहज ही प्रचुर कार्य कर सकेंगे। आपकी चाल में मनोहरता है।

आपकी वाणी में शक्ति का आविर्भाव हुआ दीखता है। आपके व्यक्तित्व में परिवर्तन आ गया है। आपके कपोलों में रक्तिमा है, मुस्कान में एक विशेष आकर्षण है। आप अब बहुत से लोगों को प्रभावित कर सकते हैं। आपका मित्र-वर्ग आपके मुख-मण्डल पर चुम्बकीय ज्योति की आभा पाता है।

(१२) मन की एकाग्रता का अभ्यास सङ्कल्प और स्मृति की साधना के साथ-साथ चलना चाहिए। मन की एकाग्रता से सभी साधनाओं में सहायता मिलती है। मन एकाग्र हुए बिना किसी भी साधना में उन्नति नहीं हो सकती है। प्रतिदिन प्रातःकाल तथा सायङ्काल को मन को एकाग्र करने का नियमित अभ्यास करना चाहिए। मन की एकाग्रता के लिए एक आध्यात्मिक आधार की आवश्यकता है। यह याद रखें कि मन को केन्द्रस्थ करने का अभ्यास आप केवल सङ्कल्प और स्मृति के विकास के लिए ही नहीं करते हैं, वरन् आत्म-साक्षात्कार के लिए भी करते हैं। वास्तव में ध्येय तो यही है। इसको कभी भी न भूलें। मेरे और अन्य अनेक अनुशासनों में यही मुख्य भेद है। मेरे अनुशासन में ब्रह्मचर्य तथा आत्मसाक्षात्कार दोनों कुञ्जियाँ हैं। मैं भिन्न-भिन्न स्थलों में इन्हीं दो बातों को बार-बार दोहराता हूँ। मैं आपके सङ्कल्प और स्मृति की उन्नति को आपके ही जीवन की सफलता और अन्ततः ब्रह्मानन्द की उपलब्धि के लिए चाहता हूँ। एकाग्रता का अभ्यास सङ्कल्प तथा स्मृति की उन्नति की साधना में भी अत्यधिक सहायक होता है। मन की एकाग्रता के अनुभवों का लेखा एक डायरी में लिखते रहें और उसकी प्रतिलिपि प्रति माह मेरे पास भेजें।

(१३) सात्त्विक गुणों का भी विकास करें। चरित्र-निर्माण-सम्बन्धी साहित्य का अध्ययन करें; उससे आप बहुत प्रकार के गुणों की साधना की विधियाँ सीख सकेंगे। जो गुण आपमें सर्वथा अनुपस्थित है, उसी की साधना करें। उच्च कोटि का साहस, दया, विश्वप्रेम, भद्रता, सहानुभूति, सन्तोष, निष्कपटता, सच्चाई का विकास करें। जब आप एक गुण का विकास कर लेते हैं तो अन्य सारे गुण अपने-आप आपमें आ जायेंगे। गुणों के विकास के लिए प्रतिदिन कुछ समय अवश्य लगाना चाहिए।

(१४) अवगुणों का उन्मूलन करें। वैसे तो सद्‌गुणों के विकास से ही दुर्गुणों का मूलोच्छेदन हो जायेगा; किन्तु अच्छा यह है कि इन दुर्गुणों के उन्मूलन के लिए सीधा उद्योग किया जाये। तब उन्नति शीघ्र होती है। यह शत्रु पर दोतरफा आक्रमण है। उस अवस्था में सफलता आसान तथा निश्चित हो जाती है। यदि आप काम-वासना, क्रोध अथवा अहङ्कार को हटा सके तो अन्य सब अवगुण आप-से-आप लुप्त हो जायेंगे। सभी अवगुण अहङ्कार के सेवक हैं। यदि अहङ्कार का नाश हो जाये, यदि सेनापति मारा जाये तो सारी सेना भयातुर हो कर भाग जायेगी; क्योंकि उसका प्रमुख अब नहीं रहा। सभी अवगुणों का स्रोत क्रोध है। यदि क्रोध का नाश कर दिया जाये तो सभी

प्रकारे के अवगुण लुप्त हो जायेंगे। अतएव अहङ्कार और क्रोध को नष्ट करने की ओर ध्यान दें। तब सभी काम हो जायेगा।

(१५) इन्द्रियों पर संयम रखें। शक्ति को सुरक्षित रखें। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यदि इन्द्रियाँ उपद्रवी हैं तो मन की एकाग्रता स्थापित नहीं की जा सकती। अतः सावधानी से प्रत्येक इन्द्रिय के कार्यकलापों का निरीक्षण करते रहें तथा मौन-अभ्यास, त्राटक, उपवास, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, दम, प्रत्याहार आदि उपयुक्त उपायों द्वारा उनका मार्ग अवरुद्ध करते रहें। इन्द्रियाँ ही आपको बाहर घसीट लाती हैं और मन को बहिर्मुखी बनाती हैं। अतः इन्द्रियों को वश में करने का अर्थ है मन को वशीभूत करना। मन से सीधे सहायता प्राप्त किये बिना इन्द्रियाँ स्वतन्त्र रूप से कुछ भी नहीं कर सकतीं।

(१६) अन्य महत्त्वपूर्ण विषय है शारीरिक उन्नति। मैं पुनः याद दिलाता हूँ कि शारीरिक उन्नति के बिना कोई भी उन्नति सम्भव नहीं है। अतः नियमित व्यायामों से अपने शरीर को पुष्ट तथा स्वस्थ बनाये रखें।

(१७) यदि आप शीघ्र उन्नति चाहते हैं, यदि आप वास्तविक विकास चाहते हैं तो एक दैनन्दिनी में जो-कुछ इङ्गित किया जाये, वह विवेक और सत्यशीलता से किया जाये। यदि आप अपने को उपर्युक्त साधना से सुसज्जित कर लें तो इस संसार के शक्तिशाली सम्राट् बन सकते हैं। आप आरोग्य, धन, आध्यात्मिक आनन्द और दीर्घायु का सुख भोग सकते हैं। मैंने विद्यार्थियों की क्षमता के अनुसार क्रमबद्ध साधनाओं को बतलाया है; किन्तु विकास तथा उन्नति का उत्तरदायित्व आप पर है। आपको स्वयं श्रमपूर्वक कार्य करना होगा। भूख लगने से आपको स्वयं ही भोजन करना पड़ता है, दूसरे के भोजन करने से आपकी भूख नहीं मिटा करती। प्यास लगने पर आप स्वयं ही जल पी कर प्यास बुझा सकते हैं, दूसरे के पीने से आपका काम नहीं चला करता। आध्यात्मिक वीर बनें। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता के सौभागी बनें। कुछ दिनों तक अभ्यास करते-करते ये सद्गुण आपकी प्रकृति के अनिवार्य अङ्ग बन जायेंगे। अतः जब तक पूर्णता की प्राप्ति नहीं हो, इनका अभ्यास करते रहें।

(१८) हिन्दू सन्तों और ऋषियों की पौर्वात्य संस्कृति तथा पाश्चात्य देशों के तान्त्रिकों की संस्कृति की रीतियों में आसमान और जमीन का अन्तर पड़ता है। मुख्य भेद यही है कि पाश्चात्य देशों में लोग अपने सङ्कल्प और स्मृति को भौतिक विकास और सांसारिक उन्नति के लिए प्रयुक्त करते हैं। उन्होंने सामान्यतः परा-जीवन की अवहेलना ही कर दी है। यह उन लोगों की महान् भूल है। परन्तु भारत के योगी-जन अपनी स्मृति और सङ्कल्प-शक्ति को आत्मसाक्षात्कार के लिए शिक्षित करते हैं। आत्मविषयक सिद्धियों का प्रकाशन अथवा प्रदर्शन वे केवल अपने विद्यार्थियों को यह

स्पष्ट रूप से समझाने के लिए करते हैं कि 'इस इन्द्रियजन्य सुख से बढ़ कर महान् सुख आत्मनिष्ठ जीवन में है, जहाँ सच्चा आनन्द और अमरत्व प्राप्त होते हैं।' वे अपने विद्यार्थियों के मन में प्रभावशाली शब्दों में बैठा देना चाहते हैं: **"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्त्वमानशुः**—अमरत्व की प्राप्ति न तो कर्म, न धन से और न सन्तति से होती है। उसकी प्राप्ति तो एकमात्र त्याग से हो सकती है।" "सच्चा सुख भूमा या निस्सीम या अनन्त में है। संसार के नश्वर पदार्थों में सुख नहीं है। वास्तविक और अनन्त शान्ति केवल ब्रह्म में ही है। उस पूर्ण की खोज करनी चाहिए और उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।" उनकी यह शासनावली उनके (विद्यार्थियों के) कानों में सदा गूँजती रहती है।

(१९) अतः पाश्चात्यों को आध्यात्मिक संस्कृति की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए और किसी भी संस्कृति के आध्यात्मिक आधारों को नहीं भुलाना चाहिए। भौतिक उन्नति की प्राप्ति एक सीमा तक कर सकते हैं। इसके साथ-साथ आध्यात्मिक विकास भी होते रहना चाहिए। सभी संस्कृतियों तथा कार्यों के लिए एक आध्यात्मिक आधार होना चाहिए। यह परमावश्यक है। यदि इसकी पूर्ण उपेक्षा की गयी तो वह संस्कृति संस्कृति नहीं रहेगी। तात्पर्य कि सङ्कल्पोन्नति के साथ-साथ तपस्या का अभ्यास भी होना चाहिए। शौनक नामक एक बुद्धिमान् गृहस्थ ने ऋषि अङ्गिरा के पास जा कर यह प्रश्न किया, "पूज्यवर! परमोच्च अथवा महान् संस्कृति कौन है, जिसको जान लेने पर सभी संस्कृतियों का ज्ञान हो जाता है?" अङ्गिरा ने उत्तर दिया, "यह ब्रह्म-विद्या है या परा-विद्या है।" मैं इसीलिए पाश्चात्य देशों के सांस्कृतिकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करता हूँ। तब उन्हें अद्भुत सफलता तथा प्रचुर आनन्द प्राप्त होंगे। कुछ भारतीय योगी भौतिकता की एकदम उपेक्षा कर डालते हैं और तामसिक तपस्या करते हैं। यह भी अविवेकपूर्ण है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने इसकी निन्दा की है। अतिशयता सदा अनुचित हुआ करती है। योग और व्यवहार दोनों का समन्वय किया जाना चाहिए। चुडाला तथा राजा जनक में इसका सुन्दर समन्वय था।

(२०) मैं एक अन्य मुख्य बात आपके सामने रखना चाहता हूँ। जो साधक सङ्कल्प की साधना का प्रयोग कर रहे हैं उनके लिए यह अच्छा होगा कि वे अपने शब्दकोष से 'दुःसाध्य', 'कठिन', 'असम्भव' आदि शब्दों को निकाल दें; क्योंकि इनके प्रयोग करने वालों में नपुंसत्व या स्त्रीत्व का आभास होता है। भीरू औरतें ही इन शब्दों का प्रयोग किया करती हैं। सिंह के समान साहसी आचरण करें। आध्यात्मिक वीरता को अपने अन्दर प्रकट करें। आध्यात्मिक युद्ध-क्षेत्र में विजेता बनें। सङ्कल्प अथवा ॐ के उच्चारण मात्र से पर्वतों को चूर्ण-चूर्ण किया जा सकता है। सङ्कल्प के बल से गतिहीन में गति लायी जा सकती है और मृतक में जीवन का स्फुरण भर दिया

जा सकता है। प्रभु ईसामसीह ने इसे किया और आप भी इसे कर सकते हैं। यह प्रकृति का महान् नियम है कि एक व्यक्ति ने जो प्राप्त किया है उसे सभी अपने सङ्कल्प से प्राप्त कर सकते हैं। ओज से बोलें। गम्भीरता से बातचीत करें। गाम्भीर्य अभिमान नहीं है। यह महामनस्कता का गुण है।

(२१) अपने मन में निषेधात्मक विचारों को कभी प्रश्रय न दें। आत्मा की महिमा को जानें, उसकी शक्ति को पहचानें, उसकी महत्ता पर ध्यान दें। आपके मन, विचार, सङ्कल्प और स्मृति की आड़ में आत्मा ही तो है। वह सबमें व्यापक है, सबकी रग-रग में समाया हुआ है। उसकी उदारता तथा उसके स्वरूप को जानें। यह जान लें कि वह ज्ञान, आनन्द, शक्ति, सौन्दर्य, शान्ति तथा सुख का भण्डार है। ऐसा अनुभव करें कि सूर्य, चन्द्रमा, तारे और अग्नि आपकी आज्ञा से अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। अनुभव करें कि आपकी आज्ञा से वायु चलती है, जल बरसता है, अग्नि जलती है, नदियाँ बहती हैं, सूर्य चमकता है तथा तारे जगमगाते हैं। आप प्रतापों के प्रताप, सूर्यों के सूर्य तथा प्रकाशों के महाप्रकाश हैं। आप ही सत्य हैं, आप ही अविनश्वर, निर्विकार अमर आत्मा हैं, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में समाया हुआ है। अपने दैवी वैभवों का दावा करें। ब्रह्म की महिमा का अनुभव करें। अपनी स्वतन्त्रता को पूर्ण रूप से समझें।

सप्तम अध्याय

कर्म-सिद्धान्त

१. स्वरूप

प्रत्येक मनुष्य को यह विस्तृत जानकारी प्राप्त करनी चाहिए कि प्रकृति का क्या नियम है और वह कैसे काम करती है। इससे वह संसार में सरल एवं सुखी जीवन व्यतीत कर सकेगा। वह अपने लक्ष्य की पूर्ति में अनुकूल शक्ति की उत्कृष्ट तरीके से सहायता ले सकेगा। विरोधी या प्रतिकूल शक्तियों को निर्मूल कर सकेगा। मछलियाँ प्रवाह की उलटी दिशा में जिस प्रकार तैर लेती हैं वैसे ही वह मनुष्य भी आवश्यक सावधानी बरतते हुए अपने को बचा कर प्रतिकूल प्रवाहों के विपरीत चलने में समर्थ होगा। अन्यथा वह दास बन जायेगा। क़ई प्रवाहों से वह इधर-उधर खिंचता रहेगा। विभिन्न विरोधी शक्तियाँ उसे विभिन्न दिशाओं में धकेलती जायेंगी। नदी में पड़ी लकड़ी की तरह वह बहता चला जायेगा। वह हमेशा दुःखी और दीन ही रहेगा।

जहाज का वह चालक जिसके हाथ में दिशासूचक-यन्त्र हो, समुद्र का जिसे ज्ञान हो, समुद्र के मार्ग की और प्रवाहों की जानकारी जिसे हो, बड़ी सुगमतापूर्वक समुद्र को पार कर जाता है। ऐसा न हो तो जहाज इधर-उधर असहाय हो कर भटक जायेगा और हिमखण्ड से टकरा कर चूर-चूर हो जायेगा। इसी तरह इस जीवन-सागर में भी वही यात्री सुगमता से प्रवास कर सकेगा और अपनी मञ्जिल पर जा पहुँचेगा जो प्रकृति और कर्म के सिद्धान्तों को ठीक-ठीक विस्तृत रूप से जानता है। प्रकृति के सिद्धान्तों को जान लेने पर हम अपना चरित्र चाहे जिस मार्ग पर, जिस किसी रूप में ढाल सकेंगे। प्रकृति का यह एक महान् सिद्धान्त है कि 'मानव जैसा सोचता है वैसा ही बनता है।' हम सोचें कि हम शुद्ध हैं, हम शुद्ध बनते हैं। हम सोचें कि हम उदार हैं, हम उदार बनते हैं। हम सोचें कि हम मनुष्य हैं, हम मनुष्य बनते हैं। हम सोचें कि हम ब्रह्म हैं, हम ब्रह्म बनते हैं।

शुभ प्रकृति के प्रतिरूप बनो। सदा शुभ कर्म करो। सेवा करो, प्रेम करो, दान करो। दूसरों को प्रसन्न करो। दूसरों की सेवा करने के लिए जियो। तब तुम्हें भी सुख मिलेगा; अनुकूल परिस्थिति अथवा वातावरण और अवसर मिलेगा। दूसरों को पीड़ा पहुँचाओगे, धोखा दोगे, बदमाशी करोगे, चुगली खाओगे, चापलूसी करोगे या दूसरों का शोषण करोगे, अविहित रूप से दूसरों की सम्पत्ति हड़पोगे, दूसरों को कष्ट पहुँचाने का कोई भी काम करोगे तो फलस्वरूप तुम भी पीड़ा पाओगे। तुम्हारी परिस्थिति

अथवा वातावरण और अवसर भी प्रतिकूल हो जायेगा। यह प्रकृति का नियम है। जैसे शुभ या अशुभ चिन्तन से अपना स्वभाव शुभ या अशुभ बना लेते हैं वैसे ही सत् या असत् कर्म करने से हम अपनी परिस्थिति को अनुकूल या प्रतिकूल बनाते हैं। विवेकशील व्यक्ति हमेशा सजग, सावधान और अप्रमत्त रहेगा। वह सदा अपने विचारों की निगरानी करेगा। आत्मनिरीक्षण करेगा। अपने मन के कारखाने में कब क्या हो रहा है, यह ठीक जान लेगा। किस क्षण कौन-सी वृत्ति और कौन-सा गुण काम कर रहा है, यह देखेगा। मन के उस कारखाने के द्वार पर कभी किसी दुष्ट वृत्ति को फटकने नहीं देगा। अंकुर फूटते ही उसे काट देगा।

जब मन अपने वृत्ति-रूपी फण को बाहर निकालने लगता है तो वह झट से विवेक-रूपी दण्ड से उस फण पर प्रहार करता है। जिस प्रकार सैनिक अपने किले में प्रवेश करने वाले शत्रु-दल को एक के बाद एक करके मार डालता है, उसी प्रकार जब दुष्ट वृत्तियाँ मन के किले में प्रवेश करने लगती हैं तब विवेक-रूपी खड्ग से विवेकी साधक एक-एक करके उन्हें समाप्त कर देता है। इस तरह से वह अपना उदात्त चरित्र गढ़ता है।

वह अपने को हमेशा अच्छे ही वातावरण में पाने योग्य बनायेगा। जो व्यक्ति प्रसन्नता फैलाता जाता है वह हमेशा अपने लिए भी प्रसन्नता लाने वाला वातावरण ही तैयार कर लेता है। जो व्यक्ति दूसरों को दुःख पहुँचाता रहता है, वह उसके बदले में प्रकृति-नियम के अनुसार खराब और दुःखदायी वातावरण ही प्राप्त करता है। इसलिए मनुष्य स्वयं ही अपना स्वभाव और अपनी प्रकृति का निर्माण करने वाला होता है। लेकिन सद्विचारों के द्वारा स्वभाव को अच्छा बना सकते हैं और सत्कर्मों के द्वारा प्रतिकूल परिस्थिति को भी अनुकूल और सुखदायी बना सकते हैं। प्रिय मित्रो, प्रकृति के नियमों को समझ लो और बुद्धिमान् तथा सुखी बनो!

हम जिस प्रकार की कामना करते रहते हैं, उसी के अनुरूप जन्म पाते हैं और परिस्थिति भी वैसी ही मिलती है। जिस स्थिति में रहने से कामनाओं की पूर्ति होती हो उसी स्थिति में हमारा प्रारब्ध हमें रखता है। हमारी काम्य वस्तुएँ जहाँ प्राप्त होती हों उसी स्थान पर हम धकेले जाते हैं। कोई व्यक्ति एक जन्म में भारत में एक गरीब ब्राह्मण के रूप में रहा हो; पर यदि उसकी यह कामना हो कि वह बड़ा करोड़पति बने तो अगले जन्म में वह अमरीका में जन्म लेगा। भारत में कोई निर्धन मेधावी बालक यह दृढ़ कामना करे कि उच्च शिक्षा के लिए इंग्लैण्ड जाना है, उसकी इस इच्छा की पूर्ति इस जन्म में नहीं हो सकती है। लन्दन की कोई महिला निःसन्तान हो और पूरे मन से एक बुद्धिशाली लड़के की कामना करती हो तो सम्पात-नियम के अनुसार वह गरीब और बुद्धिमान् लड़का अगले जन्म में लन्दन की उसी धनी महिला के घर जन्म

ले सकता है और उसके पिछले जन्म की बलवती कामना की पूर्ति इस जन्म में हो जाती है। जिसकी जैसी कामना हो उसके ही योग्य परिस्थिति उसे भगवान् देता है जिससे कि वह उसमें पल कर अपना विकास कर सके।

मान लीजिए, कोई धनी आदमी घने जङ्गल में भटक गया है; प्यास लगी है; कहीं पानी नहीं मिल रहा है। तब एक गरीब गडरिया उसे गिलास-भर पानी पिला देता है तो यह सम्भव है कि इस छोटे-से पुण्य के परिणाम-स्वरूप वह लड़का अगले जन्म में उस धनी आदमी का ही पुत्र बने। लेकिन हो सकता है कि उस जन्म में वह अज्ञानी ही रह जाये; क्योंकि पिछले जन्म में वह गँवार गडरिया रहा है। कामना जिस प्रकार की हो, उसी के अनुरूप परिस्थिति मनुष्य को मिलती है। वह कामना ही मनुष्य को ऐसे स्थान पर खींच ले जाती है जहाँ उसकी पूर्ति होती होगी। यह प्रकृति-धर्म है। इसलिए सदिच्छाएँ ही रखनी चाहिए। तब अगला जन्म उत्तरकाशी, हिमालय, प्रयाग या ऐसे ही किसी स्थान में मिलेगा जहाँ रह कर तपस्या, ध्यान आदि की साधना की जा सके, श्रेष्ठ व्यक्तियों के सहवास का लाभ मिल सके और इनके द्वारा आत्मसाक्षात्कार किया जा सके। इसके विपरीत यदि अपवित्र कामना की गयी तो पेरिस, हालीवुड आदि ऐसे स्थान पर जन्म लेना होगा जहाँ सिनेमा, होटल, नाट्यगृह आदि का वातावरण मिलेगा। यह हमारी अपनी मर्जी पर निर्भर है कि हम सदिच्छा चुनें या असदिच्छा चुनें। पेरिस जैसे शहर में नर-पशु के रूप में भटकना हो तो अशुभ कामनाएँ चुनें; अथवा दिव्य तेज से चमकना चाहें और नर-देवता के रूप में विचरण करना चाहें तो पवित्र इच्छाओं को चुनें।

कर्म-सिद्धान्त के तीन रूपों को ठीक तरह से समझ लेना चाहिए। पहला है सञ्चित कर्म। संचित कर्म वे हैं जो हमारे कई पिछले जन्मों में किये गये अच्छे-बुरे सभी प्रकार के कर्मों का भण्डार है अथवा जब से हमने असत्कर्मों से सत्कर्मों को अलग करना सीख लिया हो और अपनी ही जिम्मेदारी और प्रतिभा से काम चुनने लगे हों तब तक के काम सञ्चित कर्म कहलाते हैं। वह सारा कर्म जमा रहता है। जबकि हम अटल सिद्धान्त के अधीन जीते हों तब वे कैसे संगृहीत न रहें? दूसरा कर्म है प्रारब्ध अर्थात् अपरिहार्य कर्म। पिछले जन्म में हम जिन लोगों के सम्पर्क में आये हों उनसे सम्बन्धित और उस जन्म में अनुभूत वस्तुओं के कारण जो कर्म हमारे लिए नियोजित हो चुके हैं और जिन्हें इसी जन्म में कर चुकना है, वे कर्म प्रारब्ध कहलाते हैं। इसे परिपक्व कर्म भी कहते हैं; क्योंकि यह हम पर अतिदेय ऋण है। इसे सुख-दुःख के रूप में, लाभ-हानि के रूप में, हमें वह प्रिय लगे अथवा अप्रिय, इसी जन्म में भोग कर पैसा-पैसा चुकाना है। तीसरा प्रकार है क्रियमाण कर्म अर्थात् जो इस जन्म में हम करने जा रहे हैं। इन कर्मों को करने के लिए अमुक सीमा के अन्दर हम

स्वतन्त्र हैं और भविष्य की सफलता इन पर ही निर्भर है; क्योंकि मनुष्य ईश्वर की कल्पना के अनुसार बना है और दिव्य जीवन का सहभागी है; इसलिए अपनी इच्छा के अनुसार वह कुछ भी करने के लिए स्वतन्त्र है। इसी सिद्धान्त के आधार पर मनुष्य जो भी दृढ़ इच्छा रखेगा, वह आगे चल कर पूरी होगी ही, इसमें संशय नहीं। एक व्यक्ति के लिए जो बात सही है, वही राष्ट्र के लिए भी सही है; क्योंकि राष्ट्र व्यक्तियों से ही बनता है।

जाति या राष्ट्र का जो सामूहिक कर्म होता है उसका स्वरूप व्यक्तिगत कर्म से स्वरूप से किसी तरह भिन्न नहीं है। व्यक्तिगत कर्म-सम्बन्धी नियमों के पीछे जो सिद्धान्त काम करते हैं वे ही करीब-करीब उसी रूप में राष्ट्रीय या सामूहिक कर्मों पर भी लागू होते हैं। इसी आधार पर राष्ट्रों का उदय होता है या पतन होता है; साम्राज्य समृद्ध होते हैं या छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। देश के मनीषियों को इस सिद्धान्त के सार्वभौम प्रभुत्व की अवहेलना नहीं करनी चाहिए।

राष्ट्र की विपत्ति के समय यह हमें स्मरण रखना चाहिए कि हम वही प्राप्त कर सकते हैं जिसके कि हम योग्य हैं। यद्यपि हम सङ्कट का कारण तत्काल नहीं देख पाते; किन्तु यह सत्य है कि पर्याप्त कारणों के बिना सङ्कट आता नहीं है।

पिछले हजार वर्षों से भारत माता की भूमि पर कई हृदयद्रावक और करुणाजनक विपत्तियाँ आयी हैं; सारा देश ध्वस्त हुआ, उसके कई पुत्र-रत्न सताये गये और मौत के घाट उतार दिये गये।

हमारे जमाने में जो घटनाएँ घटी हैं, वे इतनी ताजा हैं कि उन्हें दोहराने की आवश्यकता नहीं है। ये सब जो हृदय को विदग्ध करने वाली घटनाएँ हैं, जो प्रलय हैं, क्या बिना किसी कारण के ही हुए हैं? नहीं। संसार में कोई घटना ऐसी नहीं है जो उत्तम तथा न्यायपूर्ण नियम के कार्य-क्षेत्र से बाहर हो। अज्ञान के कारण उसके प्रत्यक्ष कारणों को निश्चित रूप से और सही-सही पहचान न सकें, यह और बात है: किन्तु इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं है कि हम पर जो-कुछ गुजरा है वह कुछ भी अनुचित नहीं हुआ है।

हमारी जड़ता, उदासीनता, देशभक्ति का अभाव, जाति और सम्प्रदायों के झगड़े, परस्पर द्वेष, संशय, कलह आदि के कारण ही हमारा आज का और पहले का पतन हुआ है।

हमारे सामूहिक कर्मों के फलस्वरूप हम पर ईश्वर का कोप पड़ा और हमारे पापों के परिणामस्वरूप हमें दैवी प्रतिशोध का शिकार होना पड़ा जिससे हमको बहुत दुःख भोगना पड़ा और बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ी। लेकिन पिछली दीनता और कटुता के अनुभवों से पाठ सीख कर अब हम कुशल और विवेकी बन सकते हैं और दोबारा सही दिशा में सामूहिक प्रयत्न कर सकते हैं। आगे चल कर फिर एक बार हम देखेंगे कि हमारी मातृभूमि के सूर्य पर से पतन, दासता और बन्धन का ग्रहण धीरे-धीरे छूटता जा रहा है और अपने पूर्व-पुरुषों की तरह हम भी मुक्त और महान् बन रहे हैं।

२. कारण-कार्य-सम्बन्ध-सिद्धान्त

सृष्टि मात्र पर एक प्रमुख सिद्धान्त छाया हुआ है और वह है कारण-कार्य-सिद्धान्त। इसे ही कर्म-सिद्धान्त के नाम से लोग पहचानते हैं। यह एक सार्वभौम सिद्धान्त है और यह विश्व की आन्तरिक सङ्गति और न्याय-सङ्गत व्यवस्था बनाये रखता है। मनुष्य के कर्म इस नियम के अधीन हैं। 'कर्म' संस्कृत शब्द है। यह 'कृ' धातु से बना है। 'कृ' का अर्थ है 'करना'। इसका आशय है काम। चाहे भौतिक काम हो या मानसिक, सब कर्म कहलाता है। विचार भी कर्म है। एक क्रिया की जो प्रतिक्रिया होगी वह कर्म भी कर्म है। 'कर्म' बहुत व्यापक शब्द है। आकर्षण, विकर्षण, सङ्कर्षण, साँस लेना, बोलना, चलना, देखना, सुनना, खाना, छूना, सोचना, अनुभव करना, चाहना, विचार करना, शरीर, मन और इन्द्रियों के सभी काम 'कर्म' ही हैं। 'कर्म' के अन्दर 'कार्य' और 'कारण' दोनों का समावेश है।

प्रकृति के बाकी जितने भी सिद्धान्त हैं सब इस एक बुनियादी सिद्धान्त के अन्तर्गत आते हैं। सूर्य प्रकाशित होता है, अग्नि जलती है, नदी बहती है, हवा चलती है, वृक्ष फलते-फूलते हैं, मन सोचता है, अनुभव करता है और चाहता है, दिमाग, हृदय, फुफ्फुस और यकृत काम करते हैं और बड़े सौहार्द और बड़ी विधेयता के साथ काम करते हैं; यह सब इसी महान् कार्य-कारण-सिद्धान्त के अधीन ही होता है। भौतिक और मानसिक दोनों क्षेत्रों में यह महान् सिद्धान्त काम करता है। सृष्टि का कोई भी तत्त्व इस सर्वशक्त सिद्धान्त से बच कर जा नहीं सकता।

बीज का कारण वृक्ष में निहित है और आगे चल कर वह बीज ही वृक्ष का कारण बनता है। कार्य कारण में निहित है और कारण कार्य में अवस्थित है। कार्य अपने कारण के अनुरूप होता है। कार्य और कारण की यह शृङ्खला सार्वत्रिक है और अनन्त है। इस शृङ्खला में कहीं जोड़ की आवश्यकता नहीं है। इस बुनियादी और सशक्त सिद्धान्त पर विश्व चलता है। यह किसी को क्षमा नहीं करता और इसमें कहीं अपवाद नहीं है।

वैज्ञानिक लोग प्रकृति के धर्म का बड़ी सावधानी से निरीक्षण कर रहे हैं और वे यह खोज निकालने का प्रयत्न कर रहे हैं कि प्रकृति में घटने वाली सारी घटनाओं का मूल और सही कारण क्या है। खगोलशास्त्री अपने लम्बे और

शक्तिशाली दूरदर्शक यन्त्रों को ले कर बैठते हैं और सावधानी के साथ आकाश के नक़शे का निरीक्षण करते हैं, नक्षत्रों और ग्रहों का अध्ययन करते हैं तथा नक्षत्र-लोक के अन्तर्गत सभी सृष्टि का परीक्षण करते हैं। वे यह खोजने के प्रयत्न में हैं कि सारी सृष्टि का कारण क्या है। चिन्तनशील दार्शनिक चिन्तन-मनन में लीन रहते हैं और इस विश्व का, सांसारिक दुःख-कष्टों का और जन्म-मरण की गति का कारण खोजने का प्रयत्न करते हैं।

कोई भी घटना ऐसी नहीं है जिसके पीछे कोई ठोस और निश्चित कारण न हो। युद्ध, धूमकेतु का उदय, भूकम्प अथवा ज्वालामुखी का विस्फोट, महामारी का प्रकोप, बिजली का गिरना, बाढ़ों का आना या शारीरिक रोग, दुर्दैव आदि सबके पीछे निश्चित कारण रहता है।

कोई फोड़ा होता है या टाँग टूट जाती है तो निश्चित रूप से पिछले जन्म के किसी दुष्कर्म का ही यह परिणाम है। वह दुष्कर्म था और ये फोड़ा और हड्डी का टूटना उसका कार्य था। इस जन्म में यदि कोई सम्पत्ति मिलती है तो उसका कारण पिछले जन्म में किया हुआ कोई सत्कर्म ही है।

केवल संयोग या आकस्मिक घटना जैसा कुछ नहीं है। किसी घटना का कारण यदि हमारी समझ में न आये तो उसका अर्थ यह है कि वह कारण छिपा हुआ है या अज्ञात है। यह कार्य-कारण-सिद्धान्त नितान्त रहस्यमय है। इसीलिए तो कृष्ण ने कहा है : **"गहना कर्मणोगतिः"** (कर्म की गति गहन है, रहस्यमय है) । किसी घटना या प्रसङ्ग का कारण हम अपनी सीमित बुद्धि से समझ नहीं पायें तो उसका यह अर्थ नहीं कि उसका कोई कारण ही नहीं है।

भौतिक और मानसिक सभी शक्तियाँ इस महान् कार्य-कारण-सिद्धान्त के अधीन हैं। नियम और नियन्ता दोनों एक हैं। सिद्धान्त और ईश्वर एक हैं। प्रकृति और प्रकृति का नियम एक है। आकर्षण, सहयोग, विकर्षण, सङ्कर्षण और प्रकर्षण आदि नियम, राग-द्वेष, सापेक्षता, सातत्य, साहचर्य आदि मानस-स्तरीय नियम—ये सभी इस कार्य-कारण-सिद्धान्त के ही अनुरूप काम करते हैं। एक परमाणु के स्पन्दन से ले कर महान् ग्रह के भ्रमण तक, आम के धरती पर गिरने से ले कर एक महान् ज्ञानी या योगी की इच्छा-शक्ति तक, धरती पर एक डाकिये के चलने से ले कर अत्यन्त सूक्ष्म 'ईथर' नामक आकाश में चलने वाली विद्युल्लहरी तक, एक तारघर के द्वारा भेजे जाने वाले सन्देश से विचार-जगत् में योगिक विचार-संक्रमण (टेलीपैथी) के सन्देश तक प्रत्येक प्रसङ्ग के पीछे कोई-न-कोई अदृश्य कारण काम कर रहा है जो कार्य-कारण-सिद्धान्त के अनुसार सुसङ्गति और सहयोग के साथ काम कर रहा है।

इस सिद्धान्त के सूक्ष्म अध्ययन से निराश को आशा, हताश को भरोसा और दुःखी को प्रोत्साहन मिलता है। मनुष्य अपने विचारों, आदतों और चरित्र से ही अपना भाग्य बनाते हैं। अपनी आदतों और विचारों को बदल कर सुधारने और प्रगति करने का अवसर हर कदम पर है। दुर्जन भी सन्त बन सकता है, भिक्षुक भी राजा बन सकता है, वेश्या भी पवित्र बन सकती है। इस महान् सिद्धान्त में सबको अवसर है। संसार में एक व्यक्ति बहुत धनी है और दूसरा एकदम गरीब; एक दुष्ट है और दूसरा साधु है; एक मन्द-बुद्धि है और दूसरा प्रतिभा-सम्पन्न या बहुमुखी प्रज्ञायुक्त है; एक जन्मजात जरा-क्रान्त है और दूसरा मनोहर है; एक सदा बीमार रहता है और दूसरा स्वस्थ और सुदृढ़ है; इन सब विषमताओं का कारण एकमात्र कारण-सिद्धान्त ही स्पष्ट कर सकता है, इन सब असमानताओं को और कैसे समझाया जाये ? यह सब कर्म ही है। ईश्वर अन्यायी या पक्षपाती कदापि नहीं है।

विश्व सापेक्ष धरातल पर स्थित है। उसमें पुण्य है, पाप है और पाप-पुण्यों का मिश्रण भी है। इसीलिए श्रीकृष्ण ने कहा है : **"अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्"**—कर्मों का फल तीन प्रकार का होता है : इष्ट, अनिष्ट और मिश्र। इस संसार में निरपेक्ष पुण्य या निरपेक्ष पाप जैसा कुछ नहीं है। पुण्य वह है जो आपको, आपके पड़ोसी को और विश्व को सुख-सुविधा पहुँचाये, लाभदायी हो। जो आपको, आपके पड़ोसी को और विश्व को दुःख पहुँचाये, कष्ट दे, परेशान करे, हानिकारक हो, वह पाप है। जिससे कुछ को दुःख तथा कष्ट पहुँचे और कुछ को सुविधा भी पहुँचे, वह पाप-पुण्य से मिश्रित है।

हम जो काम करते हैं, उन सबका दोहरा प्रभाव होता है। जब हम मरते हैं तो हमारे कामों का संस्कार हमारे कर्माशय में संग्रहीत होता है। कर्माशय हमारा अवचेतन मन है जो कर्मों का आश्रय-स्थान है। दूसरा, विश्व में या आकाशीय भण्डार में एक संस्कार पैदा होता है। हमारे प्रत्येक कर्म की प्रतिक्रिया उतनी ही शक्ति और वेग के साथ हम पर होती है जितनी शक्ति और वेग उस कर्म में है। हम किसी को चोट पहुँचाते हैं तो अपने को ही चोट पहुँचाते हैं। इस दुष्कर्म की प्रतिक्रिया हम पर अवश्य होगी और हमें चोट लगेगी। उससे दुःख और कष्ट होगा। हम किसी की सहायता करते हैं तो अपनी ही सहायता करते हैं। वह हमारे लिए ही भले का काम है; 'आत्मा' से भिन्न कुछ नहीं है। **"आत्मैवेदं सर्वम्"** यह हमारे उपनिषदों और श्रुतियों की सुस्पष्ट घोषणा है। हमारे सत्कर्मों की प्रतिक्रिया हम पर समान शक्ति और प्रभाव के साथ होती है। उससे हमें सुख और आनन्द प्राप्त होगा। इसीलिए सभी ऋषि-मुनि, पैगम्बर और स्मृतिकार इस एक ही बात को दोहराते रहते हैं कि "पड़ोसियों से अपने जैसे ही प्रेम करो। दूसरों की भावनाओं को दुःखाओ नहीं।" **"अहिंसा परमो धर्मः।"**

दूसरों का भला करो। इस सिद्धान्त को ठीक समझ लेने पर मनुष्य दूसरों को नहीं दुःखायेगा, सदा सद्व्यवहार ही करेगा। तब वह सदाचार का साकार रूप बन जायेगा।

हम किसी एक व्यक्ति के साथ दुराचार करते हैं तो उससे सारा वायु-मण्डल दूषित होता है। यदि हम एक भी दुर्विचार करते हैं तो उससे सारा विचार-जगत् कलुषित होता है। इसीलिए 'सद्विचार बढ़ाओ, दुर्विचारों को नष्ट करो।' प्रत्येक विचार के पीछे उसका एक कारण होता है। प्रत्येक काम, प्रत्येक विचार, वह चाहे जितना अल्प और नगण्य हो, विश्व पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपना प्रभाव डालता है। जो महात्मा हमेशा सत्कर्म किया करते हैं, उत्कृष्ट और दिव्य विचारों का चिन्तन-मनन करते रहते हैं वे विशाल विश्व पर उपकार करते हैं; वे विश्व को शुद्ध बनाते हैं।

मान लीजिए कि आप किसी अखबार में एक सनसनीदार लेख लिखते हैं। वह पाठकों की भावनाओं और उद्वेगों को भड़काता है। वे शासन के विरुद्ध कुछ-न-कुछ करने लगते हैं। गम्भीर सङ्घर्ष छिड़ता है। पुलिस बुलायी जाती है। कई लोग गोली के शिकार बनते हैं। विद्रोह को रोकने और दबाने के लिए कई कानून बनाये जाते हैं। जो लोग मर जाते हैं उनके माता-पिता मुसीबत में फँस जाते हैं। इस सङ्घर्ष का प्रभाव विश्व के दूसरे स्थानों में रहने वालों पर भी पड़ेगा। निश्चित ही एक छोटी-सी घटना का प्रभाव सारे संसार पर पड़ा है। एक क्षोभजनक निबन्ध इतना सारा विघातक परिणाम लाया। एक घटना एक-साथ कारण और कार्य दोनों हो सकती है। कार्य-कारण-सिद्धान्त लगातार काम करता ही रहता है। आप नहीं कह सकते कि यह जोड़ निरर्थक है या अनावश्यक है।

अब आपको कार्य-कारण के एक महान् सिद्धान्त की विस्तृत जानकारी मिल गयी है। आप अपने विचारों और स्वभाव को बदल सकते हैं और नयी दिशा में मोड़ सकते हैं। सदाचार तथा उदात्त और दिव्य विचारों के द्वारा अब आप धर्मात्मा तथा सन्त बन सकते हैं। जब आप आत्मज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, जब सङ्कीर्ण मन को समाप्त कर देते हैं, तीनों गुणों से परे हो जाते हैं और तीनों अवस्थाओं से अतीत हो जाते हैं तब अपने निज-स्वरूप में स्थित हो जाते हैं। आप उस नियन्ता के साथ एक-रूप हो जाते हैं और इसीलिए कार्य-कारण का नियम आप पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकेगा। आप प्रकृति तो जीत गये। वह अव्यक्त नियन्ता ब्रह्म आपको जीवन की चरम गति प्राप्त करने में आपका मार्गदर्शन करे!

३. मनुष्य अपने भाग्य का स्वामी है

कुछ अज्ञानी लोग कहते हैं: "कर्म सब-कुछ करता है। भाग्य ही सर्वस्व है। जब मेरा भाग्य कर्म से निश्चित हो चुका है तो फिर मैं क्यों पुरुषार्थ करूँ? यह तो केवल मेरा भाग्य है।" यह भाग्यवाद है। इससे निष्क्रियता, जड़ता और दुःख प्राप्त होते हैं। यह कर्म-सिद्धान्त को ठीक से न समझने का कुपरिणाम है। यह एक भूल-भरा तर्क है। बुद्धिमान् व्यक्ति ऐसा प्रश्न नहीं पूछेगा। हमने अपने विचारों और कर्मों से इसी जन्म में अपना भाग्य बनाया है। अब कुछ भी चुनने को हम स्वतन्त्र हैं। कर्म-स्वतन्त्रता हमें मिली है। कोई बदमाश हमेशा के लिए बदमाश नहीं है। उसे सन्तों की सङ्गति में रखें तो उसे बदलते देर नहीं लगेगी। तब वह नये ढङ्ग से सोचने और व्यवहार करने लगेगा। इस प्रकार उसका भाग्य बदल जायेगा। अब वह साधु-स्वभाव हो जायेगा। नारद मुनि के सम्पर्क में आ कर डाकू रत्नाकर वाल्मीकि में बदल गया। हम सोचें और प्रयत्न करें, बस इतना ही पर्याप्त है। फिर अपने कर्म को हम चाहे जैसा बना सकते हैं। सम्यक् विचार, सम्यक् इच्छा और सम्यक् कर्म के द्वारा हम योगी या ज्ञानी बन सकते हैं। सत्कर्म के द्वारा हम इन्द्र तथा ब्रह्मा भी बन सकते हैं। मनुष्य परवश नहीं है। वह अपनी इच्छा का स्वयं स्वामी है।

मनुष्य कर्म-रूपी बीज बोता है और भाग्य-रूपी फल प्राप्त करता है। मनुष्य ने अपने विचार और कर्मों के द्वारा अपना भाग्य बनाया है। उसे वह बदल भी सकता है। अपने भाग्य का वह स्वामी है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। सद्विचार और प्रबल पुरुषार्थ से मनुष्य अपने भाग्य का स्वामी बन सकता है। मुनि मार्कण्डेय तप और शिवाराधन के द्वारा अपना भाग्य बदल सके थे। कठोर तप करके विश्वामित्र ब्रह्मर्षि बन गये थे, उनका भाग्य बदल गया था। यदि हममें भी प्रबल इच्छा-शक्ति हो तो हम भी वैसा ही बन सकते हैं। योगवासिष्ठ में वसिष्ठ जी श्रीराम को पुरुषार्थ का उपदेश देते हैं। टेढ़े अक्षर लिखते-लिखते जिस प्रकार हम सीधे अक्षर लिखने का अभ्यास कर सकते हैं, उसी प्रकार विचार-धारा में परिवर्तन ला कर हम अपना भाग्य भी बदल सकते हैं। तुम अब यह सोच रहे होगे कि 'मैं अमुक हूँ।' यह इसलिए कि शरीर और अन्य उपाधियों से तुम आवृत हो। इससे विपरीत सरणि पर सोचने लगो। यह सोचो: "मैं ब्रह्म हूँ। मैं सर्वत्र विद्यमान अमर आत्मा हूँ। मैं सर्वव्यापी ज्योति हूँ, ज्ञान हूँ, शुद्ध चैतन्य हूँ।" तुम्हारा भाग्य बदल जायेगा। जैसा सोचोगे वैसे बनोगे। यही 'साधना' है। यही 'अहंग्रह-उपासना' है। दृढ़ता से इसकी साधना करो, इसकी अनुभूति लो और साक्षात्कार करो।

लाहौर के एक वकील ने एक बार मुझसे पूछा: "स्वामी जी आप कहते हैं कि कर्म का नियम प्रत्येक व्यक्ति में अचूक काम करता है। मनुष्य चाहता है, सोचता है

और करता है। यदि मेरे काम मेरे पिछले विचारों के फल हैं और वे विचार मेरी पिछली इच्छाओं के परिणाम हैं तो क्या मैं हर तरह से बँध नहीं गया हूँ? इधर-उधर उड़ते-फिरने वाले तिनके के समान ही मैं हो गया हूँ। मुझे अपने विचारों के अनुसार ही कर्म करना पड़ेगा और अपनी इच्छाओं के अनुसार ही विचार करना होगा। इसमें मेरे विचार-स्वातन्त्र्य या इच्छा-स्वातन्त्र्य की कोई आशा नहीं रही। मेरी बुद्धि को यह किसी तरह जँचता नहीं है। कृपया इस महत्त्वपूर्ण विषय पर प्रकाश डालें।"

मैंने उत्तर दिया : "भाई शिवशंकर जी! देखें, मनुष्य को प्रतिदिन नये अनुभव और नये ज्ञान मिलते रहते हैं। प्रतिक्षण मन विकसित होता रहता है। अतः उसे अपनी इच्छा और अपने विचार तथा कर्म को बदलने का अवसर सदैव मिलता रहता है। मान लीजिए, कोई चोर है। वह चीजें चुराता है। वह दूसरों की वस्तुएँ उनकी जानकारी के बिना हड़प लेता है। उसे जेल हो जाती है। लोग उससे घृणा करते हैं। इससे उसे अनेक अनुभव मिलते हैं। वह सदा अनुभव करता है कि वह दुःखी है, दीन है। तब वह चोरी करना छोड़ने की सोचता है। इस भाँति उसकी इच्छा बदलती है। वह सच्चाई का पथ ग्रहण करना चाहता है। उसके पुराने संस्कार और पुराने विचार उसे रोकते हैं और बार-बार आते हैं; किन्तु दृढ़ प्रयत्नों के द्वारा वह अपने इच्छा, विचार और कर्मों को बदल सकता है और परोपकारी व्यक्ति बन सकता है तथा पूर्णता, मुक्ति और अमरता पा सकता है।"

४. मनुष्य परिस्थिति से ऊँचा उठ सकता है

प्रायः कहा जाता है कि मनुष्य परिस्थिति का परिणाम है। यह सच नहीं है। हम इस पर विश्वास नहीं कर सकते; क्योंकि अनुभव इससे विपरीत ही हैं। संसार के अनेक महापुरुष गरीबी और प्रतिकूल परिस्थितियों में पैदा हुए हैं। गन्दी बस्तियों और गन्दे वातावरण में पैदा हो कर भी अनेक लोग संसार के उन्नत स्थान पर पहुँचे हैं। उन्होंने बड़ी ख्याति पायी और राजनीति, साहित्य और काव्य में अत्यन्त प्रतिभाशाली व्यक्ति और संसार के प्रकाश-स्तम्भ सिद्ध हुए हैं। इसका आप क्या कारण बताते हैं?

मद्रास के उच्च न्यायालय के प्रथम भारतीय न्यायाधीश श्री टी॰ मुत्तुस्वामी अय्यर का जन्म निपट गरीबी में हुआ। उन्होंने नगरपालिका की सड़क की बत्ती के नीचे पढ़ाई की। भरपेट खाना उन्हें नहीं मिलता था। वे चिथड़ों में लिपटे रहते थे। उन्होंने कठिन परिश्रम किया और अन्त में महान् बने। अपनी इच्छा-शक्ति और प्रबल लौह सङ्कल्प-शक्ति से वे अपनी परिस्थिति से ऊपर उठे।

पाश्चात्य देशों में मोचियों और मछुआरों के लड़के तक बहुत ऊँचा स्थान पा चुके हैं। जो लड़के सड़कों पर बैठ कर जूता पालिश करते रहे, दुकानों में शराब की बिक्री करते रहे और होटलों में खाना पकाते रहे वे ही आगे चल कर प्रसिद्ध कवि और पत्रकार बने। जानसन के बचपन का वातावरण बिलकुल ही प्रतिकूल था। सर वाल्टर स्काट भी निपट गरीब थे। रहने को उनके पास मकान तक नहीं था। यहाँ जेम्स रैम्जे मैकडोनाल्ड का जीवन भी उल्लेखनीय है। वे बहुत पुरुषार्थी थे। एक साधारण कृषक श्रमिक से ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री बने। प्रारम्भ में वे १० सिलिंग साप्ताहिक वेतन पर लिफाफों पर पता लिखा करते थे। चाय पीने तक को उनके पास पैसा न था। जल पी कर ही निर्वाह करते थे। कई महीनों तक उनके दैनिक जीवन का व्यय केवल तीन पैंस था। वे राजनीति और विज्ञान में खूब रुचि लेते थे। प्रथम वे पत्रकार बने और फिर क्रमशः सही पुरुषार्थ के द्वारा प्रधानमन्त्री तक बन गये।

श्री शङ्कराचार्य माने हुए आध्यात्मिक गुरु थे, प्रतिभाशाली मनीषी थे, अद्वैत दर्शन के संस्थापक थे; किन्तु उनका जन्म हुआ बड़ी गरीबी के बीच में। उनका वातावरण, उनकी परिस्थिति भी नितान्त प्रतिकूल थी। इस प्रकार के सहस्रों उदाहरण आपको मिलेंगे। इससे सुस्पष्ट है कि प्रतिकूल परिस्थिति में मनुष्य की क्षमता और भावी प्रतिभा कुण्ठित नहीं हो जाती है। प्रत्येक व्यक्ति लौह इच्छा-शक्ति और दृढ़ निश्चय ले कर धैर्य, सहिष्णुता, सच्चाई, ईमानदारी, समग्रता, लक्ष्य की निष्ठा के साथ लग कर साधना करे तो प्रतिकूल परिस्थिति पर विजय पा सकता है।

प्रत्येक मनुष्य अपने संस्कारों के साथ जन्म लेता है। मन कोई कोरा कागज नहीं है। उस पर गत जन्म के विचारों और कर्मों की छाप रहती है। संस्कार सुप्त शक्तियाँ हैं। ये अच्छे संस्कार मनुष्य के लिए बड़ी परिसम्पत्ति हैं। भले ही उसका जन्म बुरे वातावरण में हुआ हो, फिर भी ये संस्कार उसे अवाञ्छित, प्रतिकूल और विरोधी प्रभावों से बचाते हैं, उसकी वृद्धि और विकास में सहायता करते हैं। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं : "हे कुरुनन्दन! वहाँ उस पहले शरीर में साधन किये हुए संस्कारों को अनायास ही प्राप्त हो जाता है और उसके प्रभाव से फिर वह पूर्णता के निमित्त यत्न करता है" (गीता : ६-४३)।

कोई भी अवसर मत चूको। प्रत्येक अवसर का लाभ उठाओ। प्रत्येक प्रसङ्ग तुम्हारे विकास और उन्नति के लिए है। सड़क के किनारे कोई असहाय अवस्था में पड़ा हुआ दीखे तो उसे अस्पताल पहुँचा दो। उसकी सेवा करो। दिव्य भावना के साथ उसका शरीर दबाओ। उसमें सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी और सर्वाधार ईश्वर के दर्शन करो। उसकी आँखों में, उसके रुदन में, उसकी साँस में, उसकी नाड़ी में और हृदय की धड़कन में ईश्वर की झलक देखो। भगवान् ने तुम्हें यह अवसर दिया है

जिससे कि तुम दया और प्रेम का विकास, चित्त को शुद्ध तथा घृणा, द्वेष और ईर्ष्या को दूर कर सको। यदि लज्जालु हो तो भगवान् ऐसा अवसर प्रदान करेगा जिसमें तुम अपनी जान पर खेल कर भी साहस तथा सुध-बुध प्रकट कर सको। आज तक संसार में जितने भी लोग महान् बने हैं उन सबने यही किया है कि उन्होंने प्राप्य सभी सुअवसरों का सर्वोत्तम लाभ उठाया है।

याद रखो कि तुम्हारी कमजोरी में ही तुम्हारी शक्ति छिपी हुई है; क्योंकि उसी में तुम अपने को बचाने के लिए सजग रहते हो। दरिद्रता के अपने गुण हैं। उससे नम्रता, शक्ति, धैर्य और दृढ़तापूर्वक सङ्घर्ष करने का गुण आता है; जबकि विलास से आलस्य, गर्व, दुर्बलता, निष्क्रियता और अन्यान्य प्रकार की बुरी आदतें हो जाती हैं।

अतः प्रतिकूल परिस्थिति की शिकायत न करें। अपने ही मनोजगत् और अपनी परिस्थिति का निर्माण कर लें। जो मनुष्य प्रतिकूल परिस्थिति में विकास करने और बढ़ने का प्रयत्न करता है वह वस्तुतः बड़ा बलवान् होता है। उसे कोई डिगा नहीं सकता है। वह सुदृढ़ तत्त्वों से बना होता है। उसकी नाड़ियाँ मजबूत होती हैं। मनुष्य निश्चय ही परिस्थिति या वातावरण का अधीन प्राणी नहीं है। वह अपनी क्षमता, स्वभाव, विचार तथा कर्म से अपनी परिस्थिति पर काबू पा सकता है, उन्हें बदल भी सकता है। तीव्र पुरुषार्थ से भाग्य बदला जा सकता है। प्रिय मित्रो! पुरुषार्थ करो, प्रकृति पर विजय पाओ और अनन्त सच्चिदानन्द आत्मा का आनन्द भोगो!

इस सम्बन्ध में योगवासिष्ठ में निम्न विवरण दिया गया है : "हमारे पूर्व-कर्मों के फल के अतिरिक्त भाग्य नामक वस्तु कुछ नहीं है। हमारे पूर्व-कर्मों के फल ही भाग्य कहलाते हैं। सभी सिद्धियाँ हमारे प्रयत्नों से निर्धारित होती हैं। इसलिए हमारे प्रयत्न ही भाग्य कहलाते हैं। यदि पूर्व-कर्म और वर्तमान कर्म परस्पर विरोधी हैं तो दोनों दो भेड़ों की तरह आपस में लड़ते रहते हैं और जो अधिक प्रबल होता है वह दूसरे को पछाड़ देता है। कर्म चाहे पिछले हों या वर्तमान, लेकिन हमारे भाग्य-निर्णायक वही हैं। जो भी हो मनुष्य के कर्म ही अपने प्रभाव के अनुसार मनुष्य का भाग्य निश्चित करते हैं। मनुष्य अपने निजी विचारों से ही अपना भाग्य निर्धारित करता है। वह अपने प्रयत्नों से अनहोनी बात को भी सम्भव कर सकता है। मनुष्य की आत्मा यथेष्ट बलशाली है। इस संसार में जो-कुछ भी होता है सब मनुष्य के अपने स्वतन्त्र प्रयत्नों से ही होता है और किसी से नहीं। इसलिए मनुष्य को इस जन्म में दृढ़ प्रयत्न करके पूर्व-कर्म-फल-रूपी अपना प्रतिकूल भाग्य बदल लेना चाहिए। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो मनुष्य सही प्रयत्नों के द्वारा प्राप्त न कर सके।

प्रो॰ राधाकृष्णन निम्न प्रकार लिखते हैं : "मानव-जीवन में वर्तमान काल के बन्धन और भूतकाल की आवश्यकता के प्रसङ्ग बहुत हैं; लेकिन इस आवश्यकता का यह

अर्थ नहीं कि उसे किसी तरह घटाया या मिटाया नहीं जा सकता है। यद्यपि पूर्व-निश्चित बन्धनों को पार करने को जीव स्वतन्त्र नहीं है, फिर भी उसे काबू में लिया जा सकता है और उसे नया मोड़ दिया जा सकता है। आवश्यकता पर स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयत्न करने का नाम ही चुनाव या विकल्प है जिससे अपना काम निकाला जा सके और इस प्रकार उससे मुक्त हुआ जा सके। मनुष्य कर्ता—स्वतन्त्र है। वह अनियन्त्रित घटना-प्रवाह में बहता जाने वाला खिलौना मात्र नहीं है। निष्क्रिय हो कर भूतकाल का फल भोगते ही रहने के अतिरिक्त मनुष्य अपना भविष्य बनाने में सक्रिय हो सकता है। भूतकाल मात्र एक अवसर या बाधा बन सकता है। मुख्य प्रश्न यही है कि हम उसे क्या बनाते हैं और वह हमें क्या बनाता है।"

'हिन्दू मानस' नामक अँगरेजी पुस्तक में डा॰ एम॰ एच॰ सैयद, एम॰ ए॰, पी-एच॰ डी॰ लिखते हैं : "हिन्दुओं में कर्म-सिद्धान्त की जो गलत भावना दृढ़ हो गयी है, उससे बढ़ कर दूसरी कोई अनिष्टकारक चीज नहीं है जो उनका व्यावहारिक जीवन बरबाद कर रही हो। कर्म-सिद्धान्त का अर्थ है कार्य-कारण-सम्बन्धी नियम। यह मनुष्य-जीवन के प्रत्येक विभाग में बिना चूके काम करती है। कहा जाता है कि यह ऐसा निराशाजनक सिद्धान्त है जो मानवी प्रयत्नों को कुण्ठित कर देता है और सारे पुरुषार्थों का स्रोत सुखा देता है। प्रचलित भाषा में कहना हो तो इस सिद्धान्त का शुद्ध और सादा अर्थ है 'भाग्यवाद'। सामान्यतया यह माना जाता है कि मनुष्य पूर्व-कर्मों से चलाये जाने वाला प्राणी है। इस जीवन में वह जो-कुछ करता है, सुख-दुःख, आनन्द, जय-पराजय, लाभ-हानि भोगता है, सब पिछले जन्म में तय हो चुके हैं। उसने पिछले जन्म में जो-कुछ किया है यह उसी के अनुसार होता है। इसलिए उस पर मनुष्य का कुछ भी वश नहीं चलता और इसलिए उसे कुछ करने-धरने की आवश्यकता नहीं है; अपनी या पड़ोसियों की स्थिति सुधारने के लिए प्रयत्न करने में समय गँवाना भी व्यर्थ है।

"इस मान्यता में सिर्फ एक बात सत्य है। दूसरे शब्दों में कहना हो तो इस समझ में और इस तरह के आचरण में अर्ध सत्य है। जब तक इस सिद्धान्त का पूर्ण सत्य जान न लें तब तक उससे बड़ी गलतफहमी फैलेगी और यह बहुत हानिकर भी है। यदि भारतीयों को अपनी पतनावस्था से ऊपर उठना है और दासता की बेड़ी तोड़नी है तो यही समय है कि वे कर्म-सिद्धान्त का अर्थ और दर्शन समझने का प्रयत्न करें जिसके अधीन हो कर सारी मानव-जाति विकास करती है।

"यह सही है कि मनुष्य की वर्तमान योग्यता, शक्ति आदि उसके पिछले जन्म की क्रियाओं और विचारों का परिणाम है; उसके जन्मजात संस्कार, उसकी शारीरिक विरासत, नैतिक और मानसिक स्वभाव और क्षमता आदि सब पूर्व-जन्मों के विचारों

और भावनाओं के ही फल हैं। किसान को तभी अच्छी फसल मिल पाती है जबकि वह अपने खेत में लम्बे समय तक खूब परिश्रम करता है। यदि वह भूमि की ठीक जोताई न करे, बीज न बोये, पानी और खाद ठीक से न दे तो फिर उसे अपने सारे परिश्रम का पूरा फल नहीं मिलेगा और वह सुख भी न भोग सकेगा। उसने कल जो बोया होगा वही आज फलना है और आज जो बोयेगा वही कल फलेगा। यह एक अटल नियम है और बिना किसी अपवाद के हर जगह लागू होता है। यह जो कहा जाता है कि पूर्व-कर्मों से आज मनुष्य जकड़ा हुआ है और नये प्रयत्न करने या नयी राह चलने की शक्ति कुण्ठित हो गयी है, सरासर गलत है, निराधार है; क्योंकि यह वैसी ही बात है जैसे कोई कहे कि किसान ने कल कुछ बोया था तो आज नये सिरे से नयी भूमि में कुछ बो नहीं सकेगा। वस्तुस्थिति तो यह है कि किसी भी पूर्व-कर्म के कारण मनुष्य की आज की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति अवरुद्ध नहीं हो सकती। बात यह है कि मनुष्य वाञ्छित फल बिना विलम्ब के तुरन्त पा नहीं सकेगा। सन्नियम प्रत्येक की इच्छा की पूर्ति भविष्य में करता ही है। नियम की अपनी गति होती है। जैसे हम यह देखते हैं कि आज की स्थिति के कारणीभूत पूर्व-जन्म के विचार, भावना और कर्म हमने ही चुने थे, उसी प्रकार भविष्य में जैसा फल चाहें वैसा कर्म, भावना और विचार चुनने के लिए आज हम सर्वथा स्वतन्त्र तथा स्वच्छन्द हैं। मनुष्य यदि पहले कोई कर्ज लेता है या समझौता करता है तो उससे वह बँधा रहता है। एक बार वह कर्ज चुका दे या समझौते का काम पूरा कर दे तो आगे भी वैसा कर्ज लेने, न लेने को वह बिलकुल स्वतन्त्र है। जो-कुछ अपरिहार्य है उस पर उसका कोई वश नहीं चलता और उसके लिए उसे शिकायत भी नहीं होनी चाहिए। अपने वश में जो कर्म है उसे अपनी मरजी के अनुसार चाहे जो मोड़ देने को वह स्वतन्त्र है। कार्य-कारण-सम्बन्धी अपरिवर्तनशील नियम का भरोसा रख कर मनुष्य अपने इच्छित पदार्थ के प्राप्त्यर्थ दृढ़ता के साथ प्रयत्न कर सकता है। सही दिशा में प्रयत्न करते रहने पर कभी-न-कभी वह सफल होगा ही। प्रकृति में किसी चीज का नाश नहीं होता है।"

कर्म जड़ होता है। अतएव जीवों के विचारों तथा कर्मों के फलों को निर्धारित करने के लिए एक वितरक का होना आवश्यक है। एक सर्वेक्षक ही जानता है कि श्रमिकों द्वारा किये गये कार्य के निपुणता तथा स्वरूप के अनुसार ठेके के कार्य में विभिन्न श्रमिकों को कितना पारिश्रमिक देना है। इसी भाँति विश्व के प्रभु जीवों के कर्मों और उद्देश्यों को जानते हैं और तदनुरूप ही उनके कार्यों के लिए फल निर्धारित करते हैं।

अष्टम अध्याय

योग में बाधाएँ

१. मोह

मोह आध्यात्मिक साधकों के लिए महत्तम बाधाओं में से एक है। अपने शरीर, पत्नी, बच्चे, माता, पिता, भाइयों, बहनों तथा सम्पत्ति के प्रति आसक्ति मोह है। मन का यह स्वभाव है कि वह किसी-न-किसी पदार्थ की ओर आसक्त होता रहता है। यदि मन को एक पदार्थ की आसक्ति से दूर भी रखें तो वह दूसरे पदार्थ से चिपक जाता है। कोई भी व्यक्ति मोह से सर्वथा मुक्त नहीं है। आसक्ति, कामना, राग तथा अभिरुचि—ये विविध रीतियाँ हैं जिनसे परम शक्तिशाली मोह जीव को संसार-चक्र में बाँधता है। एक व्यक्ति को चावल से आसक्ति है। मधुमेह-रोग के कारण जब वह चावल खाना त्याग देता है तो उसमें चावल खाने की इच्छा होती है। यह कामना है। यदि चावल तथा रोटी दोनों ही परोसे जायें तो बङ्गाली अथवा मद्रासी चावल को ही अधिक पसन्द करेगा। यदि आप मोह नष्ट करना चाहते हैं तो आपको अभिरुचि को भी त्यागना होगा। मोह माया का सबसे बड़ा अस्त्र है। माया रहस्यमयी है। मोह रहस्यमय है। मोह एक प्रकार का प्रभावशाली मद्य है जो व्यक्ति को पल मात्र में उन्मत्त बना देता है।

यदि मोह न होता तो आपको इस संसार में कभी नहीं आना पड़ता। स्थूल शरीर आसक्ति का प्रथम केन्द्र है। इसके पश्चात् ही अन्य आसक्ति-वर्ग की बारी आती है। तदनन्तर माता, पिता, भाई, बहन, पत्नी, पुत्र आदि सम्बन्धी आसक्ति है। आसक्ति किसी स्थान, व्यक्ति या पदार्थ के प्रति भी हो सकती है। आसक्ति के साथ-साथ ममता का विचार भी रहता है। आसक्ति एक प्रकार के दृढ़ गोंद की तरह है जो मन को विषय पदार्थों से बाँध देती है। किसी व्यक्ति या पदार्थ के प्रति आसक्ति क्यों होती है? इसलिए कि वह उस वस्तु या व्यक्ति में अपने सुख को देखता है। जहाँ सुख की भावना है, वहाँ आसक्ति भी है।

आसक्ति सभी मानव-व्याधियों की जड़ है। अविद्या के कारण ही आसक्ति होती है अथवा यह अविद्या का ही रूपान्तर है। पति पत्नी की मृत्यु पर रोता है; क्योंकि उसे अपनी पत्नी के भौतिक शरीर से अनुराग है। पत्नी पति की मृत्यु पर इसलिए नहीं रोती कि उसका पति से प्रेम है, वरन् इसलिए रोती है कि पति के जीवित रहने पर उससे उसे जो रति-आनन्द और अन्य सुख प्राप्त होते थे वे अब प्राप्त नहीं हो सकेंगे।

मोह, भ्रान्ति तथा भय सदा आसक्ति के साथ-साथ रहते आ रहे हैं। भय का कारण इस भौतिक शरीर तथा सम्पत्ति से आसक्ति है। आसक्ति और भय को अलग नहीं किया जा सकता। अग्नि और तज्जन्य उष्णता के समान दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध है।

यदि कोई व्यक्ति कहता है : "घर जल रहा है, घोड़ा मर गया", तो आपके मन पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता; क्योंकि आपका उनसे आसक्ति तथा तादात्म्य नहीं है। किन्तु यदि कोई यह कहता है : "रामनारायण का घर जल रहा है, गङ्गाशङ्कर का घोड़ा मर गया है", तो इन व्यक्तियों के हृदय पर तत्काल प्रभाव पड़ता है, क्योंकि उनकी घर अथवा घोड़े से आसक्ति है, तादात्म्य है। इस प्रकार की आसक्ति ही दुःख का कारण बनती है।

परमहंस संन्यासी सदा विचरते रहते हैं। तीन दिन से अधिक एक स्थान पर उन्हें नहीं ठहरना चाहिए। इस नियम का मुख्य उद्देश्य है आसक्ति का व्यवच्छेदन। एक ही स्थान पर कुछ दिन ठहरने से राग-द्वेष उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। सच्चा त्याग 'मैं शरीर हूँ' इस विचार के त्याग में है। सच्चा त्याग इस शरीर की आसक्ति के त्याग में है। **"सर्वसङ्ग परित्याग"**—सभी प्रकार की आसक्तियों का त्याग ही आत्मानन्द की प्राप्ति की कुञ्जी है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि व्यक्ति जङ्गल की राह पकड़ ले। राजा शिखिध्वज भले ही जङ्गलों में रहते थे, परन्तु उनकी आसक्ति अपने शरीर तथा कमण्डल में बनी हुई थी, जबकि उनकी रानी चुडाला राज्य का प्रतिपालन करते हुए भी सभी प्रकार की आसक्तियों से सर्वथा मुक्त थी।

बङ्गाल तथा मद्रास से आयी सहस्रों विधवाएँ वाराणसी में इस विचार से जीवन बिता रही हैं कि वाराणसी में मरने से उन्हें मुक्ति मिलेगी। किन्तु उनका मन अपने पौत्रों में आसक्त रहता है। आग जलाने के लिए उन्होंने घर के पीछे की ओर आहाते में जो उपले इकट्ठे कर रखे हैं, उनके प्रति भी उनकी आसक्ति होती है। कुछ लोग नोट बुक, पुस्तकें, छड़ी, चित्र और रुमाल-जैसी छोटी-छोटी वस्तुओं में आसक्त रहते हैं। यदि राजन ने जो पुस्तिका शेषू से उधार ली थी, वह उसे लौटा नहीं पाता तो दोनों की कई वर्ष की मैत्री समाप्त हो जाती है। दोनों में लड़ाई छिड़ जाती है जो पहले तीक्ष्ण शब्दों तथा गालियों की बौछार से आरम्भ होती है। उस क्षण से वे एक-दूसरे से न तो बात करते हैं और न मिलते हैं। स्त्रियाँ छोटी-छोटी वस्तुओं के लिए भी कलहपात करती रहती हैं, क्योंकि उनकी सामान्य पदार्थों के प्रति भी बड़ी आसक्ति होती है।

मद्रास में एक लड़का अकस्मात् तालाब में डूब गया। उसकी माता निकट ही थी। उसकी अपने उस इकलौते पुत्र के प्रति बड़ी ममता थी। वह भी तालाब में कूद पड़ी और डूब गयी। उसके पति की अपनी पत्नी तथा पुत्र में बड़ी आसक्ति थी। वह भी तालाब में कूद पड़ा और डूब गया। इस प्रकार की घटनाएँ विश्व के विभिन्न भागों

में नित्यशः घटती रहती हैं। कितने ही लोग ऐसे हैं जो जिस वस्तु से अत्यधिक आसक्त हो जाते हैं उसके खो जाने पर व्यग्र हो उठते हैं, उन्हें बड़ा आघात पहुँचता है। आसक्ति की शक्ति ऐसी तबाही लाती है। यदि पिता को यह तार मिलता है कि उसका इकलौता पुत्र मर गया है तो उसे धक्का लगता है और वह मूर्च्छित हो जाता है। कुछ लोगों की तो ऐसा समाचार सुनने पर तत्काल मृत्यु हो जाती है।

बन्दरों के मोह को तो देखिए। बच्चे के मर जाने पर उसकी माता एक-दो माह तक उसके शव को अपने साथ लिये फिरती है। ऐसी मोह की शक्ति है। गायों को अपने बछड़ों से बड़ा मोह रहता है।

और तो रहे और, संन्यासी तक, जिसने सभी प्रकार का त्याग कर दिया, मोह से मुक्त नहीं रह पाता। इसने स्वयं आचार्य शङ्कर को भी उत्पीड़ित किया। संन्यासी होने पर भी उन्हें अपनी शय्याग्रस्त माता की सेवा-शुश्रूषा तथा दाहादि अन्त्येष्टि-क्रिया करनी पड़ी। महान् सन्त पत्तिनाथ स्वामी अपनी माता की अन्त्येष्टि पर कहते हैं : "प्रथम बार त्रिपुरासुर के संहार के समय अग्नि जली थी। उसके पश्चात् लङ्का में जली और अब मेरी माँ की मृत्यु से मेरे पेट में अग्नि जल उठी है। मैं इस अग्नि को अपनी माँ के शव का दाह-संस्कार करने के लिए भी उपयोग में लाऊँ।" लोक-व्यवहारों तथा वस्तुओं का त्याग कर देने पर भी संन्यासी धीरे-धीरे अपने आश्रम तथा शिष्यों के प्रति आसक्त हो जाता है। इसका उन्मूलन करना और भी अधिक कठिन है। संन्यासी की आसक्ति सांसारिक लोगों की आसक्ति से कहीं अधिक सबल तथा प्रभावशाली है। अनेक संन्यासी अपने दण्ड और कमण्डल के प्रति इतने आसक्त रहते हैं कि पूछिए मत, मरते दम तक इन छोटी-सी वस्तुओं में उनकी आसक्ति रहती है। मन की संरचना ही ऐसी है कि वह पुरानी लीकों और पगडण्डियों में विचरण करता है। सभी प्रकार की आसक्तियों से मुक्त होने के लिए सशक्त तथा कठोर अनुशासन तथा साधना की आवश्यकता पड़ती है। मोह को नष्ट करने के लिए व्यक्ति को कठोर सङ्घर्ष करना पड़ता है।

मोह के कारण ही मनुष्य को बारम्बार मृत्युलोक में आना पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति के चित्त में आसक्ति का बीज छिपा हुआ है। मन किसी-न-किसी पदार्थ से आबद्ध रहने का यथासम्भव प्रयास करता है। जब तक वह किसी पदार्थ के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं करता तब तक उसे शान्ति का अनुभव नहीं होता। यदि मन एक पदार्थ को छोड़ता है तो तुरन्त ही दूसरे पदार्थ से चिपक जाता है। यह इसका स्वभाव है। मन के इस स्वभाव का कारण रजोगुणी वृत्ति है। यदि रजोगुण का निराकरण कर दिया जाये तो समस्त आसक्तियों का लोप स्वयं ही हो जाता है। मोह के सूक्ष्म कार्यों का अन्वेषण करने के लिए साधक को सदा सावधान रहना चाहिए।

मोह भ्रान्ति उत्पन्न करता तथा बुद्धि को विकृत बना देता है। मोहवश ही आप मिथ्या कुत्सित शरीर को सत्य शुद्ध आत्मा मान बैठते हैं और असत् संसार को ठोस सत्य समझ लेते हैं। ये सब मोह के कार्य हैं। गत महायुद्ध में जब लाखों व्यक्ति मरे तब आप कभी भी नहीं रोये; किन्तु जब आपकी पत्नी मर गयी तो आप फूट-फूट कर रोते हैं। ऐसा क्यों? क्योंकि आपके मन में उसके लिए मोह है। मोह के द्वारा ममता उपजती है। इसीलिए आप कहते हैं: "मेरी पत्नी, मेरा पुत्र, मेरा घोड़ा, मेरा घर।" यही बन्धन है। यही मृत्यु है।

इसलिए आपको अपने मन को प्रतिदिन सभी व्यवहारों और कार्यों में प्रशिक्षित करना चाहिए। अपनी पत्नी, अपने पुत्र तथा सम्पत्ति के प्रति आसक्त न हों। यह जगत् सराय के समान है, जहाँ लोग कुछ समय के लिए एक-दूसरे से मिलते हैं और थोड़े समय में ही अलग हो जाते हैं। अपना मन परमात्मा में लगा दें और नित्यप्रति जप तथा ध्यान करें। वेदान्त के ग्रन्थ तथा भर्तृहरि के वैराग्य-शतक का स्वाध्याय करें। चित्त में मोह के बीच छिपे हैं। आपको विचार तथा आत्मज्ञान द्वारा इन सब बीजों को नष्ट अथवा भस्म करना होगा, वैराग्य-खड्ग से इन सब भ्रामक आसक्तियों का उच्छेदन करना होगा। गीता कहती है: "**असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा**—इस माया-रूप वृक्ष को तीव्र वैराग्य-रूप शस्त्र द्वारा काट डालें।" इस संसार के भ्रामक स्वरूप को जान कर मानसिक वैराग्य विकसित करें। इस संसार के कष्टों को, जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि तथा दुःखों को स्मरण करें। मन के सामने आत्मा में भव्य जीवन तथा आध्यात्मिक जीवन के प्रभूत आनन्द के तथ्य को रखें। सन्तों, ऋषियों तथा योगियों के चरित्रों का अध्ययन करें तथा उनसे प्रेरणा प्राप्त करें।

सत् तथा असत् में विवेक करना सीखें। किसी भी व्यक्ति से अत्यधिक सम्बन्ध न रखें। इस संसार में अनासक्त जीवन यापन करें। जिस व्यक्ति को इस संसार से आसक्ति नहीं होती, वह परम सुखी व्यक्ति है, वह साक्षात् भगवान् है। क्षुद्र वस्तुओं की हानि पर किञ्चित् भी चिन्ता न करें। सदा यह चिन्तन करें कि विनाशशील पदार्थ निकम्मे हैं। इस सूत्र को अनेक बार दोहरायें: "सभी पदार्थ विष्ठावत् हैं। सभी पदार्थ विषवत् हैं।" यदि आप सभी परिस्थितियों में इस सूत्र को मन में दोहरायें तो आप मोह को नष्ट कर सकेंगे: "यह भी गुजर जायेगा।"

मोह ही विविध दुःख, बन्धन, अनबन तथा फूट का कारण है। मोह आपका भयानक शत्रु है। यह यथार्थ में 'मृत्यु' है। अनासक्ति आपको ईश्वरत्व तक उन्नत करती और ब्रह्म के उन्नत शिखर तक पहुँचा देती है। अनासक्ति विशुद्ध आनन्द, शाश्वत जीवन, स्वतन्त्रता, स्वावलम्बन, पूर्णता, मेल तथा सामञ्जस्य प्राप्त कराती है।

मोह महत्तम बाधा है। योगाभ्यास में आने वाली अन्य सभी बाधाएँ इस मोह से ही उत्पन्न होती हैं। यदि आप धीरे-धीरे इसे नष्ट कर सकें तो सम्पूर्ण आध्यात्मिक साधना तथा आत्म-साक्षात्कार बहुत ही सहज हो जाता है। हम तो यहाँ तक कह सकते हैं कि सम्पूर्ण आध्यात्मिक साधना का उद्देश्य ही इस भयङ्कर शत्रु को नष्ट करना है।

२. अस्वस्थता

साधना के बिना भगवत्साक्षात्कार सम्भव नहीं है तथा सुस्वास्थ्य के बिना साधना सम्भव नहीं है। रुग्ण तथा जीर्णशीर्ण शरीर योगाभ्यास में बाधक है। साधक को नियमित व्यायाम, आसन, प्राणायाम, मिताहार, भ्रमण, बाहर दौड़ तथा अपने कार्य, भोजन तथा निद्रा आदि में नियमितता द्वारा सदा सुन्दर स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए यथाशक्य प्रयास करना चाहिए। उसे यथासम्भव औषध-सेवन से बचना चाहिए। उसे शुद्ध वायु, स्वास्थ्यवर्द्धक भोजन, शीतल जल से स्नान, आहार-सम्बन्धी समायोजन-जैसी प्रकृति-चिकित्सा का आश्रय लेना चाहिए। उसे जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में मन की प्रफुल्लता बनाये रखनी चाहिए। प्रफुल्लता मन के लिए एक पुष्टिकारक औषधि है। मन तथा शरीर में घनिष्ट सम्बन्ध है। मन के प्रफुल्ल रहने पर शरीर भी स्वस्थ रहता है। यही कारण है कि डाक्टर आजकल रोगों के उपचार में प्रतिदिन तीन बार हँसने का निर्देश देते हैं।

कुछ अज्ञानी साधक गम्भीर रूप से रुग्ण होने पर औषधि-सेवन से इनकार करते हैं। वे कहते हैं: "यह प्रारब्ध है। हमें प्रारब्ध के विरुद्ध नहीं जाना चाहिए। औषधि-सेवन भगवदिच्छा के विपरीत है। शरीर मिथ्या है। औषधि-सेवन से देहाध्यास बढ़ेगा।" यह मूर्खतापूर्ण दर्शन है। औषधि-सेवन करें। पुरुषार्थ करें। परिणाम को प्रारब्ध पर छोड़ दें। इसमें बुद्धिमत्ता है। ये मूर्ख लोग शरीर को अनावश्यक यन्त्रणा देते हैं, रोग को गहरी जड़ें जमाने देते हैं और अपने स्वास्थ्य को बिगाड़ लेते हैं। वे कोई साधना नहीं कर सकते हैं। वेदान्त की गलत परिकल्पना से इस शरीर-रूपी उपकरण को बरबाद करते हैं। वेदान्त कहता है: "इस शरीर से आसक्ति न रखें; किन्तु निरन्तर कठोर साधना के लिए इसे स्वच्छ, पुष्ट तथा स्वस्थ बनाये रखें। यह शरीर दूसरे तट पर अमरत्व तक पार कर पहुँचने के लिए नौका है। यह आपको लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए घोड़ा है। घोड़े को अच्छी तरह खिलायें; किन्तु ममता न रखें। बीमार पड़ने पर कुछ दिनों तक औषधि-सेवन करें, कठिनाई पार कर जायें और शीघ्र ही साधना पुनः आरम्भ कर दें। रोग को गम्भीर रूप धारण न करने दें और न उसे दीर्घस्थायी तथा असाध्य बनायें।"

३. अशुद्ध तथा अधिक भोजन

मन भोजन के सूक्ष्मतम अंश से बनता है। यदि भोजन अशुद्ध हो तो मन भी अशुद्ध हो जाता है। यही ऋषियों तथा मनोवैज्ञानिकों का कथन है। मन के विकास में भोजन की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इसका मन पर सीधा प्रभाव पड़ता है। साधकों को मांस, मछली, अण्डा, बासी अस्वास्थ्यकर भोजन, प्याज, लहसुन आदि का परित्याग करना चाहिए; क्योंकि ये पदार्थ काम, क्रोध आदि को उद्दीप्त करते हैं। भोजन सादा, मृदु, लघु, स्वास्थ्यवर्द्धक तथा पौष्टिक होना चाहिए। मदिरा तथा अन्य मादक द्रव्य पूर्णतः त्याग देने चाहिए। मिर्च, मसाले, चरपरा भोजन, तिक्त पदार्थ तथा अत्यधिक खट्टे-मीठे खाद्यपदार्थों का त्याग करना चाहिए।

गीता (१७-८) में आप पायेंगे : "आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले एवं रसयुक्त, चिकने, स्थिर रहने वाले, मन को प्रिय खाद्यपदार्थ सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं।" साधकों को पेट पर अधिक भार नहीं डालना चाहिए। अधिक भोजन के ही कारण नब्बे प्रतिशत बीमारियाँ होती हैं। लोगों ने आवश्यकता से अधिक खाने का अपना दृढ़ स्वभाव बना लिया है। यह आदत उनमें बचपन से ही पड़ी हुई है। भारतीय माताएँ अपने बच्चों को ठूँस-ठूँस कर खिलाती हैं। यह प्यार-दुलार करने की विधि नहीं है। पेट पर अधिक भार डालने से शीघ्र ही निद्रा तथा तन्द्रा आती हैं। यदि भूख न हो तो भोजन नहीं करना चाहिए। साधकों का रात्रि का आहार लघु होना चाहिए। आधा लीटर दूध के साथ एक या दो केले ले लेना पर्याप्त है।

४. तम का प्रभाव

तम एक अन्य बाधा है। बहुत कम लोग ही पूर्णकालिक ध्यान करने के उपयुक्त हैं। सदाशिव ब्रह्मेन्द्र तथा श्री शङ्कर-जैसे व्यक्ति ही सारा समय ध्यान में लगा सकते हैं। निवृत्ति-मार्ग अपनाने वाले साधु पूर्णतया तामसिक बन जाते हैं। तम को ही भूल से सत्त्व समझ बैठते हैं। यह भयङ्कर भूल है। यदि व्यक्ति लाभप्रद ढङ्ग से अपने समय का उपयोग करना जानता है, तो वह संसार में रहते हुए कर्मयोग द्वारा सुन्दर ढङ्ग से अपना विकास कर सकता है। गृहस्थ को चाहिए कि वह संन्यासियों तथा महात्माओं से समय-समय पर परामर्श लेता रहे, अपना एक दैनिक कार्यक्रम बना ले और सांसारिक प्रवृत्तियों के मध्य में अतिनियमनिष्ठा के साथ उसका पालन करता रहे। रज को सत्त्व में रूपान्तरित किया जा सकता है। उग्र रज सत्त्व की ओर मोड़ ले लेता है। तम को सहसा सत्त्व में रूपान्तरित करना असम्भव है। तम को पहले रज में बदलना चाहिए।

निवृत्ति-मार्ग अपनाने वाले युवक साधु किसी कार्यक्रम में लगे नहीं रहते। वे गुरुजनों की बातों पर ध्यान नहीं देते और न गुरु की आज्ञाओं का पालन ही करते हैं। वे प्रारम्भ से ही पूर्ण स्वतन्त्र रहना चाहते हैं। वे अलमस्त जीवन यापन करते हैं। उन्हें कोई नियन्त्रित करने वाला नहीं है। वे मनमानी करते हैं। शक्ति को नियन्त्रित करने तथा दैनिक कार्यक्रम की विधि की उन्हें जानकारी नहीं है। वे एक स्थान से दूसरे स्थान को निरुद्देश्य भटकते फिरते हैं। छः महीने में ही वे तामसिक बन जाते हैं। किसी आसन में आधा घण्टा ही बैठते हैं और कल्पना करने लगते हैं कि वे समाधि में हैं। वे अपने आत्मदर्शी होने की कल्पना करते हैं। यदि निवृत्ति-मार्ग का साधक देखे कि उसका विकास नहीं हो रहा है, ध्यान में प्रगति नहीं हो रही है और वह तामसिक बनता जा रहा है तो उसे चाहिए कि वह कुछ वर्षों के लिए कोई सेवा-कार्य हाथ में ले ले और जोरों से कार्य करे। उसे ध्यान के साथ कर्म को भी संयोजित करना चाहिए। यही बुद्धिमत्ता है। यही समझदारी है। यही दूरदर्शिता है। इसके पश्चात् ही वह एकान्तवास के लिए जाये। साधना-काल में सदा ही सहज बुद्धि से काम लेना चाहिए। तामसिक अवस्था से निकल पाना बहुत ही कठिन होता है। साधक को बहुत ही सतर्क रहना चाहिए। जब भी तम उसे अभिभूत करने का प्रयास करे तो उसे तुरन्त ही किसी प्रकार के स्फूर्तिकारक कार्य करने में लग जाना चाहिए। वह बाहर दौड़ सकता है, कुएँ से पानी निकाल सकता है। इस भाँति उसे किसी-न-किसी बुद्धिमत्तापूर्ण उपाय से तम को दूर भगाना चाहिए।

आलस्य, तन्द्रा तथा निद्रा तम से उत्पन्न होते हैं। आलस्य सुस्ती को, तन्द्रा ऊँघ को और निद्रा नींद को कहते हैं। ये तीनों ही आत्मसाक्षात्कार के पथ में बड़े बाधक हैं। निद्रा माया की प्रभावशाली शक्ति है। इसे निद्रा-शक्ति कहते हैं। आप समझते रहेंगे कि आप ध्यान कर रहे हैं, किन्तु मन विश्राम के लिए पल मात्र में अपनी पुरानी लीकों से हो कर मूलाज्ञान में भाग जायेगा। आपको सन्देह होगा कि यह निद्रा है अथवा ध्यान। निद्रा सबसे बड़ी बाधा है; क्योंकि यह बहुत शक्तिशाली है। साधक के बहुत सावधान तथा सतर्क रहने पर भी निद्रा किसी-न-किसी प्रकार अभिभूत कर लेती है। यह एक प्रबल आदत है। इस पुरानी आदत को नष्ट करने के लिए समय तथा प्रबल सङ्कल्प-शक्ति की आवश्यकता होती है।

अर्जुन का नाम गुडाकेश (निद्रा-विजेता) था। लक्ष्मण ने भी निद्रा पर प्रभुत्व प्राप्त किया था। इन दोनों व्यक्तियों के अतिरिक्त अन्य किसी का नाम सुनने में नहीं आता जिसने निद्रा पर विजय प्राप्त की हो। ऐसे भी लोग हैं जिन्होंने निद्रा-काल को घटा कर दो या तीन घण्टे कर लिया है। योगी तथा ज्ञानी भी दो-तीन घण्टे ही सोते हैं। निद्रा एक मनोवैज्ञानिक संवृत्ति है। मस्तिष्क को कम-से-कम कुछ समय तक विश्राम

की आवश्यकता होती है। अन्यथा मनुष्य निद्रालु तथा श्रान्त अनुभव करता है। ऐसी अवस्था में न तो वह कार्य कर सकता है और न ध्यान ही। ज्ञानी की निद्रा सांसारिक मनुष्य की निद्रा से भिन्न हुआ करती है। ज्ञानी में ब्रह्माभ्यास के शक्तिशाली संस्कार बने रहते हैं। यह ब्रह्मनिष्ठा के सदृश्य है। निद्रा को कम करने में सावधान रहना चाहिए। इसे शनैः-शनैः करना चाहिए। रात्रि में १० बजे सो जायें और प्रातः ३-३० बजे जाग जायें। धीरे-धीरे प्रति माह आधा घण्टा कम करें।

साधक निद्रा को कम करके अपनी साधना के लिए अधिक समय प्राप्त कर सकते हैं। निद्रा का समय कम करने का अभ्यास आरम्भ में बहुत ही कष्टकर होता है; परन्तु आदत के बदल जाने पर यह सुखद हो जाता है। जब निद्रा प्रकट होने का प्रयास करे तो उठ खड़े हों और जप करें। शिर और मुँह पर ठण्ढे पानी के छींटे दें। रात्रि को केवल दूध तथा फल लें। रात्रि को अधिक भोजन करना छोड़ दें। रात्रि का भोजन सूर्यास्त से पहले ही ले लें। ध्यान आरम्भ करने से पूर्व १० से २० प्राणायाम करें। शीर्षासन तथा सर्वाङ्गासन करें। अपने अहाते में पाँच मिनट तक दौड़ें। तन्द्रा तथा निद्रा लुप्त हो जायेंगी। साधक प्रातःकाल ४ से ५ बजे तक एक घण्टा ध्यान करते हैं। तब वे निद्राभिभूत हो जाते हैं। वे पाँच बजे के पश्चात् सोने लगते हैं। यह एक सामान्य शिकायत है। १० से २० प्राणायाम करें। कुछ मिनट तक आसन करें। आप ध्यान के लिए पुनः चुस्त बन जायेंगे। सदा अपनी सहज बुद्धि का प्रयोग करें। पुरानी आदत बारम्बार लौट आयेगी। उपयुक्त अभ्यास तथा सङ्कल्प-शक्ति से उसे बार-बार नष्ट कर डालें। आलस्य, तन्द्रा तथा निद्रा को दूर करने के लिए आसन, प्राणायाम, स्फूर्तिकारक सैर, मिताहार, सत्संग, जप तथा ध्यान सक्रिय साधन हैं।

साधक प्रायः विषादग्रस्त हो जाया करते हैं। यह विषाद अपच, मेघाच्छन्न मौसम, तम के प्रभाव, निम्न नक्षत्र अथवा अन्दर के पुराने संस्कारों के जागरण के कारण हुआ करता है। कारण को ढूँढ निकालिए और उपयुक्त साधना द्वारा उसे दूर कीजिए। विषाद से अभिभूत न हों। तत्काल स्फूर्तिकारक लम्बी सैर के लिए निकल जाइए। बाहर दौड़िए। भजन गाइए। आधा घण्टा तक जोरों के साथ ॐ का कीर्तन कीजिए। समुद्र अथवा नदी के तट पर भ्रमण कीजिए। यदि सङ्गीत का ज्ञान हो तो हारमोनियम बजाइए। कुछ प्राणायाम कीजिए। एक प्याला नारङ्गी का रस, गरम चाय या हलकी काफी पीजिए। अवधूतगीता अथवा उपनिषदों के कुछ प्रेरणात्मक अंशों को पढ़िए।

५. संशय

साधक संशय करने लगता है कि ईश्वर है अथवा नहीं; उसे भगवत्साक्षात्कार होगा या नहीं, वह अपनी साधना उचित रीति से कर रहा है अथवा नहीं। यह

आध्यात्मिक पथ में भयङ्कर बाधा है। इन संशयों के प्रकट होने पर साधक अपनी साधना ढीली कर देता है। माया बहुत ही शक्तिशाली है। वह संशय तथा विस्मृति से लोगों को विपथगामी बनाती है। मन संशय से लोगों को भ्रम में डाल देता है। कभी-कभी साधक अपनी साधना को सर्वथा त्याग बैठता है। यह गम्भीर भूल है। जब कभी भी साधक को संशय अभिभूत करने लगे उसे चाहिए कि वह महात्माओं की सङ्गति की शरण ले कर और उनकी आध्यात्मिक धारा के प्रभाव में कुछ दिनों तक निवास करे और उनके साथ वार्तालाप द्वारा अपने संशयों को विदूरित करे।

६. विषयासक्ति

विषयासक्ति सबसे बड़ी बाधा है। मन विषय-भोगों को पूर्णतया छोड़ने से इनकार करता है। वैराग्य तथा ध्यान के बल से कामनाएँ कुछ समय के लिए दब जाती हैं। पुरानी आदत तथा स्मृतिवश मन अकस्मात् विषय-भोगों का चिन्तन करने लगता है। मन आन्दोलित हो उठता है और वह विषय-पदार्थों में बहिर्गमन करता है। गीता (२-६०) में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं : "बलवती इन्द्रियाँ अति-यत्नशील विवेकी पुरुष के भी मन को बलपूर्वक खींच ले जाती हैं।"

कुछ इच्छाएँ मन के कोने में छिपी रहती हैं। जैसे झाड़ू देने पर घर के कोने से पुरानी धूलि बाहर आती है वैसे ही योगाभ्यास के दबाव से मन की गुप्त इच्छाएँ दोहरी ताकत के साथ मन की सतह पर बाहर निकलती हैं। साधक को बहुत ही सावधान रहना चाहिए। उसे सतर्कतापूर्वक मन को ध्यान से देखना चाहिए। उसे वैराग्य तथा विवेक विकसित कर तथा जप और ध्यान के समय में वृद्धि कर कामनाओं को उनकी कलिकावस्था में ही नष्ट कर देना चाहिए। उसे अखण्ड मौन रखना चाहिए और प्रबल ध्यान तथा प्राणायाम करना चाहिए, चालीस दिन तक दूध तथा फल पर रहना चाहिए, एकादशी को उपवास करना चाहिए, लोगों से मिलना-जुलना पूर्णतया बन्द कर देना चाहिए, कमरे से कभी बाहर नहीं निकलना चाहिए तथा साधना में गम्भीरता से निमग्न हो जाना चाहिए। छिपी हुई वासनाओं को कषाय कहते हैं। यह विषयासक्ति की श्रेणी में आता है। सभी प्रकार की सांसारिक कामनाओं को इस शीर्षक में समाविष्ट किया जा सकता है। कामना से मन बहुत अशान्त होता है। व्यक्ति को आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करने की एकमात्र श्लाघ्य कामना रखनी चाहिए।

७. मनोराज्य

हवाई किले बनाना मनोराज्य है। यह मन की एक चाल है। इस आश्चर्य को देखें। साधक हिमालय की एकान्त गुहा में ध्यान कर रहा है। वह गुहा में ही योजना

बनाता है : "ध्यान समाप्त कर लेने पर मैं सैनफ्रान्सिस्को तथा न्यूयार्क जाऊँगा तथा वहाँ भाषण दूँगा। मैं कोलम्बिया में एक आध्यात्मिक केन्द्र स्थापित करूँगा। मुझे इस संसार में कुछ नयी बात करनी चाहिए। मुझे ऐसा काम करना चाहिए जैसा अब तक किसी ने नहीं किया हो।" यह कामना है। यह अहङ्कारयुक्त कल्पना है। यह एक बड़ा विघ्न है। यह मन को एक क्षण भी शान्त नहीं रहने देता। बार-बार कोई परियोजना, निराधार कल्पना अथवा योजना पुनः जीवित हो उठती है। साधक ऐसा समझता है कि वह गम्भीर ध्यान में रत है; परन्तु यदि वह अन्तरावलोकन तथा आत्मविश्लेषण द्वारा अपने मन का सूक्ष्म निरीक्षण करे तो वह देखेगा कि वह केवल हवाई किले बना रहा था। एक मनोराज्य के विलीन होने पर, पल मात्र में दूसरा मनोराज्य आ खड़ा होता है। यह मन-रूपी सरोवर में एक सङ्कल्प अथवा तरङ्ग के रूप में उत्पन्न होता है; परन्तु बारम्बार चिन्तन के द्वारा यह कुछ ही क्षणों में भयङ्कर रूप धारण कर लेता है। कल्पना की शक्ति भयङ्कर है। कल्पना-शक्ति के द्वारा ही माया उत्पात मचाती है। कल्पना से मन स्थूल बनता है। कल्पना-शक्ति मन को एक क्षण के लिए भी शान्त नहीं रहने देती। जिस प्रकार टिड्डियों का दल निरन्तर धारा-प्रवाह में उड़ता है उसी तरह मनोराज्य की भी अविरल धारा बहती रहती है। विचार, विवेक, प्रार्थना, जप, प्राणायाम, ध्यान, सत्सङ्ग, उपवास आदि इस बाधा का निराकरण करते हैं। प्राणायाम मन के वेग को रोकता है तथा उफनते हुए मन को शान्त करता है। एक महत्त्वाकांक्षी नवयुवक व्यक्ति एकान्त गुहा में रहने के योग्य नहीं। जिसने संसार में मन के नियन्त्रण के लिए कोई साधना की है वही गुहा में निवास कर सकता है।

८. व्यर्थ परिभ्रमण

कुछ साधकों में निरुद्देश्य घूमते रहने की आदत होती है। वे एक स्थान में एक **सप्ताह**-भर भी नहीं टिक पाते। घूमने की आदत को रोकना चाहिए। वे नये-नये स्थान **तथा** चेहरे देखना तथा नये-नये लोगों से बातें करना चाहते हैं। लुढ़कते पत्थर में काई **नहीं लगती**। साधक को एक स्थान में न्यूनातिन्यून बारह वर्ष तक टिके रहना चाहिए। **यदि** उसका स्वास्थ्य सुकुमार है तो वह ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतु के छः महीनों में एक **स्थान** पर और शीतकाल के छः महीनों में दूसरे स्थान पर रह सकता है। शीतकाल में **वह** राजपुर (देहरादून) अथवा ऋषिकेश में रह सकता है तथा ग्रीष्मकाल में वह **बदरीनारायण** अथवा उत्तरकाशी जा सकता है। सदा घूमते रहने से साधना नहीं हो **सकती है**। जो लोग उग्र तप करना चाहते हैं उनको एक ही स्थान पर रहना चाहिए। **अत्यधिक** भ्रमण से दुर्बलता तथा थकावट आती है। इससे विक्षेप होता है।

९. विक्षेप

मन के तीन दोष होते हैं : मल, विक्षेप तथा आवरण। मन के इधर-उधर भटकने को विक्षेप कहते हैं। विक्षेप को दूर करने से एकाग्रता की प्राप्ति होती है। एकाग्रता का बहुत से लोगों को पता ही नहीं है। मैक्समूलर लिखते हैं : "हमारे (पाश्चात्यों के) लिए एकाग्रता असम्भव है; क्योंकि समाचार-पत्र, तार, डाक-सञ्चार आदि से हमारा मन विविध दिशाओं में लगा हुआ है।" सभी धार्मिक तथा दार्शनिक चिन्तनों तथा निदिध्यासन के लिए एकाग्रता एक अपरिहार्य आवश्यकता है।

"व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः—*व्याधि* (ज्वरादि रोग), *स्त्यान* (चित्त की अकर्मण्यता), *संशय* (सन्देह), *प्रमाद* (साधनों का अनुष्ठान न करना), *आलस्य* (चित्त अथवा शरीर का भारीपन), *अविरति* (विषयों में तृष्णा), *भ्रान्तिदर्शन* (मिथ्या ज्ञान), *अलब्धभूमिकत्व* (किसी प्रतिबन्ध के कारण समाधि की अप्राप्ति), *अनवस्थित्व* (समाधि-भूमि को पा कर चित्त का वहाँ न ठहरना)—ये चित्त के नौ विक्षेप योग के विघ्न हैं (पातञ्जल योगदर्शन : १-३०)।

सभी सूक्ष्म तथा स्थूल वासनाओं को निरन्तर साधना तथा विचार द्वारा नष्ट कीजिए। विक्षेप को उपासना, योग, त्राटक तथा प्राणायाम के द्वारा दूर कीजिए।

मन की चञ्चलता को विक्षेप कहते हैं। यह मन की एक पुरानी आदत है। प्रायः सभी साधक इस कठिनाई की शिकायत करते हैं। मन दीर्घकाल तक नियत स्थान पर टिका नहीं रहता। यह बन्दर की भाँति इधर-उधर कूदता रहता है और सदा अशान्त रहता है। इसका कारण है रजस् की शक्ति। जब कभी श्री जयदयाल गोयन्दका जी मुझसे मिलने आते तो सदा दो प्रश्न करते थे : "स्वामी जी ! निद्रा को नियन्त्रित करने का क्या उपाय है ? विक्षेप को कैसे दूर किया जाये ? कोई सरल तथा प्रभावशाली साधन बतलाइए।" मेरा उत्तर था : "रात्रि को हलका भोजन कीजिए। शीर्षासन तथा प्राणायाम कीजिए। गम्भीर ध्यान कीजिए। इससे निद्रा पर विजय पायी जा सकती है। त्राटक, उपासना तथा प्राणायाम से विक्षेप दूर होता है।" पतञ्जलि महर्षि विक्षेप उत्पन्न करने वाले रजस् को दूर करने तथा मन की एकाग्रता प्राप्त करने के लिए प्राणायाम का साधन बतलाते हैं।

गीता के षष्ठ अध्याय के श्लोक २४ से २६ में भगवान् श्रीकृष्ण विक्षेप को दूर करने की साधना बतलाते हैं। यह प्रत्याहार तथा धारणा की विधि है। विक्षेप को नष्ट करने की त्राटक एक प्रभावकारी विधि है। इसका अभ्यास भगवान् श्रीकृष्ण के चित्र

पर अथवा काले बिन्दु पर कीजिए। त्राटक के अभ्यास के निर्देश इस पुस्तक में अन्यत्र दिये गये हैं।

१०. कुसङ्गति

कुसङ्गति के परिणाम बहुत ही भयङ्कर होते हैं। साधक को सभी प्रकार के कुसङ्गों से बचना चाहिए। दुर्जनों की सङ्गति से मन कुविचारों से भर जाता है। ईश्वर तथा शास्त्रों में जो थोड़ी श्रद्धा रहती है, वह भी चली जाती है। मनुष्य की पहचान उसके साथियों द्वारा होती है। प्रारम्भावस्था में पौधे को गाय आदि से बचाने के लिए एक बाड़ लगाने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार व्यक्ति को बाह्य बुरे प्रभावों से अपनी रक्षा बहुत सावधानी से करते रहनी चाहिए, अन्यथा उसका पूर्णतः पतन हो जायेगा। जो असत्यवादी हों, जारकर्म, चोरी, ठगी तथा कपट करते हों, जो लोभी हों, जो व्यर्थ की बात करने, पिशुनता तथा परिवाद में निरत हों, जिनको ईश्वर तथा शास्त्रों में श्रद्धा न हो, उनकी सङ्गति से सर्वथा बचना चाहिए। स्त्रियों और स्त्रियों से सम्पर्क रखने वालों की सङ्गति साधकों के लिए हानिकारक है।

बुरे वातावरण, अश्लील चित्र, अभद्र गीत, प्रणय कथानक वाले उपन्यास, चलचित्र, नाटक, पशुओं का मैथुन कर्म, दुर्भावनाजनक शब्द, संक्षेप में कहें तो जिससे भी मन में कुविचार उत्पन्न हों, वह कुसङ्ग कहा जा सकता है।

११. तथाकथित मित्र

तथाकथित मित्र ही आपके सबसे बड़े शत्रु हैं। इस संसार में एक भी निस्स्वार्थ मित्र आपको नहीं मिल सकता। आपकी आवश्यकता में काम आने वाला तथा आपका निष्कपटता से साथ देने वाला आपका सच्चा मित्र आपके हृदय में ही निवास करने वाला परमात्मा है। जब आपके पास विलास के सभी साधन उपलब्ध हैं, जब आपके पास प्रचुर धन है तभी सांसारिक मित्र आपके पास धन तथा अन्य सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए आते हैं। जब आप तङ्गहाली में होंगे तो कोई आपकी ओर देखना भी नहीं चाहेगा। आपके पुत्र तथा पत्नी भी आपका परित्याग कर देंगे। यह संसार लोभ, दम्भ, कपट, चाटुकारी, असत्य, प्रवञ्चना तथा स्वार्थ से भरा हुआ है। सावधान रहें। मित्र आपके साथ व्यर्थ बातचीत करने के लिए आते हैं और आपका समय नष्ट करते हैं; वे आपको नीचे घसीटना चाहते हैं और आपको भी सांसारिक बनाना चाहते हैं। वे कहेंगे : "प्रिय मित्र! तुम क्या कर रहे हो? यथासम्भव अधिक-से-अधिक धनोपार्जन करो और सुखी जीवन यापन करो। खाओ, पियो और मौज उड़ाओ। आओ, चलचित्र देखने चलें। आज रायल थियेटर में एक सुन्दर नया हालीवुड में निर्मित चित्र चल रहा है। उसमें एक सुन्दर अमरीकी नृत्य है। भविष्य की कौन

जानता है? भगवान् कहाँ है? स्वर्ग कहाँ है? पुनर्जन्म नहीं होता। मुक्ति नाम की कोई वस्तु नहीं है। यह सब गप और पण्डितों की व्यर्थ की बकवास है। अभी आनन्द लें। आप उपवास क्यों रखते हैं। इस संसार से परे कुछ भी नहीं है। सब साधना और ध्यान छोड़ दो। तुम अपना समय नष्ट कर रहे हो।" आपको अपने सांसारिक मित्रों से इस प्रकार का परामर्श मिलेगा। ऐसे मित्रों की लच्छेदार बातों में बह न जाइए। इनसे सभी सम्बन्ध निर्ममतापूर्वक तोड़ डालिए। अपने मित्रों में से किसी से भी चाहे कितने भी निष्कपट क्यों न हों, बातें न कीजिए। सदा अपने को छिपा कर रखिए। सदैव एकाकी रहें। अपने हृदय में निवास करने वाले उस अमर मित्र भगवान् में विश्वास रखिए। तभी आप पूर्णतया सुरक्षित रह सकेंगे। आप जो-कुछ भी चाहेंगे, वह आपको देगा। एकाग्र मन से उसके मधुर परामर्श को अन्दर से सुनिए और अनुसरण कीजिए।

१२. जिह्वा की पेचिश

अधिक बोलचाल की आदत अति-भाषण है। यदि व्यक्ति बहुत अधिक बातें करता है तो उसे जिह्वा की पेचिश का रोग है। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो एक सेकण्ड में पाँच सौ शब्द बोल जायेंगे। उनकी जिह्वा में विद्युत् का यन्त्र लगा हुआ है। वे सदा अशान्त रहते हैं। यदि आप ऐसे व्यक्तियों को एक दिन के लिए भी एकान्त कमरे में बन्द कर दें तो वे मर जायेंगे। अत्यधिक बोलने से बहुत शक्ति का अपव्यय होता है। अत्यधिक बोलने से जो शक्ति नष्ट होती है, उसका संरक्षण कर ध्यानाभ्यास में लगाना चाहिए। वाक्-इन्द्रिय मन को अत्यधिक विक्षिप्त बनाती है और आध्यात्मिक प्रगति में बाधा डालती है। बातूनी व्यक्ति स्वप्न में भी कुछ समय के लिए शान्ति से नहीं रह सकता है।

यह साधकों के लिए एक अन्य बाधा है। मौन धारण करके आप बोलने की आदत को शनैः-शनैः कम कर सकते हैं। जप, ध्यान, स्वाध्याय तथा एकान्तवास इस बाधा को दूर करने के प्रभावशाली साधन हैं।

१३. कीर्ति और प्रतिष्ठा

मनुष्य अपनी पत्नी, पुत्र, सम्पत्ति आदि का भी त्याग कर सकता है; परन्तु कीर्ति और प्रतिष्ठा का त्याग करना कठिन है। मान-मर्यादा को कीर्ति और प्रतिष्ठा कहते हैं। यह भगवत्साक्षात्कार के मार्ग में बड़ी बाधा है। यह अन्त में मनुष्य का अधःपतन करती है। यह साधक को आध्यात्मिक मार्ग में अग्रसर नहीं होने देती। वह मान तथा आदर का दास बन जाता है। साधक ज्यों-ही थोड़ी चित्तशुद्धि तथा नैतिक उन्नति प्राप्त करता है त्यों-ही अज्ञानी लोग उसके पास एकत्रित होने और उसको नमस्कार करते

तथा भेंट चढ़ाने लगते हैं। साधक अभिमान से फूल उठता है और सोचता है कि वह अब एक बड़ा महात्मा बन गया है। अन्ततः वह अपने प्रशंसकों का दास बन जाता है। वह अपने क्रमिक पतन को नहीं देख पाता। वह ज्यों-ही गृहस्थों से मिलना-जुलना आरम्भ करता है त्यों-ही वह आठ-दश वर्षों के तप-काल में जो थोड़ा-बहुत प्राप्त किया था, खो बैठता है। अब वह जनता को प्रभावित नहीं कर सकता और न उसे कोई आध्यात्मिक लाभ ही पहुँचा पाता है। अन्त में उसके प्रशंसक भी उसे छोड़ देते हैं; क्योंकि उन्हें उसकी सङ्गति में कोई सान्त्वना, शान्ति तथा आध्यात्मिक प्रेरणा नहीं मिलती ।

लोग ऐसा समझते हैं कि इस महात्मा के पास सिद्धियाँ हैं और वे उसकी कृपा से सन्तान तथा धन प्राप्त कर सकते तथा रोगों का उपचार कर सकते हैं। वे सदा ही विविध उद्देश्यों से साधु के पास जाते हैं। साधक कुसङ्गति में पड़ कर अपने वैराग्य तथा विवेक को खो बैठता है। आसक्ति तथा कामनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। अतः साधक को सदा अपने को छिपाये रखना चाहिए। किसी को यह न मालूम हो कि वह किस प्रकार की साधना कर रहा है। वह कभी किसी प्रकार की सिद्धि के प्रदर्शन का प्रयत्न न करे। उसे बहुत ही नम्र होना चाहिए। उसे सामान्य व्यक्ति के समान रहना चाहिए। उसे गृहस्थों से बहुमूल्य उपहार नहीं स्वीकार करना चाहिए। वह उपहारदाता के बुरे विचारों से प्रभावित हो जायेगा। उसे आदर, मान, नाम तथा यश को विष्ठा अथवा विष के समान समझना चाहिए। अनादर तथा अपमान को अपना आभूषण बनाना चाहिए। तभी वह सुरक्षित रूप से अपने लक्ष्य तक पहुँचेगा।

आश्रम बनाने तथा शिष्यों को दीक्षित करने से साधक का अधःपतन हो जाता है; क्योंकि इनसे कीर्ति और प्रतिष्ठा आती हैं। वे भगवत्साक्षात्कार के मार्ग में बाधाएँ भी हैं। साधक एक अन्य प्रकार का गृहस्थ बन जाता है। उसमें संस्थागत अहङ्कार विकसित होता है। उसमें आश्रम तथा शिष्यों में आसक्ति हो जाती है। आश्रम चलाने, पत्रिका मुद्रित करने तथा अपने शिष्यों को खिलाने के लिए वह वैसे ही ध्यान, चिन्ता तथा आकुलता रखता है जैसे गृहस्थ रखते हैं। उसमें दास-भावना आ जाती है तथा उसकी सङ्कल्प-शक्ति कमजोर पड़ जाती है। मरणासन्न अवस्था में आश्रम का विचार उसके मन में चक्कर काटता रहता है। कुछ महन्त अपने जीवन-काल में आश्रमों का बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से सञ्चालन करते हैं; किन्तु उनके महाप्रयाण के अनन्तर उनके शिष्य, जो सङ्कीर्णमना होते हैं, परस्पर झगड़ते हैं। न्यायालयों में मुकदमे दायर होते हैं। तत्पश्चात् आश्रम लड़ाई के केन्द्र बन जाते हैं। आश्रम के स्वामियों को दान-दाताओं को चिकनी-चुपड़ी बातें कहनी पड़ती हैं और प्रायः लोगों से कोष के लिए याचना करनी होती है। उनके मस्तिष्क में, जो धन-सञ्चय तथा आश्रम के विकास में लगे हैं, ईश्वर-विषयक विचार भला कैसे रह सकता है? आश्रम के संस्थापक कह सकते हैं : "हम अनेक प्रकार से जनता की भलाई कर रहे हैं। हम नित्य आध्यात्मिक वर्ग चलाते हैं। हम गरीबों को भोजन देते हैं। हम निर्धन बालकों को निःशुल्क शिक्षा दे रहे हैं।" ये प्रवृत्तियाँ केवल कीर्ति तथा प्रतिष्ठा के लिए हो सकती हैं। यदि उनमें प्रारम्भ में यह कामना न हो तो भी धीरे-धीरे उनको कीर्ति और प्रतिष्ठा मिल जाती हैं। वे साधना की उपेक्षा करते हैं और अपने लक्ष्य भगवत्साक्षात्कार को भूल जाते हैं। साधकों को कीर्ति तथा प्रतिष्ठा से सर्वथा दूर रहना चाहिए।

१४. साधना में अनियमितता तथा उससे विराम

अनियमितता भी आत्मसाक्षात्कार के मार्ग में एक महान् बाधा है। जैसे आप भोजन करने में नियमित रहते हैं वैसे ही आपको अपनी साधना में बहुत ही नियमित रहना चाहिए। अनियमित साधना से आकांक्षित फल नहीं प्राप्त होता है। मन को ढील देने से सारा कार्यक्रम अस्त-व्यस्त हो जाता है। आपको अपनी साधना में रासभीय धैर्य, सुदृढ़ सङ्कल्प, ध्रुव निश्चय तथा अविचल श्रद्धा से नियमित रहना चाहिए। तब सफलता निश्चित है।

साधक प्रायः प्रारम्भ में अपनी साधना में बहुत उत्साहपूर्ण रहता है। वह उत्साह से ओतप्रोत रहता है। वह साधना से बहुत रुचि लेता है। वह कुछ परिणाम की आशा करता है। जब उसे किसी फल की प्राप्ति नहीं होती तो वह हतोत्साह हो जाता है। अपने अभ्यास में उसकी रुचि जाती रहती है और वह अपना प्रयत्न शिथिल कर देता है। वह अपनी साधना पूर्णतया त्याग देता है। साधना की प्रभावोत्पादकता में उसका विश्वास नहीं रह जाता। कभी-कभी मन को एक प्रकार की साधना से अरुचि हो जाती है। जैसे मन खाने-पीने तथा अन्य बातों में कुछ विविधता चाहता है उसी प्रकार वह साधना-प्रणाली में भी विविधता चाहता है। वह एक प्रकार की साधना से विद्रोह करता है। ऐसे अवसरों पर मन को फुसलाने तथा मन को थोड़ी छूट दे कर काम निकालने की विधि साधक को जाननी चाहिए। साधना से विराम लेना एक गम्भीर भूल है। कुविचार मानसिक उद्योगशाला के द्वार में पुनः प्रवेश करने के लिए सदा प्रतीक्षा करते रहते हैं। यदि साधक अपनी साधना बन्द कर देता है तो उसका मन शैतान का कारखाना बन जायेगा। किसी चीज की आशा न कीजिए। अपनी दिनचर्या, ध्यान तथा तप में निष्कपट तथा नियमित रहिए। साधना अपनी सँभाल स्वयं कर लेगी। आध्यात्मिक साधना किसी भी दशा में कभी भी नहीं छोड़नी चाहिए। लक्ष्य तक पहुँचने तक साधना बन्द न करें।

साधक अपने साधना-काल में कुछ अनुभव पाता है। वह स्वप्न में ऋषियों, महात्माओं तथा सूक्ष्म जगत् के विविध प्रकार के प्राणियों के अलौकिक दर्शन करता है। वह विविध प्रकार की श्रुतिमधुर अनाहत-ध्वनि सुनता है। वह दिव्य गन्ध सूँघता है। उसे परविचार-ज्ञान, भविष्यवाणी आदि की शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। वह अब मूर्खतावश सोचता है कि वह सर्वोच्च लक्ष्य पर पहुँच गया है और अपनी आगे की साधना बन्द कर देता है। यह भी एक गम्भीर भूल है। उसको मिथ्या तुष्टि मिलती है। अलौकिक दर्शन तथा अनाहत-ध्वनि—ये शुभ लक्षण हैं जो थोड़ी चित्तशुद्धि तथा एकाग्रता के कारण प्रकट होते हैं। ये सब प्रोत्साहन हैं जिन्हें ईश्वर और आगे की प्रगति तथा गम्भीर साधना के लिए प्रलोभन के रूप में प्रदान करता है। इन अनुभवों को प्राप्त कर साधक को विश्वास का बल प्राप्त होता है। यह लक्ष्य नहीं है। साधना चालू रखनी चाहिए।

रसास्वाद एक अन्य प्रकार का अनुभव है। यह निम्नतर सविकल्प-समाधि से मिलने वाला आनन्द है। साधक, जिसने इस अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव किया है, समझ लेता है कि वह चरम लक्ष्य तक पहुँच गया है और अपनी साधना छोड़ देता है। जैसे अत्यधिक मूल्यवान् मणि तथा गुप्त धन की खोज करने वाला व्यक्ति भूमि के ऊपरी धरातल के नीचे प्राप्त तुच्छ वस्तुओं से सन्तुष्ट न हो कर भूमि को बहुत गहराई तक खोदता जाता है वैसे ही साधक को भी रसास्वाद से सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए, वरन् जीवन के परम लक्ष्य असीम भूमा की स्थिति प्राप्त करने तक अपनी साधना चालू रखनी चाहिए। उसे अल्प (निम्नतर) अनुभवों से सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। उसे अपने अनुभवों की तुलना उपनिषदों में वर्णित ऋषियों के उच्चतम अनुभवों से करनी चाहिए और पता लगाना चाहिए कि वे उनके ठीक अनुरूप हैं अथवा नहीं। सातवीं ज्ञान-भूमिका प्राप्त करने तक, ब्रह्मवरिष्ठ बनने तक उसे प्रयास करते रहना चाहिए। आप्तकाम, कृतकृत्य, प्राप्तप्राप्य—मेरी सब कामनाएँ पूर्ण हो गयी हैं, मेरा सब काम पूर्णरूप से पूरा हो गया है, मुझे प्राप्त करने योग्य सभी वस्तुएँ उपलब्ध हो गयी हैं—का आन्तरिक भाव प्राप्त होने तक उसे कठोर सङ्घर्ष करना चाहिए तथा अपनी साधना चालू रखनी चाहिए।

१५. गुरु का अभाव

अध्यात्म-मार्ग पेचीदा, कठिन तथा प्रवण है। यह अन्धकार से आवृत है। इस पथ में एक गुरु की अनिवार्य आवश्यकता होती है जो इस पथ पर पहले चल चुका हो। वह पथ पर प्रकाश डालेंगे तथा साधक की कठिनाइयों को दूर करेंगे। परम्परा से गुरु से शिष्य को अनुक्रम से आत्मज्ञान दिया जाता है। मत्स्येन्द्रनाथ ने निवृत्तिनाथ को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। निवृत्तिनाथ ने ज्ञानदेव को यह ज्ञान बतलाया इत्यादि। गौड़पाद ने गोविन्दपाद को कैवल्य के रहस्य का ज्ञान दिया। गोविन्दपाद ने शङ्कराचार्य को शिक्षा दी, शङ्कराचार्य ने सुरेश्वराचार्य को शिक्षा दी इत्यादि।

अध्यात्म-मार्ग सर्वथा भिन्न मार्ग है। यह स्नातकोत्तर परीक्षा के लिए प्रबन्ध लिखने जैसा नहीं है। प्रत्येक पग पर गुरु की सहायता की आवश्यकता होती है। आजकल नवयुवक साधक अभिमानी, स्वाग्रही तथा उद्धत बन जाते हैं। वे लोग गुरु की आज्ञाओं के पालन करने की चिन्ता नहीं करते। वे गुरु बनाना नहीं चाहते । वे प्रारम्भ से ही स्वतन्त्र रहना चाहते हैं। वे गुरु के चयन में **'नेति-नेति'** सिद्धान्त तथा 'भाग-त्याग-लक्षण' का प्रयोग करते हैं और कहते हैं : **"न गुरुर्न शिष्यः चिन्दानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्।"** वे सोचते हैं कि वे तुरीय-अवस्था में हैं, जबकि उन्हें अध्यात्म अथवा सत् के सरगम का भी ज्ञान नहीं होता। वे स्वेच्छाचारित अथवा मनमानी तथा स्वेच्छा रखने को स्वतन्त्रता समझते हैं। यह एक गम्भीर तथा शोचनीय भूल है। यही कारण है कि वे उन्नति नहीं करते। वे साधना की प्रभावोत्पादकता तथा भगवान् के अस्तित्व में विश्वास खो बैठते हैं। वे काश्मीर से गङ्गोत्तरी और गङ्गोत्तरी से रामेश्वरम् तक निरुद्देश्य अलमस्त घूमा करते हैं और मार्ग में पञ्चदशी, विचार-सागर तथा गीता से उद्धरण दे कर कुछ अनाप-शनाप बकते रहते हैं। वे जीवन्मुक्त होने का ढोंग रचते हैं।

जो गुरु के पथ-प्रदर्शन में चिर काल तक रहता तथा उनके उपदेशों का निर्विवाद पालन करता है, वह अध्यात्म-पथ पर निस्सन्देह उन्नति कर सकता है। आध्यात्मिक प्रगति का इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। जब तक यह संसार है, तब तक गुरु तथा शास्त्र रहेंगे। यदि आपको कोई आदर्श गुरु नहीं मिलता तो किसी ऐसे व्यक्ति को अपना गुरु मान सकते हैं जो कुछ वर्षों से आत्मसाक्षात्कार के मार्ग पर चल रहा हो, ऋजु तथा सत्यनिष्ठ हो, निस्स्वार्थ हो, जो अभिमान तथा अहङ्कार से रहित हो, जो सच्चरित्रवान् तथा शास्त्रज्ञ हो। उसके साथ कुछ समय तक रहिए। उसको ध्यान से देखिए। यदि आप उससे सन्तुष्ट हैं तो उसे अपना गुरु बना लीजिए तथा अतिनियमनिष्ठा से उसके उपदेशों का अनुसरण कीजिए। एक बार उसे गुरु स्वीकार कर लेने के पश्चात् उस पर कभी सन्देह न कीजिए और न उसमें दोष निकालिए। गुरु को बार-बार बदलते न रहिए, आप किङ्कर्तव्यविमूढ़ बन जायेंगे। आपको विविध परस्पर विरोधी विचार प्राप्त होंगे। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी-अपनी साधना होती है। यदि आप अपनी साधना-प्रणाली को प्रायः बदलते रहेंगे तो आपकी कोई प्रगति नहीं होगी। एक ही गुरु के साथ लगे रहें और उनके उपदेशों का पालन करें।

१६. भय

यह क्षुद्र अहं ही वह धुरी है जिस पर भय, क्रोध, भ्रान्ति, कामनाएँ आदि अनादि काल से परिभ्रमण कर रहे हैं। जब तक आप इस क्षुद्र अहं का, जो इस अस्थि-मांसमय पार्थिव शरीर से चिपका रहता है, पूर्णतः उन्मूलन नहीं करते तब तक इस भय से छुटकारा पाने की रञ्चमात्र भी आशा नहीं है।

भय माया का धोखा है। यह मानसिक सृष्टि है। यह काल्पनिक शून्य है। यह अज्ञान का परिणाम है। यह चित्त-वृत्ति है जो व्यक्ति की विचार-शक्ति के नष्ट होने पर प्रकट होती है। यह काली ऊर्मि है जो व्यक्ति के अन्तःकरण से उस समय निर्गत होती है जब उसमें शरीर के प्रति अत्यधिक आसक्ति हो। यह मन का परिणाम है जब व्यक्ति मन के साथ तादात्म्य करता है और अपने को कहता है : "मैं अमुक व्यक्ति हूँ।" इस क्षुद्र अहं के प्रकट होने पर मोह आता है और उससे भय आता है। भय मोह की उपज है।

भले ही व्यक्ति करोड़पति हो अथवा इस सम्पूर्ण विश्व का सम्राट् हो, किन्तु यदि वह भय का शिकार है तो वह इस संसार में सुख की आशा कैसे कर सकता है ! भय एक प्रकार की अग्नि है जो मनुष्य को धीरे-धीरे जला डालती है। कुछ लोग गुप्त भय के कारण जीवन में उन्नति नहीं कर पाते हैं। वे कुछ गुप्त भय के कारण अवसर का लाभ नहीं उठाते। यदि वे ऐसे अवसर का लाभ उठायें तो उनका जीवन कहीं अधिक श्रेष्ठ तथा सद्भावपूर्ण बन जाये।

प्रायः सभी व्यक्ति भय के शिकार हैं। कुछ लोग रोग, अस्वस्थता, सम्पत्ति की क्षति, जरा तथा मृत्यु से भयभीत रहते हैं। दूसरे लोगों को अपने पद, प्रतिष्ठा, आदर, सम्मान तथा वर्ग के चले जाने का भय रहता है। अन्य कुछ लोग लोकमत, आलोचना, अपयश, मिथ्यापवाद तथा लोकनिन्दा से भयभीत रहते हैं। जिनमें परावलम्बन की मनोवृत्ति होती है वे अपने प्रिय सम्बन्धियों के गम्भीर रूप से रुग्ण होने पर अत्यधिक भय-ग्रस्त हो जाते हैं। कुछ लोग निर्धनता तथा महाविपदा के आने की आशङ्का से भयभीत रहते हैं। कुछ लोग तो ऐसे हैं जिन्हें रात को बिल्ली से भी भय लगता है। यदि कोई रात्रि को द्वार खटखटाये तो कुछ लोग अत्यधिक सन्त्रस्त हो उठते हैं। माया कभी भी किसी को भय से मुक्त नहीं रहने देती।

विद्यार्थी को अपने शिक्षक का भय रहता है। मन्त्री को अपने राजा का भय रहता है। स्त्री को अपने पति का भय रहता है। एक प्रभावशाली व्यक्ति को दूसरे प्रभावशाली व्यक्ति का भय रहता है। चोर को पुलिस का भय रहता है। साहूकार को डाकुओं का भय रहता है। अत्यन्त स्वस्थ तथा बलवान् व्यक्ति भी कुछ काल्पनिक रोगों से भयभीत रहता है। लोग स्वप्न में भी अत्यधिक भय से पीड़ित रहते हैं। भर्तृहरि क्या कहते हैं, उसे सुनिए :

"भोग में रोग का भय, कुल में पतन का भय, धन-सम्पत्ति में राजा का भय, सम्मान में अपमान का भय, बल में शत्रुओं का भय, रूप में जरावस्था का भय, विद्या में प्रतिवादी का भय, गुण में मिथ्यापवाद का भय तथा शरीर में मृत्यु का भय बना रहता है। संसार की सभी वस्तुओं में भय है। एकमात्र त्याग में कोई भय नहीं है।"

भय शीघ्र ही शक्ति का शोषण कर लेता है। यह जीवन-शक्ति को नष्ट कर डालता है। यह रक्तक्षीणता, अपच, शिर-वेदना तथा निर्बलता उत्पन्न करता तथा मस्तिष्क और स्नायुओं को स्तम्भित करता है। यह व्यक्ति को उदास तथा विषण्ण बनाता और उसके विकास, संरचना तथा पोषण को मन्द करता है। अत्यधिक भय हृद्पात करता है जिससे तत्काल मृत्यु हो जाती है। जब किसी व्यक्ति की वन में चीते के आमने-सामने भेंट हो जाती है, तो उसका शरीर कठोर और स्तम्भित तथा मस्तिष्क काष्ठ के कुन्दे के समान हो जाता है, सोचने तथा तर्क करने की शक्ति लुप्त हो जाती है। भय का शिकार बना व्यक्ति मूक रह जाता है।

हो सकता है कि एक व्यक्ति शल्य-चिकित्सक के चाकू से न डरे। एक व्यक्ति बिना कोकेन इञ्जेक्सन के अपने मजबूत दाँत निष्कर्षण के लिए अथवा अचेत किये बिना किसी प्रकार की शल्य-क्रिया के लिए अपने को प्रस्तुत करे। एक व्यक्ति को घने अरण्य में वन्य पशुओं का कोई भय न हो। वह घने जङ्गलों में निर्भयता से इधर-उधर विचरण करे। एक व्यक्ति युद्ध-क्षेत्र में यन्त्र-तोप से भयभीत न हो। वह गोलियों के लिए अपना वक्षस्थल निर्भयतापूर्वक अनावृत कर दे। किन्तु हो सकता है ऐसा निर्भीक व्यक्ति भी सामान्य-सी लोक-आलोचना से, साधारण रोग से अथवा शतपदी या सर्प को देख कर भयभीत हो जाये।

भय के निवारण में आत्म-सुझाव आपकी प्रचुर सहायता करेगा। आप साहस का विकास करके भय को नष्ट कर सकते हैं। प्रार्थना कीजिए और पूर्ण आत्म-समर्पण कीजिए। इस शरीर से कोई आसक्ति न रखिए। इसे वैसे ही छोड़ दीजिए जैसे सर्प अपने विमोक को छोड़ता है। शरीर को किसी भी क्षण त्यागने का निश्चय कर लीजिए। अभय जीवन्मुक्त का एक प्रमुख लक्षण है। कितने भाग्यशाली हैं वे जिन्होंने भय पर विजय प्राप्त कर ली है। कितने शान्त तथा बलवान् हैं वे जिन्होंने आतङ्क को पराभूत कर दिया है।

१७. क्रोध

क्रोध एक अन्य मुख्य बाधा है। यह रजोगुण से उत्पन्न होता है। यह शान्ति का सबसे बड़ा शत्रु है। यह काम का ही रूपान्तरण है। जब व्यक्ति की कामना की पूर्ति नहीं होती तो वह क्रोधित हो उठता है। उसका मन चकरा जाता है। वह अपनी स्मृति तथा सूझबूझ खो बैठता है। अमर्ष, रोष, प्रकोप, क्रोधोन्माद—ये सब प्रगाढ़ता के अनुसार क्रोध के ही प्रभेद हैं। क्षमा, धैर्य, प्रेम तथा निरभिमानता के अभ्यास द्वारा क्रोध पर विजय पाइए। क्रोध आने पर थोड़ा शीतल जल पी लीजिए। इससे मस्तिष्क शीतल होगा तथा उत्तेजित स्नायु शान्त होंगे। 'ॐ शान्ति' को अनेक बार दोहरायें। धीरे-धीरे एक-एक कर बीस तक गिनें। बीस की गिनती पूरी होने पर क्रोध विलीन हो जायेगा। यदि क्रोध पर नियन्त्रण पाना कठिन प्रतीत हो तो तुरन्त ही वह स्थान छोड़ दीजिए और आधे घण्टे तक लम्बी सैर कर आइए। ईश्वर से प्रार्थना कीजिए। जप कीजिए। ध्यान कीजिए। ध्यान क्रोध तथा अन्य बाधाओं को नष्ट करने के लिए अत्यधिक शक्ति प्रदान करता है।

मोह से काम का उद्भव होता है। उससे क्रोध प्रकट होता है। क्रोध से लोभ, अभिमान, ईर्ष्या, घृणा, पूर्वाग्रह, कट्टरता, छिद्रान्वेषण, पिशुनता, मिथ्याचार आदि अन्य सभी दुर्गुण उत्पन्न होते हैं।

मनुष्य कीर्ति, प्रतिष्ठा तथा प्रशंसा के लिए पिपासु बना रहता है। उपन्यायाधीश उच्च न्यायालय का न्यायाधीश बनना चाहता है। साधु अलौकिक सिद्धियाँ चाहता है। संन्यासी विभिन्न देशों में अनेक आश्रम खोलना चाहता है। ये सब लोभ के ही रूप हैं। नापसन्दगी, तिरस्कार, पक्षपात, अवज्ञा, ताना मारना, खिल्ली उड़ाना, उपहास करना, भौंहें चढ़ाना, मुँह बनाना—ये सब घृणा के ही रूप हैं। यदि किसी का पिता एक व्यक्ति को पसन्द नहीं करता तो उसके पुत्र तथा पुत्रियाँ भी उस व्यक्ति से अकारण ही द्वेष करने लगते हैं। द्वेष की शक्ति ही ऐसी है। अँगरेज आयरलैण्ड के निवासी से द्वेष करता है, कैथोलिक प्रोटेस्टैण्ट से द्वेष करता है, मुसलमान हिन्दू से द्वेष करता है और हिन्दू मुसलमान से। पुत्र अपने पिता के विरुद्ध मुकदमा दायर करता है। पत्नी अपने पति को तलाक दे देती है। ये सब द्वेष के ही प्रकटन हैं जिनके पीछे स्वार्थ-भावना छिपी रहती है।

द्वेष के द्वारा द्वेष समाप्त नहीं होता, अपितु प्रेम के द्वारा वह समाप्त हो जाता है। यह विभिन्न दिशाओं में छिपा रहता है। द्वेष को विदूरित करने के लिए चिर काल तक उग्र तथा अनवरत ध्यान तथा निष्काम सेवा की आवश्यकता होती है। दैनिक जीवन में वेदान्त का अभ्यास तथा आत्मभाव से की गयी सेवा से द्वेष तथा

अन्य सभी दुर्गुणों का उन्मूलन कर सकते हैं तथा जीवन की एकता का अद्वैतिक बोध कर सकते हैं।

मैंने अनेक स्थानों पर आपको बतलाया है कि इन दुर्गुणों को पूर्णतया नष्ट करना चाहिए। इन सबको नष्ट करने के अनेक निर्देश भी दिये जा चुके हैं। यदि आपको आध्यात्मिक प्रगति अभीष्ट है तो आपको इन सबको विदूरित करना चाहिए। ये सब आत्मसाक्षात्कार के पथ में बाधाएँ हैं। एक निर्भीक आध्यात्मिक सैनिक की भाँति आध्यात्मिक युद्धक्षेत्र में उठ खड़े हों और इन शत्रुओं का संहार करें। एक आध्यात्मिक सूर बनें। एक-एक कर सभी बाधाओं पर विजय प्राप्त करें तथा दिव्य महिमा, वैभव, शुचिता तथा पुनीतता प्रदर्शित करें।

१८. संस्कारों का प्राबल्य

कुछ समय पूर्व त्रिचिनापल्ली जिले के एक बड़े व्यावसायिक नगर करूर में एक पूर्ण राजयोगी सदाशिव ब्रह्म निवास करते थे। वे इतने प्रख्यात थे जितने कि वाराणसी के त्रिलिङ्ग स्वामी। वे छः महीने तक समाधि में बैठा करते थे। वे बहुत बड़े तितिक्षाशील तथा वैराग्यवान् योगी थे। वे केवल एक कौपीन पहनते तथा खुली भूमि पर सोते थे। एक बार कावेरी नदी में भारी बाढ़ आयी। सदाशिव ब्रह्म, जो समाधिस्थ थे, बाढ़ के पानी के बहाव में आ कर अन्यत्र जा पहुँचे। एक दिन वे खुली भूमि पर लेटे हुए थे। उनके शिर के नीचे दो ईंटों की तकिया थी। कुछ बालक जो गायें चरा रहे थे उनकी हँसी उड़ाते हुए बोले : "इस महात्मा को तो देखो! यह पहनता तो कौपीन मात्र है, तथापि इसे सुख-सुविधा चाहिए। शिर के नीचे रखने के लिए तकिया अवश्य चाहिए। क्या यह बिना तकिये के लेट नहीं सकता?" इस छोटे से शब्द ने उनके मन को आन्दोलित कर दिया। यह बात उन्हें लग गयी। उन्होंने तत्काल दोनों ईंटें फेंक दीं।

इससे पता चलता है कि उच्च योगी भी, जो महीनों तक समाधि में रह सकते हैं, निन्दा तथा स्तुति से प्रभावित हो सकते हैं। संस्कारों का इतना प्राबल्य है। अविस्मरणीय काल से ही निन्दा-स्तुति व्यक्ति के मानस पर हर्ष तथा विषाद के प्रभाव छोड़ते रहे हैं। एक बार याज्ञवल्क्य ने एक व्यक्ति को मृत्यु का शाप दिया। कहा जाता है कि ब्रह्मज्ञानी होने पर भी उनके हृदय में क्रोध का लवलेश था तथा जैसा कि जनक के दरबार में उनकी उपस्थिति से प्रकट है, उनमें धन तथा पशु की सूक्ष्म कामना थी। कहते हैं कि ज्ञानी में राग, द्वेष, क्रोध आदि का लवलेश रहता है; परन्तु यह आभास मात्र है, बराये नाम है। ज्ञानियों में जो रागद्वेषादि की ईषत् मात्रा है, वह बच्चों के तुल्य है अर्थात् क्षणिक और अस्थायी

है, जबकि संसारियों के हृदय में जो रागद्वेषादि विराजते हैं, वे बहुत रूढ़ और स्थायी होते हैं। ज्ञानी तुरन्त ही विस्मृत कर देता है; किन्तु सांसारिक व्यक्ति उसे सुदीर्घकाल तक अपने अन्तःकरण में बनाये रखता है। ज्ञानी के मन में उत्पन्न क्रोध के संस्कार की तुलना जल पर छड़ी से खींची गयी लकीर से की जा सकती है। यह तत्काल मिट जाती है। लहर शीघ्र ही शान्त हो जाती है।

हमारे दैनिक जीवन में अधिकांश कठिनाइयाँ इसलिए आती हैं कि हम अपने मन को ठीक से नियन्त्रित नहीं रख पाते। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति हमारा बुरा करता है तो हम तत्काल प्रतिक्रिया-स्वरूप उसकी बुराई करना, प्रतिशोध लेना, ईंट का जवाब पत्थर से देना चाहते हैं। किसी के प्रति दुर्भावना से यह प्रकट है कि हम अपने मन को वश में नहीं कर सके हैं। घृणा अथवा दुर्भावना के रूप में प्रत्येक प्रतिक्रिया मानसिक शक्ति को क्षीण करती है और इनका अवरोध हमारे पक्ष में होता है। इस प्रकार के नियन्त्रण से हमारी कोई क्षति नहीं होती, वरन् इससे अमित लाभ ही होता है। प्रत्येक बार घृणा अथवा क्रोध की भावना का जितना अधिक दमन किया जाता है उतना ही अधिक लाभ होता है। शक्ति हमारे हित में एकत्रित होती है और वह उच्चतर शक्ति में परिणत हो जाती है। क्रोध को यदि भली-भाँति नियत्रित कर लिया जाये तो वह ऐसी प्रभावशाली शक्ति में रूपान्तरित हो जाता है जो विश्व को हिला सकती है।

संस्कार सामष्टिक रूप में सदा मन में निवास करते हैं। ये प्रसुप्त अवस्था में मन के अन्दर पड़े रहते हैं और अनुकूल उद्दीपन पाते ही प्रकट हो जाते हैं। चित्त-स्पन्दन प्रत्येक साक्षात् विषयानुभव के पश्चात् बाहर से शान्त हो जाते हैं; किन्तु अन्दर वे आणविक स्पन्दनों की भाँति चलते रहते हैं और जब उन्हें ठीक प्रकार से प्रेरणा मिलती है, तब पुनः प्रकट हो जाते हैं।

किसी ने हमारे प्रति एक शब्द कहा कि हम कुछ सोचने-विचारने से पहले निर्णय पर कूद जाते हैं। यह कमजोरी का लक्षण है। जो व्यक्ति जितना ही कमजोर होता है उतना ही उसमें संयम कम होता है। सदा संयम के मापदण्ड से अपने को मापिए।

किसी समाचार को सुन कर आप दुःखी होते हैं अथवा क्रोधित हो उठते हैं, इससे पूर्व सोचिए कि इसने आपके मन को ऐसी वृत्तियों में कैसे डाल दिया है। मानसिक संयम एक-दो दिन में नहीं आ जाता। इसके लिए निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता है। मान लीजिए, आप बाजार से हो कर जा रहे हैं। इस समय कोई व्यक्ति आ कर आपके हाथ की सुन्दर छड़ी बलपूर्वक छीन कर ले जाता है। इससे आपके चित्त में क्रोध की वृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इस वृत्ति को विकसित न होने दें। यदि आप इस

वृत्ति के उद्भव को रोकने में समर्थ हैं तो आपकी सङ्कल्प-शक्ति बलवान् है, आपमें त्याग तथा वैराग्य हैं।

१९. संस्कार-रक्षा

अपने पूर्व-जन्मों के सुकृतों द्वारा अर्जित पुण्य कर्मों के फलस्वरूप आपने जो चित्त-शुद्धि प्राप्त की है, तदनुसार वेदों को आप सत्यज्ञान का स्रोत मानते हैं और आप अपने परम लक्ष्य को ज्ञान द्वारा प्राप्त करने के लिए आतुर हैं, फिर भी सुप्त विषयों के संस्कारवशात् विषय-सुखों के लिए इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं। सांसारिक भोगासक्ति सत्य की प्राप्ति में अवरोध है; अतः समुचित विवेक, विचार तथा सुनिर्दिष्ट कठोर साधना द्वारा इसका निराकरण करना चाहिए। कुछ महीनों तक आप बन्द कमरे में रहते हैं तो आपकी धारणा तथा ध्यान की शक्ति बढ़ जाती है। अकस्मात् कोई बाधा खड़ी हो जाती है और आपके ध्यान में गड़बड़ी आ जाती है। एक प्रकार से आपके मित्र ही आपके वास्तविक शत्रु हैं। वे किसी-न-किसी काम से आपको संसार में घसीट लाते हैं। आप नैतिक भावनाओं से बलात् खिंचे चले जाते हैं। यह अप्रतिरोध्य है। निश्चय ही यह अवश्यम्भावी है। इसे आप एक प्रकार की कमजोरी कह सकते हैं। अपने किसी घनिष्ठ मित्र को प्रसन्न करने के लिए अपने आदर्शों की बलि देना प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता है। इन सांसारिक व्यक्तियों से मिलने-जुलने के कारण आपके नये आध्यात्मिक संस्कार मिट जायेंगे, अभिलुप्त हो जायेंगे और दोगुने बल से साधना करने के बावजूद भी पूर्व-स्थिति को पुनः प्राप्त करना आपके लिए अत्यधिक कठिन हो जायेगा।

२०. मिलने-जुलने में हानि

संसारी लोगों से मिलना-जुलना साधक के लिए बहुत ही अनर्थकारी है। दोनों की विचारधाराएँ सर्वथा विपरीत हैं। संसारी व्यक्ति तथा साधक की गति विपरीत ध्रुवों की दिशा में होती है। संसारी व्यक्ति बातचीत करने का शौकीन होता है। वह बातूनी होता है। वह जिह्वा के अतिसार से पीड़ित होता है। गपशप, व्यर्थ की बातें, लम्बी बातें, बड़ी बातें, ऊँची बातें, ये सब उसे सुख प्रदान करती हैं, जबकि साधक मितभाषी होता है। वह प्रसङ्ग के अनुसार बोलता है और वह भी आध्यात्मिक विषय पर ही। संसारी बातों में उसे कोई रुचि नहीं होती। इसके विपरीत उनसे उसे तीव्र पीड़ा होती है। दोनों की चिन्तन-विधि भी परस्पर भिन्न होती है। सांसारिक व्यक्ति के चिन्तन के विषय पत्नी, सन्तान, धन सञ्चित करने के उपाय तथा ऐन्द्रिक सुखों के साधन होते हैं। उसका चिन्तन बहुत ही उथला होता है। साधक का उदात्त चिन्तन ब्रह्मविषयक होता है। सांसारिक व्यक्ति सदा स्वार्थपूर्ण उद्देश्य से कार्य करता है,

जबकि साधक समग्र संसार को अपना स्वरूप समझ कर निस्स्वार्थ भाव से सब-कुछ करता है। संसारी व्यक्ति के पास सौ रुपये हों तो वह सदा उन्हें भविष्य के लिए बचा कर रखने की सोचता है, जबकि साधक सारा धन उसी दिन व्यय कर डालता है। एक संसारी व्यक्ति जटिलता तथा बहुलता वाला व्यक्ति है, जबकि साधक सरल व्यक्ति होता है। संसारी व्यक्ति सङ्गति खोजता है, जबकि साधक सर्वथा एकान्त पसन्द करता है। आपको सदा एकाकी रहना चाहिए। यह परमावश्यक है। मुझे इसे पुनः दोहराना पड़ रहा है कि यह एक अपरिहार्य आवश्यकता है। मुझे पुनः बलपूर्वक कहना पड़ रहा है कि एकान्त एक अनिवार्य शर्त है। मुझे आपके मन में यह बात बिठा देनी है कि एकान्तवास साधना की एक महान् माँग है।

"एकाकीपन! तेरी मनोहरता कहाँ है?" यह एक कवि की भावाभिव्यक्ति है, महत्ता तथा सौन्दर्य का भाव है, जब वह प्रकृति के साथ एक हो चला था। यदि एक बार आपने एकान्त का गहनतम सुख भली प्रकार प्राप्त कर लिया तो इसके बिना आप नहीं रह सकते। जिनमें विषय-संस्कारों की प्रबलता होती है, वे ही निरंकुश तितली की भाँति वृन्दावन से वाराणसी तथा वाराणसी से जगन्नाथपुरी इतस्ततः घूमते-फिरते हैं। स्वर्गाश्रम, ऋषिकेश तथा उत्तरकाशी जैसे एकान्त स्थानों का अपना ही सौन्दर्य है। यह अवर्णनीय है। यह सूक्ष्म निदिध्यासन-बुद्धि से ही जाना तथा अनुभव किया जा सकता है। स्थूल, सांसारिक व्यावहारिक बुद्धि कभी भी ऐसे उत्कृष्ट स्थानों के, सन्तों तथा ऋषियों के श्रेष्ठ वास-स्थानों के सौन्दर्य तथा शान्ति के भेद की पहचान नहीं कर सकती है और न समझ सकती है। इन स्थलों में विद्यमान आध्यात्मिक स्पन्दन ही व्यक्ति को समाधि में पहुँचा देते हैं। उसे कोई साधना नहीं करनी होती। हिमालय के स्पन्दन, पावनी गङ्गा का शामक तथा आत्मोन्नतकारी प्रभाव कट्टर नास्तिक को भी आस्तिक बना देते हैं। इन स्थानों में तीन माह तक रहिए तथा एकान्तवास के आकर्षण, उत्कर्ष तथा हितकर प्रभाव को अनुभव कीजिए।

अब विषय की ओर वापस मुड़ते हैं। संसार में विकास के विभिन्न चरणों वाले मन हैं। अनेक प्रकृति के लोग हैं। मनों में विविधता है। मन में दो प्रकार की धाराएँ हैं : आकर्षण तथा विकर्षण। जब आप विभिन्न प्रकार की प्रकृति वाले मनुष्यों से मिलते हैं तो कुछ लोगों के प्रति आकर्षित और कुछ के प्रति विकर्षित होते हैं। दूसरे, एक ईर्ष्या की धारा भी है। अभ्यास की प्रारम्भिक अवस्था में जब आप उच्चतर सद्गुणों से सम्पन्न व्यक्ति को देखेंगे तो आप स्वभावतः ही उससे प्रभावित होंगे। ये विरोधी धाराएँ अहितकारी हैं; क्योंकि ये मन की शान्ति को भङ्ग कर देती हैं। इससे ध्यान को क्षति पहुँचती है। और भी, जब आप लोगों से मिलते-जुलते हैं तो आपको बहुत अधिक बातचीत करनी होती है। आपको बात करने को विवश होना पड़ता है जिसका अर्थ है

शक्ति का अपव्यय। साधक को अपनी सारी शक्ति का बड़ी सावधानीपूर्वक संरक्षण करना चाहिए। पूर्ण प्रत्याहार के द्वारा शक्ति के अपव्यय के सभी द्वार पूर्णतः बन्द कर देने चाहिए। तीसरे, यदि आप अपनी रक्षा करना नहीं जानते को आपका मूल्यवान् प्राण दूसरे व्यक्ति के पास चला जायेगा। आपकी चुम्बकीय शक्ति, मानसिक शक्ति तथा प्राणिक शक्ति दूसरे कमजोर व्यक्ति के पास चली जायेंगी। इसे रक्तशोषण कहते हैं। इसमें प्राण का पर्याप्त अपक्षय होता है। आपको एक शक्ति-कवच विकसित कर अपनी रक्षा करने की विधि मालूम होनी चाहिए। आम के छोटे पौधे की प्रारम्भ में बाड़ से भली-भाँति रक्षा करनी होती है। थोड़ा-बहुत घास-फूस एकत्र करके जो हलकी अग्नि प्रज्वलित की गयी हो, उसमें यदि अकस्मात् एक बड़ा कुन्दा घुसेड़ दें तो वह निश्चय ही बुझ जायेगी। आप अपनी साधनावस्था में आम के छोटे पौधे या हल्की अग्नि की भाँति हैं। आप संसार की विरोधी धारा का सामना कैसे कर सकते हैं? आपने कठोर साधना के द्वारा पाँच वर्ष में जो-कुछ प्राप्त किया है, उसे आप सांसारिक व्यक्तियों से अन्धाधुन्ध मिलने के कारण एक माह में ही पुनरलभ्य रूप से गँवा बैठेंगे। अनेक साधकों ने यह शिकायत की है कि एकान्तवास-काल में जितनी धारणा-शक्ति उनमें थी वह लोगों से मिलने-जुलने के कारण नहीं रही और अब वे उस अवस्था को नहीं प्राप्त कर सकते हैं।

पाँच-छः वर्ष के एकान्तवास से पूर्व आपको संसार में प्रवेश नहीं करना चाहिए। आप अपनी जाँच कर लें कि संसार में प्रवेश करने पर आप कैसे निर्मल रहते हैं। यदि आप सर्वथा अप्रभावित रहते हैं, यदि आप अपने मन का सन्तुलन निरन्तर बनाये रखते हैं, यदि आप आत्मा में विश्राम करते हैं तो आप संसार में विचरण कर सकते हैं। अन्यथा एकान्त में कुछ समय तक और प्रतीक्षा करें तथा अपनी साधना चालू रखें।

ऐसे व्यक्तियों से प्रतिदिन एक घण्टा मिलने में कोई हानि नहीं है जिनका स्वभाव अनुकूल हो, जो ध्यान, स्वाध्याय तथा अन्य आध्यात्मिक प्रवृत्तियों में निष्ठावान् हों तथा जिनकी सङ्गति में आप सुख तथा विचारोन्नति पाते हों। आप विविध गूढ़ तथा दार्शनिक विषयों पर उनसे चर्चा कर सकते हैं। यह आपके लिए लाभदायक होगा। आप समाधि में प्रवेश करने वाले उच्चतर आध्यात्मिक व्यक्तियों की सङ्गति में रह सकते हैं। उनका सङ्ग अत्यधिक लाभदायी है। आपका अन्तःकरण ही अन्दर से स्पष्ट बतलायेगा कि अमुक व्यक्ति की सङ्गति उन्नतकारी है और अमुक व्यक्ति की सङ्गति निराशाजनक है। यदि आपको यह ज्ञात हो जाये कि अमुक व्यक्ति की सङ्गति विषादजनक है तो उसी क्षण से उससे दूर रहें।

मैं ऐसे अनेक व्यक्तियों को जानता हूँ जिनका अविवेकपूर्ण तथा अन्धाधुन्ध मिलने के कारण अपने उच्च आध्यात्मिक पद से भयङ्कर पतन हुआ। उन्होंने बिना अपनी जाँच

किये जल्दी ही संसार में प्रवेश किया जिससे वे सांसारिक मनुष्यों से भी निम्नतर स्थिति को प्राप्त हुए। पुराने कुसंस्कार आपको कुचल डालने के अवसर की प्रतीक्षा में रहते हैं। सारी पुरानी वासनाएँ वापस आती हैं और आप पर बहुत बड़ी शक्ति से आक्रमण करती हैं। पतन-काल में तृष्णा प्रबल तथा तीव्र हो उठती है। उस स्थिति से पुनः ऊपर उठना आपके लिए कठिन हो जायेगा।

अपने संस्कारों की सदा रक्षा कीजिए। उन्हें मिटने न दें। खोये की पुनर्प्राप्ति कठिन होती है। सदा विचार तथा विवेक का प्रयोग करें। दुष्प्रभावों का प्रतिरोध करने के लिए अपनी सङ्कल्प-शक्ति का उपयोग करें। इन्द्रियों को सदा वश में रखें। पूर्ण वैराग्य रखें। मन्द वैराग्य से कोई लाभ नहीं है। यह तीव्र तथा तीव्रतर होना चाहिए। यदि आप इन्द्रियों को अनियन्त्रित होने दें तो विवेक तथा आध्यात्मिक संस्कार नष्ट हो जायेंगे। एकान्त में रहें। मिलें-जुलें नहीं। मौन धारण करें। आप पूर्ण सुरक्षित रहेंगे। आप खतरे के क्षेत्र से बहुत दूर रहेंगे। जब आप सिद्ध बन जायें तो संसार में प्रवेश करें और मानव का उत्थान करें।

श्री अरविन्द घोष ने पाण्डिचेरी में एक कमरे में कई वर्षों तक अपने को बन्द रखा। वे एक दिन टहलने के लिए भी कभी कमरे से बाहर नहीं आये। यह सत्य है। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। उनके भाई श्री भरीन्द्र, एम॰ ए॰ ने, जो एक उन्नत योगी थे, अपने को कुछ वर्षों तक एक कमरे में बन्द रखा था। महात्मा कृष्ण आश्रम गङ्गोत्तरी के निकट धराली ग्राम में काष्ठ मौन रख कर अनेक वर्षों तक एकान्तवास में रहे। भगवान् बुद्ध छः वर्ष तक उरुवला वन में छिपे रहे। प्रभु ईसामसीह (अज्ञातवास की अवधि में) अठारह वर्ष तक एकान्त में रहे। स्वामी रामतीर्थ ऋषिकेश के निकट ब्रह्मपुरी में कुछ वर्षों तक एकान्त में रहे। आप भी एक विश्वविख्यात ईसा अथवा बुद्ध क्यों नहीं बनते?

प्रत्येक कार्य धीरे-धीरे करना चाहिए। जो व्यक्ति अब तक संसार में रहता आया है, उसके लिए अपने को एक कमरे में पूर्णतया बन्द कर लेना और साथ ही मौन भी रखना बहुत ही कठिन है। यह नौसिखिए के लिए बहुत ही कष्टप्रद तथा दुःखदायक है। उसे अपने को धीरे-धीरे प्रशिक्षित करना चाहिए। उसे सप्ताह में एक बार मौन रख कर और कुछ घण्टों तक कमरे में रह कर अपने मन को शनैः-शनैः प्रशिक्षित करना चाहिए। उसे सायङ्काल को गङ्गा अथवा समुद्र-तट अथवा किसी उपयुक्त स्थान में टहलना चाहिए। साधु के लिए शुद्ध वायु, स्फूर्तिदायक शीतल जल से स्नान, सन्ध्याकालीन सैर तथा संयत व्यायाम बहुत ही आवश्यक हैं। वह दूध, घी आदि का व्यय-भार नहीं उठा सकता है; अतः उसे अनेक प्रकार से प्रकृति की सहायता पर निर्भर रहना पड़ता है। पूरे साधनाकाल में प्रखर सहज बुद्धि का उपयोग करना चाहिए।

दो-तीन वर्षों के पश्चात् आप दिन-भर बन्द कमरे में अकेले रह सकेंगे। क्योंकि आप अब मनन तथा निदिध्यासन की विधि जान गये हैं; अतः आप छः घण्टे ध्यान में और छः घण्टे स्वाध्याय में व्यतीत कर सकते हैं। मन ने अब अपने को नये जीवन के अनुकूल अच्छी तरह ढाल लिया है। अब कोई परेशानी न होगी। आप सदा अकेले रहने में आह्लादित होते हैं। एक दिन के लिए भी शान्ति भङ्ग होने देना नहीं चाहते हैं। आप एकान्तवास के शान्ति तथा आनन्द को खोना नहीं चाहते हैं। आप अब अपनी सहायता, बल तथा सुख के लिए अन्तर्स्थित आत्मा पर निर्भर करते हैं, बाहर नहीं। अब आपको पूरी जानकारी है कि सभी ज्ञान अन्दर से आता है। अब आप एक परिवर्तित व्यक्ति हो गये हैं। आपकी मनोवृत्ति बदल गयी है। सांसारिक प्रकृति वाले व्यक्ति आपकी रूपान्तरित प्रकृति को सम्यक् रूप से समझ नहीं सकते हैं।

२१. प्रतिपक्ष-भावना

दुर्वृत्तियाँ हमारी प्रकृति में बहुत गहराई में अन्तःस्थापित होती हैं। अतः उनके निष्कासन के लिए बहुत ही ओजस्वी प्रयास की आवश्यकता है और उनके निष्कासन का एकमात्र उपाय है उनके स्थान में उच्चतर मनोदशा तथा विरोधी सद्वृत्तियों को प्रतिस्थापित करना। एक बुरी आदत अथवा बुरे विचार अथवा बुरे कर्म का स्थान अच्छी आदत को—उस आदत को जो उस आदत की सीधी विरोधी हो जिससे आप छुटकारा पाना चाहते हैं—दे कर अधिक सुगमता से उसका उन्मूलन किया जा सकता है। एक बुरी आदत को जड़-मूल से उखाड़ फेंकने के लिए प्रायः अतिमानवीय सङ्कल्प-शक्ति की आवश्यकता होती है; किन्तु उसके स्थान में एक अच्छी आदत को पोषण दे कर उसको निष्कासित करना कहीं अधिक सरल होता है और यही प्रकृति की योजना भी प्रतीत होती है। अच्छी आदत बुरी आदत को धीरे-धीरे घेरती जाती है यहाँ तक कि उसका रहना असम्भव हो जाता है और अन्तिम सङ्घर्ष के पश्चात् वह समाप्त हो जाती है। यह अवाञ्छित आदतों तथा लक्षणों को निर्मूल करने की सरलतम विधि है। असद् विचारों तथा असद् कर्मों का प्रतिकार उदात्त विचारों तथा पुण्य कार्यों से किया जा सकता है।

प्रेम शाश्वत तथा प्राकृतिक है। घृणा क्षणिक तथा विकार है। साहस एक नैतिक गुण है। वह शाश्वत तथा प्राकृतिक है। भय क्षणिक तथा विकार है। दया एक नैतिक गुण है। यह शाश्वत तथा प्राकृतिक है। घृणा अप्राकृतिक है। घृणा को प्रेम की प्रतिपक्ष-भावना द्वारा नियन्त्रित किया जा सकता है। सदा व्यक्ति के शुभ पक्ष को देखिए। बारम्बार प्रयत्न करके अपने मन को इस दिशा में शनैः-शनैः प्रशिक्षित कीजिए। हो सकता है कि आप इस प्रयास में पचास बार असफल रहें, किन्तु इक्यावनवें प्रयास में आप सफल होंगे। यह निश्चित तथा असन्दिग्ध है। राजसिक मन

की स्वाभाविक प्रवृत्ति व्यक्ति को दोष ढूँढना, उग्र घृणा करना, आलोचना करना, निन्दा करना, दोषी ठहराना तथा लड़ाई-झगड़ा करना है। सात्त्विक प्रकृति सदा मनुष्य के शुभ पक्ष को देखती, दोषों की उपेक्षा करती, छिद्रान्वेषकों, सन्देहियों तथा चुगलखोरों के उपहास को सहन करती, क्षमा करती, दया करती तथा दूसरों से सहानुभूति रखती है।

जब एक महिला अपने पति से झगड़ रही थी, तभी उसका शिशु उसकी गोद में आ गिरा। महिला विवाद को भूल कर बच्चे को दुलारने लगी। वह पूरे हृदय से हँसने लगी। क्रोध तथा घृणा के दुष्प्रभावों का प्रतिकार करने के लिए बच्चे की उपस्थिति से प्रेम की प्रतिपक्ष भावना उत्पन्न हो गयी। इसी भाँति विरोधी सद्गुणों के संवर्धन द्वारा सभी दुर्वृत्तियों तथा कुवासनाओं का पूर्णतया उन्मूलन किया जा सकता है। जैसे माली यथोचित श्रम तथा देख-रेख के द्वारा अपने उद्यान में नाना प्रकार के पुष्प लगाता है वैसे ही हम भी अपने हृदय में विविध प्रकार के सद्गुण उत्पन्न कर सकते हैं जो आध्यात्मिक विकास के लिए अपरिहार्य रूप से आवश्यक हैं। हमें प्रतिमाह निरीक्षण करना होगा कि इन सद्गुणों का कितना विकास हुआ है। सभी पुरानी दुर्वृत्तियाँ अपने निष्कासन का प्रतिरोध करने का यथासम्भव प्रयास करेंगी। वे बने रहने तथा लौट आने का, कायव्यूह में पुनः प्रवेश करने का प्रयास करेंगी। हमें सदा सतर्क रहना चाहिए। अन्ततोगत्वा हम पूर्ण आत्म-संयम प्राप्त कर लेंगे। विचार, इन्द्रिय-दमन, त्याग तथा **'शिवोऽहम्'**-भावना के द्वारा कामना से सङ्घर्ष कीजिए। ब्रह्म में कोई कामना नहीं है। योजना न बनाइए। मिथ्या कल्पना न कीजिए। हवाई किले मत बनाइए। इच्छाओं को पूरा करने का प्रयत्न न कीजिए। सभी मनोविकारों को नष्ट कीजिए। सभी कामनाएँ क्षीण हो कर स्वयं ही नष्ट हो जायेंगी। क्षमा, विश्वप्रेम तथा अद्वैत-भावना से क्रोध पर विजय-लाभ कीजिए। अपने से दूसरा व्यक्ति है ही नहीं जिस पर क्रोध करें। यह सब अज्ञान है। **"एकमेवाद्वितीयम्"**—एक ही ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, कोई दूसरा नहीं है। अपने मन में सदा इन विचारों को बनाये रखें।

स्वतःप्रवर्तित दानशीलता तथा उदारता से लोभ को नष्ट करें। **'अहं ब्रह्मास्मि'**-भावना से अहङ्कार का विनाश करें। ब्रह्म के सिवा कोई है ही नहीं। विनम्रता से अभिमान को कुचल डालें। निष्काम कर्म से अहङ्कार का निवारण करें। साहस के विकास, अद्वैत-भावना तथा **'शिवोऽहम्'**-भावना से भय को नष्ट करें। तप से काम-वासना का विनाश करें। मैत्री, करुणा तथा आर्जव से भावनाओं को पवित्र करें। मुदिता से ईर्ष्या को भगायें। कामनाओं के विदूरण, तितिक्षा तथा प्रबल धैर्य से सङ्कल्प-शक्ति का विकास करें। सन्तोष, विचार, सत्सङ्ग, धैर्य, संन्यास और समाधि से शान्ति प्राप्त करें।

नवम अध्याय

ध्यान

प्रथम भाग

ध्यान में सहायक

१. ध्यान के स्थान

यह संसार ध्यान के लिए उपयुक्त स्थान नहीं है। संसार में तो अनेक विघ्नबाधाएँ हैं। वातावरण उन्नयनकारी नहीं है। आपके मित्र ही आपके सबसे बुरे शत्रु हैं। वे आपका सारा समय व्यर्थ की बातों में नष्ट करते हैं। ऐसा अवश्यम्भावी है। आप चिन्तित रहते हैं। इस वातावरण से निकल भागने की इच्छा होती है। आपको समय तथा धन व्यर्थ नष्ट न करना पड़े तथा इधर-उधर भटकना न पड़े, इसलिए मैं कुछ सुविधाजनक स्थानों को बता सकता हूँ जहाँ जा कर आप ध्यान कर सकते हैं। आप इनमें से किसी एक को चुन सकते हैं। यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि वह स्थान जलवायु के विचार से समशीतोष्ण हो, ग्रीष्म, वर्षा तथा शीत ऋतुओं में आपके अनुकूल हो। आपको एक स्थान का निर्वाचन करके वहाँ कम-से-कम तीन वर्ष तक दृढ़ निश्चय के साथ निवास करना चाहिए। सभी स्थानों में कुछ सुविधाएँ और कुछ असुविधाएँ होती हैं; अतः आपको ऐसा स्थान चुनना चाहिए जहाँ अपेक्षाकृत सुविधाएँ अधिक और असुविधाएँ न्यून हों। इस संसार में सब-कुछ सापेक्ष है। कोई ऐसा स्थान तो मिल नहीं सकता जो सभी दृष्टिकोणों से आपके लिए सन्तोषप्रद हो। यह असम्भव है। इसलिए यदि किसी स्थान पर आप जम जाते हैं और वहाँ कुछ असुविधा हो तो भी स्थान-परिवर्तन न कीजिए। आपको किसी तरह वहाँ निर्वाह करना चाहिए। इधर-उधर प्रायः घूमने-फिरने से कोई लाभ नहीं। एक स्थान से दूसरे स्थान की तुलना मत कीजिए। माया आपको कई तरह से लुभायेगी। अपनी विवेक-शक्ति का प्रयोग कीजिए। जब आप शिमला में होंगे तो मसूरी आपको सर्वाधिक मनोहर लगेगी और मसूरी में आपको शिमला सुहावना लगेगा। अपने मन और इन्द्रियों पर अब और विश्वास न कीजिए। उनकी चालाकियाँ बहुत हो चुकीं। अब उनके बहकावे में न आइए। इन्द्रियों की वञ्चनाओं तथा प्रलोभनों से अपने को सुरक्षित रखने के लिए सतर्क रहिए।

पहले मैं आपको ऋषिकेश तथा स्वर्गाश्रम में आने को कहूँगा। ये ध्यान के लिए अत्युत्तम स्थान हैं। ये उत्कृष्ट रूप से अनुकूल हैं। यहाँ की मनोहरता तथा आध्यात्मिक प्रभाव सर्वथा उत्तम हैं। आप यहाँ अपना कुटीर बना सकते हैं। ऋषिकेश के निकट अन्य सुन्दर स्थान हैं—उत्तरकाशी, ब्रह्मपुरी, गरुड़चट्टी तथा नीलकण्ठ। अल्मोड़ा तथा नैनीताल भी अच्छे स्थान हैं। इनके अतिरिक्त गङ्गा, यमुना तथा नर्मदा के तट पर स्थित कोई भी ग्राम सुहावना है। हिमाचल प्रदेश में कुल्लू-घाटी, चम्बा-घाटी उत्तम एकान्त स्थान हैं। यदि आपको गुफा का जीवन पसन्द है तो ऋषिकेश से चौदह मील दूर वसिष्ठ-गुफा में जाइए। यह सुन्दर गुफा है जहाँ स्वामी रामतीर्थ कुछ समय तक रहे थे। निकटस्थ ग्राम से दूध उपलब्ध हो जाता है। ऋषिकेश के निकट ब्रह्मपुरी में रामगुहा अन्य सुन्दर तथा मनोहर स्थान है। आपको काली कमली वाला क्षेत्र से पन्द्रह दिन की खाद्य-सामग्री मिल जायेगी। हिमालय में टिहरी के निकट वम्रुघी-गुहा भी सुन्दर गुफा है। ध्यान के लिए टिहरी के कई ग्राम उपयुक्त स्थान हैं।

मुरलीधर ने सुन्दर उद्यान से युक्त एक पक्के कुटीर का निर्माण कराया है। आप इसमें भी रह सकते हैं। आबू पर्वत बड़ा सुहावना शीलत स्थान है। ध्यान के लिए ठण्ढे स्थानों की आवश्यकता होती है। गरम स्थानों में मस्तिष्क बहुत शीघ्र थक जाता है; किन्तु शीत स्थान में आप चौबीसों घण्टे ध्यान कर सकते हैं। यहाँ थकावट का प्रश्न ही नहीं उठता। अलवर तथा लिम्बडी के महाराजाओं ने आबू पर्वत में सुन्दर गुफाओं का निर्माण कराया है और शिक्षित साधुओं के लिए भोजन तथा अन्य सुविधाएँ प्रदान करने की व्यवस्था की है। लक्ष्मणझूला भी एक अन्य सुन्दर स्थान है। यहाँ नयी कुटियाओं के निर्माण के लिए पर्याप्त स्थान है। कानपुर के निकट ब्रह्मवर्त उपयुक्त स्थान है। मथुरा से सात मील आगे यमुना के तट पर कई सुन्दर स्थान हैं। उत्तरकाशी में मनोरम आध्यात्मिक वातावरण है। आप यहाँ के लक्षेश्वर नामक निर्जन स्थान में रह सकते हैं।

२. ब्राह्ममुहूर्त

साधको ! ब्राह्ममुहूर्त में उठ जाइए। किसी भी दशा में इसमें न चूकिए। ब्राह्ममुहूर्त प्रातः ३.३० से ६.०० बजे तक का समय है। यह वेला ध्यान के लिए सर्वोत्तम है। अच्छी नींद के पश्चात् मन प्रफुल्ल एवं पूर्णतया सुस्थिर तथा शान्त रहता है। इस समय शरीर में सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है और वातावरण में भी सात्त्विकता रहती है। शीतकाल में यह आवश्यक नहीं कि आप शीतल जल से स्नान करें। मानसिक स्नान भी पर्याप्त है। शौच से निवृत्त हो कर मुँह-हाथ और दाँत साफ

कर लें। शिर तथा मुख पर शीतल जल के छींटे डालें। फिर पद्मासन अथवा सिद्धासन में स्थिर हो कर बैठें और ब्रह्माकार-वृत्ति के निर्माण की चेष्टा करें। यदि प्रातः उठने की आदत न हो तो एलार्म घड़ी रखें। एक बार आदत पड़ जाने से फिर किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होगी। आपका चित्त ही आपकी इच्छा का सहयोगशील सेवक हो जायेगा। यदि आप कोष्ठबद्धता से पीड़ित हैं तो दाँत साफ करने के पश्चात् एक गिलास ठण्ढा जल पी लें। हठयोग में इसे उषःपान उपचार कहते हैं। इससे आपको खुल कर शौच होगा। कठोर आन्त्र वाले त्रिफला का जल पी सकते हैं। रात्रि में २ हरड़, २ आमला और २ बहेड़ा आधे गिलास ठण्ढे जल में भिगो दें और दाँत साफ करने के पश्चात् उसका जल पी लें।

३. ध्यान-कक्ष

ध्यान के लिए पृथक् कमरा होना चाहिए। यह एक अनिवार्य शर्त है। इस कमरे में अपने इष्टदेवता का चित्र अथवा मूर्ति स्थापित कीजिए। इस कमरे में कुछ दार्शनिक ग्रन्थ यथा भगवद्गीता, योगवासिष्ठ, प्रमुख द्वादशोपनिषद् तथा विवेकचूड़ामणि भी रखिए। इस कमरे में किसी को आने न दीजिए; अपनी पत्नी, अपने बच्चों तथा घनिष्ट मित्रों को भी आने न दीजिए। स्वयं भी स्नान करके इसमें प्रवेश करें। प्रतिदिन दो बार, प्रातः तथा सायं को, अपने इष्टदेवता के सामने अगरबत्ती और कपूर जलाइए। इसमें प्रातःकाल चार से पाँच बजे तक और रात्रि में आठ से नौ बजे तक विधिपूर्वक ध्यान कीजिए। जब कभी भी आप उदासी अनुभव करें इसमें चले जाइए। आधे घण्टे तक पुस्तकों का अध्ययन कीजिए। अपने विचारों को शान्त कीजिए। अपने मन को संयत कीजिए। शान्त, शिव, सुन्दर, कान्त इत्यादि दैवी गुणों का चिन्तन कीजिए। '**ॐ शान्तिः**' मन्त्र का बारम्बार जप कीजिए। इससे निश्चय ही आपमें तत्काल नयी स्फूर्ति और नयी चेतना जाग्रत होगी। अभ्यास करें, जाँचें, प्रतीत करें, अनुभव करें। काम अधिक और बातें कम कीजिए। चाहे जितना भी काम हो, फिर भी नियमित रूप से प्रतिदिन कम-से-कम आधे घण्टे तक यहाँ बैठने का कार्यक्रम बनाइए। जहाँ चाह है वहाँ राह है। यदि आपका इस प्रकार का नियमित अभ्यास हो तो आप अपने ध्यान के कमरे में ही मसूरी, ऊटी, दार्जिलिङ्ग अथवा शिमला को पा लेंगे। आपको जलवायु-परिवर्तन के लिए अन्यत्र नहीं जाना होगा। जो-कुछ मैं कहता हूँ, उसका अनुभव करें। समय नष्ट न करें। व्यर्थ की बातों से बचें। एक-एक क्षण बहुमूल्य है। जीवन में समय का मूल्य बहुत कम ही लोग जानते हैं। काल शिर पर चोटी पकड़ने को तैयार खड़ा है।

४. ध्यान का समय

प्रारम्भ में तो आप ध्यान में नित्य दो बार प्रातः ४ से ५ बजे तक और रात्रि में ६ से ८ बजे तक ही बैठिए। छः मास या एक वर्ष उपरान्त, अपनी मानसिक क्षमता के अनुसार दिन में तीन बार ध्यान के लिए बैठ सकते हैं। तीसरी बार अपराह्न में ४ से ५ बजे तक ध्यान कर सकते हैं। पाण्डिचेरी में श्री अरविन्द-आश्रम में योग के साधक तीन बार ध्यान के लिए बैठते हैं। ध्यान का समय बढ़ाते-बढ़ाते आप प्रति बैठक में दो-दो घण्टे बैठ सकते हैं। ग्रीष्मकाल में स्वेद के कारण यह क्लेशकर तथा कठिन हो जाता है। अतः ग्रीष्मकाल में दो बार ही बैठिए। इस कमी को शीलकाल में पूरा किया जा सकता है। ध्यानाभ्यास के लिए शीतकाल बहुत ही अनुकूल है। ऋषिकेश, स्वर्गाश्रम ध्यान के लिए उत्कृष्ट रूप से उपयुक्त हैं। शीतकाल तथा वसन्त ऋतु का प्रारम्भिक काल ध्यान के नये अभ्यासियों को ध्यानाभ्यास प्रारम्भ करने का सर्वोत्तम काल है। शीतकाल में मन ध्यान करते हुए थकता नहीं है। आप चौबीस घण्टे तक ध्यान करते रहें तो भी मन नहीं थकेगा। इसीलिए शीतकाल में साधु-महात्मा लोग ऋषिकेश को ही ध्यान के लिए पसन्द करते हैं। ध्यान की अवधि को धीरे-धीरे सावधानीपूर्वक बढ़ाना चाहिए। आज किया, कल नहीं—ध्यान करने की यह विधि नहीं है। यह नियमित तथा स्थिर होना चाहिए। ध्यानाभ्यास-काल में आपको निरन्तर अपने सामान्य बोध तथा विवेक का आलम्बन लेना चाहिए। आपको शनैः-शनैः क्रमिक रूप से, एक-एक चरण कर आगे बढ़ते हुए योग के अन्तिम सोपान पर पहुँचना होगा। एक दिन के लिए भी अभ्यास छोड़ना नहीं चाहिए।

५. कितने घण्टे ध्यान करें

प्रारम्भ में आप ४ से ४-३० बजे तक प्रातः और ८ से ८-३० बजे तक रात्रि में आधा-आधा घण्टा ही ध्यान करें। प्रातःकाल ध्यान के लिए सर्वोत्तम समय है। शयन के पश्चात् मन ताजा रहता है और शरीर तथा आस-पास के वातावरण में सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है। योगवासिष्ठ में वसिष्ठ जी श्रीराम से कहते हैं कि प्रारम्भ में अपने मन का १/४ भाग ध्यान के लिए, १/४ भाग मनोरञ्जन के लिए, १/८ भाग अध्ययन के लिए और १/४ भाग गुरु-सेवा के लिए देना चाहिए। फिर ३/८ भाग ध्यान के लिए, १/८ भाग मनोरञ्जन के लिए, ३/८ भाग अध्ययन के लिए और १/८ भाग गुरु-सेवा के लिए देना चाहिए। यहाँ मनोरञ्जन का अर्थ है कपड़े धोना, झाड़ू लगाना आदि। गोल्फ, फुटबाल जैसे लौकिक मनोरञ्जन होता है, वह यहाँ अभिप्रेत नहीं है। धारणा तथा ध्यान के पश्चात् मन थक जाता है तो इसे कुछ बहलाने की आवश्यकता होती है, अन्यथा यह आगे काम करना अस्वीकार कर देता है। फिर मन का १/२ भाग ध्यान के लिए और १/२ भाग अध्ययन के लिए देना चाहिए। ध्यान का समय धीर-धीरे बढ़ाना चाहिए। दो महीने के पश्चात् प्रति बैठक का समय बढ़ा कर एक घण्टा कीजिए—प्रातःकाल ४ से ५ बजे तक रात्रि में ८ से ९ बजे तक। एक वर्ष के पश्चात् डेढ़ घण्टे प्रातःकाल और डेढ़ घण्टे रात्रि में समय देने लगिए। तीसरे वर्ष प्रातः-सायं दो-दो घण्टे और चौथे वर्ष तीन-तीन घण्टे तक समय दीजिए। इतना समय तो लगभग सभी लोग दे सकते हैं। उत्कट मुमुक्षुत्व वाला तम-मन से स्वस्थ उत्तम कोटि का साधक तो अपने प्रथम वर्ष की साधना में छः घण्टे तक ध्यान कर सकता है। ध्यानाभ्यासी को उपनिषद्, योगवासिष्ठ, गीता, विवेकचूडामणि, अवधूत-गीता प्रभृति ध्यानानुकूल पुस्तकों का पारायण करना चाहिए। ऐसा स्वाध्याय उत्कर्षजनक है। छः घण्टे ध्यान और छः घण्टे स्वाध्याय बहुत ही लाभदायक रहेगा। यह श्री अरविन्द की प्रणाली है। यह उनके भाई श्री बरीन्द्र की प्रणाली है। यह स्वामी अद्वैतानन्द जी की प्रणाली है। यह मेरी भी प्रणाली है। यह अन्ततः चौबीस घण्टे निदिध्यासन की ओर आगे बढ़ायेगी।

६. तीन निमित्त कारण

कुछ लोगों का कहना है कि ध्यान—प्रसंख्यान नामक एक ही विषय पर यथाक्रम विचार—ही अपेक्षित निमित्त कारण है। यह निदिध्यासन के सदृश है जो ब्रह्म के विषय में अखण्ड विचारधारा का नाम है। श्रुतियों की घोषणा है कि निदिध्यासन द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार सुलभ है। बादरायण ने ब्रह्मसूत्रों में सिद्ध किया है कि निदिध्यासन ही वह निमित्त कारण है जिससे सोपाधिक ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। यही नियम निरुपाधिक ब्रह्म के साक्षात्कार में भी लागू होता है। ब्रह्म का निदिध्यासन श्रुति-वचनों पर आधारित है जो कि भली-भाँति समझे गये या यों ही पढ़े गये सम्यक् ज्ञान के साधक माने गये हैं। अतः उससे होने वाला ब्रह्मज्ञान सम्यक् ज्ञान के साधन की प्रक्रिया का परिणाम है। निदिध्यासन श्रुति-वचनों के पूर्ण ज्ञान पर आधारित है।

अन्य लोगों का यह निश्चयपूर्वक कथन है कि केवल ध्यान ब्रह्मज्ञान का निमित्त कारण नहीं हो सकता; क्योंकि मन से निःसृत विचारों का निरन्तर प्रवाह अपने मूल-स्रोत से वियुक्त हो कर किसी वस्तु-विशेष को ग्रहण नहीं कर पाता। इसी भाँति अकेला मन भी निमित्त कारण नहीं है; क्योंकि विचारों के प्रवाह के बिना यह ज्ञेय पदार्थ को आवृत्त करने में असमर्थ है। अतः मन ब्रह्म के विचार के निरन्तर प्रवाह से संश्लिष्ट हो कर ब्रह्मज्ञान का निमित्त कारण बनता है। श्रुति भी इस सिद्धान्त का समर्थन करती है : "यह अणु आत्मा सूक्ष्मदर्शियों की सूक्ष्म बुद्धि द्वारा द्रष्टव्य है।"

तीसरे मत से **"तत्त्वमसि"**—तू वही है, महावाक्य निमित्त कारण है। ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए मन की एकाग्रता निश्चय ही आवश्यक है; किन्तु यह आवश्यकता मन के अनन्य निमित्त कारण होने को सिद्ध नहीं करती; क्योंकि साधक का मन चाहे जितना भी एकाग्र हो, किन्तु उसके मन के विचारों का प्रवाह जब तक श्रुति-निर्दिष्ट महावाक्य की ओर न हो तब तक ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता है। अतएव अपरोक्ष निमित्त कारण वह **"तत्त्वमसि"** महावाक्य है जिसकी मन तथा ध्यान प्रचुर सहायता करते हैं। अतः विचारों की भिन्नता में एक प्रकार की एकता है अर्थात् इस बात से सभी सहमत हैं कि वेदान्त-ग्रन्थ, मन तथा ध्यान—इन तीनों के सहयोग से ब्रह्मसाक्षात्कार सम्भव है।

—*सिद्धान्त लेश*

७. ध्यान तथा कर्म

शरीर, मन तथा आत्मा—इन तीनों से मिल कर मनुष्य बनता है। आत्मा के दो रूप हैं—विकारी तथा अविकारी। पूर्वोक्त को विश्व कहते हैं और उत्तरोक्त को ईश्वर। विश्व ईश्वर का ही मूर्तरूप है। सक्रिय ईश्वर ही विश्व है। विश्व का अस्तित्व न हो, सो बात नहीं। उसका अस्तित्व सापेक्ष है।

आत्मा सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, आनन्दमय, ज्ञानमय, परम शुद्ध और परिपूर्ण है। वह स्व-सङ्कल्प से इस नाम-रूपात्मक जगत् का रूप लेता है। उसमें किसी प्रकार की कामना नहीं है; क्योंकि उसके लिए कोई बाह्य विषय नहीं है। उस सङ्कल्प को शक्ति कहते हैं। वह कर्मरत आत्मा है। निर्गुण आत्मा में शक्ति अचल होती है, सगुण में गतिशील। आत्मा में कोई कामना नहीं होती; क्योंकि वह पूर्ण है और क्योंकि ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो आत्मा का विषय हो। कामना के पीछे आकर्षण या मोह होता है और इसका अर्थ है अपूर्णता। यह उस सङ्कल्प-शक्ति का अभाव है जो स्वयं कर्म-निर्णायक है। आत्मा कामना करती है और जगत् उत्पन्न हो जाता है। आत्मा की इच्छा ही जगत् की मर्यादा को बनाये रखती है और उसका सञ्चालन करती है। सीमित शरीर-मन के साथ तादात्म्य कर लेने के कारण तथा अपने अहं और कामनाओं के वश हो कर मानव इधर-उधर मारा-मारा फिरता है। सीमाबद्धता की इस धारणा को ही अहं कहते हैं।

व्यक्त-अव्यक्त सृष्टि मात्र से ऐक्य का अनुभव करना ही मानव-जीवन का ध्येय है। ऐक्य तो सिद्ध ही है। अविद्या या अज्ञानवश हम इसे भूले हुए हैं। इस अज्ञान के आवरण का निरसन अर्थात् इस विचार का कि हम शरीर और मन में जकड़े हुए हैं, हटा देना ही हमारी साधना का प्रमुख पुरुषार्थ है। इसका तर्कसङ्गत परिणाम यह हुआ कि ऐक्य की अनुभूति के लिए विविधता दूर करनी होगी। इसके लिए हमें सर्वदा यह

भान रहना चाहिए कि हम सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् आदि हैं। इस स्थिति में कामना का कोई स्थान नहीं, क्योंकि ऐक्य-भावना में कोई भावात्मक आकर्षण शेष नहीं रहता; बल्कि स्थिर, दृढ़, शान्त तथा परम आनन्द रहता है। 'मुक्ति की कामना' झूठ है; क्योंकि मुक्ति का अर्थ है शाश्वत अवस्था की प्राप्ति। वह तो है ही। वही हमारा निज-स्वरूप है। जो हमारा अपना स्वरूप ही है, उसकी कामना नहीं हुआ करती। हमें सब प्रकार की पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा छोड़नी होगी, यहाँ तक कि मुक्ति की कामना भी त्यागनी होगी और विशुद्ध तथा निर्लिप्त सङ्कल्प के द्वारा सारे कर्म परिचालित हों, ऐसी स्थिति प्राप्त करनी होगी।

यह साधना—'मैं ही सब हूँ' की अनुभूति प्राप्त करने का सतत प्रयत्न—सतत कर्मशील रहते हुए ही की जा सकती है; बल्कि करनी चाहिए। यही गीता की प्रमुख शिक्षा है। यह तर्कसङ्गत भी है; क्योंकि ईश्वर सगुण-निर्गुण दोनों है। मन तथा शरीर से काम लेना चाहिए। उन्हें काम करने दें और यह देखें कि आप उनके स्वामी हैं, साक्षी हैं; उनके परे हैं। आप अपने को आधार न मानें। आधार तो मन और देह हैं। कर्मरत अवस्था में भी यही भावना होनी चाहिए। हाँ, प्रारम्भ में ध्यान का सहारा अवश्य लेना पड़ता है। कोई एकाध प्रबल चित्त वाला होगा जिसे उसकी आवश्यकता न पड़े। साधारण व्यक्ति के लिए वह एक अपरिहार्य आवश्यकता है। ध्यान में आधार स्थिर होता है। इसलिए साधना—ऐक्य का अनुभव करने का प्रयत्न—अपेक्षाकृत सरल होती है। कर्ममयता में यह साधना कठिन है। कर्मयोग शुद्ध ज्ञानयोग से अत्यधिक कठिन है। फिर भी हमें इसका सतत अभ्यास करते रहना चाहिए। यह परमावश्यक है, अन्यथा प्रगति मन्द पड़ जायेगी; क्योंकि थोड़ी देर तक विश्वात्मकता की और शेष अधिक समय तक देहमनोमयता का अनुभव करते रहने से प्रगति शीघ्र नहीं हो सकेगी और जो प्रगति होगी, वह ठोस नहीं होगी।

ऐक्य-विचार का अनुसन्धान करने के साथ-साथ ॐ मन्त्र को जोड़ लेना उत्तम है। स्मरणातीत काल से यह मन्त्र ऐक्य-विचार के प्रतीक के रूप में काम में लिया जाता रहा है। इसलिए ॐ का जप तथा इसके अर्थ का सतत ध्यान सर्वोत्तम विधि है। फिर भी प्रतिदिन प्रातः और सायङ्काल को कुछ समय ध्यान के लिए अलग निकालना चाहिए।

आत्मा नित्य मुक्त है, मन तथा शरीर बन्धन में हैं। जब तक हम मानसिक आकर्षण और विकर्षण के अधीन रहेंगे तब तक भाग्य अथवा अदृष्ट के दास बने रहेंगे; परन्तु जब हम उनकी पकड़ से पूर्ण मुक्त होंगे और आत्मा से एकरूपता का अनुभव करेंगे, तब हम मुक्त होंगे। आत्मज्ञान की अवस्था में हमारा सङ्कल्प और ईश्वरीय सङ्कल्प एक हो जाते हैं। तब तक हम निश्चय ही भाग्य के अधीन हैं।

फिर भी जिस परिमाण में हम अपने मन और देह से ऊँचे उठते जाते हैं, उतना ही हमारा सङ्कल्प बलवान् और मुक्त होता जाता है और उसमें अधिकाधिक ईश्वरत्व प्रकट होता जाता है।

८. भूतकोटि (भूतगण)

ये भूतगण कभी-कभी ध्यानावस्था में गोचर होते हैं। इनका रूप विचित्र होता है : किसी के दाँत लम्बे, किसी का चेहरा बड़ा, किसी का पेट मोटा, किसी के पेट पर चेहरा, किसी के शिर पर मुख। ये सब भूलोक के निवासी हैं। ये भूत हैं। ये सब भगवान् शिव के अनुचर माने जाते हैं। इनका रूप भयानक होता है। ये बिलकुल निरापद हैं। ये रङ्गमञ्च पर केवल दिखायी देते हैं। ये आपकी शक्ति और साहस परखने आते हैं। ये कुछ भी नहीं कर सकते। नीतिमान, चरित्रवान् साधक के सामने ये खड़े भी नहीं रह सकते। ओङ्कार का जप उन्हें दूर फेंक देता है। आपको निर्भय रहना चाहिए। भीरु व्यक्ति आध्यात्मिक मार्ग के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। सदा इस अनुभूति के द्वारा कि आप आत्मा हैं, साहस का विकास कीजिए। देहभाव को अस्वीकार कीजिए। चौबीसों घण्टे निदिध्यासन-ही-निदिध्यासन कीजिए। यह रहस्य है। यही कुञ्जी है। यह सच्चिदानन्द-रूपी कोष के द्वार को खोलने की सर्वकुञ्जी है। आनन्द-रूपी भवन की यह आधारशिला है। आनन्द के राजप्रासाद का यह प्रमुख स्तम्भ है।

९. ध्यान में वास्तविक विश्राम

इन्द्रियाँ थक कर आराम चाहती हैं। इसलिए रात्रि में निद्रा नियमित रूप से अकस्मात् आ उपस्थित होती है। गति और विश्रान्ति जीवन के आवर्तन प्रक्रम हैं। वासना से प्रेरित हो कर मन विषयों की वीथियों में भ्रमण करता है। सच पूछिए तो प्रगाढ़ सुषुप्ति की अवस्था तो बहुत ही दुर्लभ है। निद्रा में भी मन सूक्ष्म रूप से कार्य करता रहता है। इसलिए आप सो कर भी थकान अनुभव करते हैं। पूर्ण विश्राम तो एकमात्र ध्यान में ही मिलता है। ध्यानाभ्यास करने वाले ध्यानयोगी ही आसन में पूर्ण विश्रान्ति अनुभव कर सकते हैं। ध्यान-काल में मन पूर्णतः सङ्केन्द्रित तथा विषयों से बहुत दूर और आत्मा के अति-सन्निकट रहता है। यहाँ विषयों का अभाव होने से राग-द्वेषादिमय संसार नहीं है जिसके परिणामस्वरूप पूर्ण वास्तविक विश्रान्तियुक्त ठोस, चिरन्तन, सच्चा आत्मिक आनन्द प्रकट होता है। अतएव ध्यान का सतत अभ्यास करना चाहिए। इसे अनुभव द्वारा जानें। तभी आप मेरी बातों से सहमत होंगे।

वाराणसी में एक हठयोगी थे जिनमें आकाशगामिता की शक्ति थी। वे रात को कभी नहीं सोते थे। वह सारी रात्रि आसन जमा कर बैठे रहते थे। उन्हें ध्यान द्वारा ही वास्तविक शारीरिक विश्रान्ति मिल जाती थी। उन्होंने निद्रा त्याग दी थी। हो सकता है कि आपको ध्यानाभ्यास के प्रारम्भिक काल में पूर्ण विश्रान्ति न मिले; क्योंकि प्रारम्भ में सङ्कल्प और स्वभाव में, पुराने संस्कारों तथा नये संस्कारों में, पुरानी आदतों और नयी आदतों में, पुरुषार्थ तथा पुराने आचरण में खूब द्वन्द्व चलता रहेगा। मन विद्रोह करेगा। जब मन को मारते-मारते दुर्बल कर देते हैं जिसे सप्तज्ञान भूमिकाओं में तीसरी भूमिका—तनुमानसी—कहते हैं, उस अवस्था को प्राप्त होंगे तो आपको आनन्द मिलेगा। ध्यान की परम विश्रान्ति में आपको १०,००० बङ्गाली रसगुल्लों का स्वाद मिलेगा। आप धीरे-धीरे अपनी निद्रा को घटा कर तीन या चार घण्टे कर सकते हैं।

१०. ध्यान में स्मरण

जब व्यक्ति विष्णु के रूप पर ध्यान करता है तब उसका जीव ध्यान में इस प्रकार तल्लीन हो जाता है कि उसे अपना व्यक्तित्व याद नहीं रहता। यह प्रश्न सहज ही उठता है कि ध्यान के समय कौन-सा तत्त्व जाग्रत था जिसने बाद में जीव में यह स्मृति उत्पन्न की कि वह ध्यान में संलग्न था? इसका सीधा-सा उत्तर यह है कि वह उसका साक्षी आत्मा था।

यहाँ आपत्ति उठायी जा सकती है कि साक्षी द्वारा विष्णु-सम्बन्धी विचार का प्रकाशन जीव द्वारा ध्यान की स्मृति का कारण नहीं बता सकता। वह अधिक-से-अधिक घटना को पहले देखने वाले साक्षी में स्मृति को न्यायसङ्गत ठहरा सकता है। इस आपत्ति का इस आधार पर उत्तर दिया जा सकता है कि कूटस्थ चैतन्य और जीव में परस्पराध्यास है। तदनुसार कूटस्थ चैतन्य के अनुभवों को जीव स्मरण करता है।

११. ध्यान के लिए सङ्केत

एक शान्त कमरे में चले जायें जहाँ किसी बाधा का भय नहीं हो जिससे आपका मन सुरक्षित तथा विश्रान्ति अनुभव करे। सदा आदर्श अवस्था नहीं मिल सकती; ऐसी दशा में जो-कुछ आप अच्छे-से-अच्छा कर सकते हैं, वह आपको करना चाहिए। ब्रह्म के सम्पर्क में अपने-आप अकेले रहें।

"अपने अवयवों (वक्ष, ग्रीवा तथा शिर) को एक-सीध में रखता हुआ योगी मन तथा इन्द्रियों को विजित कर प्रणव-रूपी तरणि से भयावह संसार-सरणि को पार कर जाता है।

"इन्द्रियों तथा प्राणों को दमन तथा इच्छाओं को वशीभूत कर, नासिका से मन्द श्वासोच्छ्वास छोड़ता हुआ योगी मन को वैसे ही नियन्त्रित करे जैसे कि सारथि उच्छृङ्खल घोड़ों द्वारा खींचे जाते हुए रथ को नियन्त्रित करता है।

"जब पञ्च तत्त्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश) से निर्मित योगी के शरीर में धारणा के द्योतक निम्नलिखित पाँच गुण प्रकट हों तो ध्यान से विदग्ध शरीर प्राप्त करने वाले योगी को रोग, जरा और पीड़ा प्रभावित नहीं करते।

"कहा जाता है कि जब शरीर निरोग और हलका हो, मन कामना-रहित हो, वर्ण देदीप्यमान और वाणी मधुर हो, उससे सुगन्ध फूटती हो और उसके मलमूत्रादि न्यून हों, तब प्रथम कोटि की धारणा प्राप्त हो गयी है, ऐसा समझना चाहिए।"

मन के साथ कभी भी सङ्घर्ष न करें। धारणा में कभी कोई प्रखर चेष्टा न करें। मस्तिष्क तथा सभी मांस-पेशियों और स्नायुओं को ढीला छोड़ दीजिए। शिष्ट रीति से अपने इष्टदेवता का चिन्तन कीजिए। भाव तथा अर्थ के साथ धीरे-धीरे अपने गुरु-मन्त्र का जप कीजिए। उनफते हुए मन को स्थिर कीजिए। विचारों को शान्त कीजिए।

मन को वश में करने के लिए बलपूर्वक प्रयत्न न करें। थोड़ी देर के लिए इसे खुला छोड़ दें और इधर-उधर भाग कर अपने प्रयत्न को समाप्त कर लेने दें। पहले तो यह इस अवसर का लाभ उठायेगा और मुक्त बन्दर की तरह कूदता फिरेगा। धीरे-धीरे यह शिथिल होता जायेगा और आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा करेगा। प्रथम मन को पालतू बनाने में कुछ समय लगेगा, किन्तु आपके प्रत्येक प्रयास से यह पूर्वापेक्षा अधिक शीघ्र आपके पास आयेगा।

विचारों की एक पृष्ठभूमि रखें। यदि आप भक्त (साकार उपासक) हैं तो इष्ट-मन्त्र के साथ-साथ इष्टदेवता की मूर्ति की मूर्त पृष्ठभूमि और यदि ज्ञानयोगी साधक (निराकार उपासक) हैं तो ओङ्कार-चिन्तन के साथ अनन्तता की अमूर्त पृष्ठभूमि रखिए। यह सारे सांसारिक विचारों को नष्ट कर डालेगा और आपको लक्ष्य तक पहुँचायेगा। ज्यों-ही चित्त को सांसारिक कार्यों से अवकाश मिलेगा वह स्वभाववश तत्काल विचार की इस पृष्ठभूमि की शरण लेगा।

आपका मन लक्ष्य से जितनी बार बाहर की ओर भागता है उतनी बार उसे विषय पदार्थों से हटा कर अन्तर्मुख कीजिए। इस प्रकार का युद्ध कुछ महीनों तक चलता रहेगा।

यदि दुर्विचार आपके मन में प्रवेश करें तो उन्हें बाहर निकालने के लिए अपने सङ्कल्प-बल का प्रयोग न कीजिए। आपकी शक्ति ही नष्ट होगी। आप अपने सङ्कल्प पर ही भार डालेंगे। आप अपने को थका डालेंगे। आप दुर्विचारों को बाहर खदेड़ने

का जितना अधिक प्रयास करेंगे वे उससे दोगुनी प्रबलता से वापस आयेंगे और अपेक्षाकृत अधिक शीघ्र ही वापस आयेंगे। विचार अधिक शक्तिशाली बन जायेंगे। अतः तटस्थ मनोवृत्ति धारण करें। शान्त रहें। वे शीघ्र ही चले जायेंगे। प्रतिपक्ष-भावना-प्रणाली से उनके विरोधी सद्विचारों को प्रतिस्थापित करें अथवा भगवान् के चित्र तथा मन्त्र को बारम्बार बलपूर्वक स्मरण करें तथा प्रार्थना करें।

निद्रालुता को भगाने के लिए अपने मुख पर शीतल जल के छींटे मारिए। पन्द्रह मिनट तक खड़े हो जाइए। अपने शिर की चोटी को एक रस्सी के सहारे ऊपर किसी कील में बाँध दीजिए। नींद का झोंका आयेगा, तो रस्सी आपको ऊपर की ओर खींचेगी और आप जाग पड़ेंगे। यह आपकी माँ की भूमिका अदा करती है। अथवा एक कामचलाऊ झूले पर झुक जाइए और अपने को आगे-पीछे की ओर झुलाइए। दश-बीस हलके प्राणायाम करें। शीर्षासन या मयूरासन करें। रात्रि में केवल दूध और फल ग्रहण कीजिए। दश मिनट तक टहलिए। यदि नींद आये तो अपने मुख के सामने दीपक को जलाये रखिए।

अपने मित्रों के निर्वाचन में सावधान रहिए। अधिक बातें करना बन्द कीजिए। बातें कम कीजिए। नित्य दो घण्टे मौन धारण कीजिए। अवाञ्छनीय व्यक्तियों से मिलना-जुलना छोड़ दीजिए। सत्सङ्ग का सेवन कीजिए। अच्छी प्रेरणादायी धार्मिक पुस्तकें पढ़िए। यदि आपको धनात्मक सत्सङ्ग उपलब्ध न हो तो यह ऋणात्मक सत्सङ्ग है। ये सब ध्यान के लिए सहायक हैं।

यदि आपके मन में इच्छाएँ जाग्रत हों तो उन्हें पूरा करने की चेष्टा मत कीजिए। उनके उठते ही उन्हें तुरन्त निकाल फेंकिए। इस तरह के निरन्तर अभ्यास से इच्छाएँ कम की जा सकेंगी। मन की वृत्तियाँ भी अधिक मात्रा में कम हो जायेंगी; क्योंकि कामना-रूपी ईंधन समाप्त हो जाने पर विचार-रूपी अग्नि भी धीरे-धीरे बुझ जायेगी।

शरीर को अनावश्यक हिलाना-डुलाना नहीं चाहिए। शरीर को बहुधा हिलाने से मन भी चञ्चल हो उठता है। शरीर को समय-समय पर खुजलाते भी नहीं रहना चाहिए। आपका आसन पाषाण-शिला की भाँति दृढ़ होना चाहिए। धीरे-धीरे श्वास लीजिए। आसन को बार-बार न बदलिए । अपनी साधना की प्रारम्भिक अवस्था में प्रतिदिन एक ही स्थान में और एक ही समय पर बैठिए। मन में ठीक प्रकार का भाव बनाये रखिए जैसा कि गुरु ने दीक्षा-काल में आपको बतलाया था।

प्रत्येक विचार, जो मन में अनन्य रूप से स्थान ग्रहण कर लेता है, वास्तविक भौतिक अथवा मानसिक अवस्था में रूपान्तरित हो जाता है। यदि आप अपने मन को एकमात्र भगवद्विचार अथवा भगवान् से आपूरित करेंगे, तो आप शीघ्र

निर्विकल्प-समाधि की अवस्था में प्रवेश कर जायेंगे। अतः मन को भगवान्-सम्बन्धी विचारों से सन्तृप्त करें।

लोहे का टुकड़ा जब तक अग्नि में रखा रहे तब तक वह रक्ततप्त रहता है। उसे बाहर निकाल लें तो वह ठण्ढा हो जाता है और उसका रक्त-वर्ण जाता रहता है। इसी भाँति यदि आप दिव्य चेतना का अनवरत आस्वाद चाहते हैं तो आपको अनवरत रूप से अपने मन को ब्रह्म के सम्पर्क में रखना होगा। आपको अपने मन को ब्रह्म में विलीन करना होगा।

जैसे आप नमक अथवा चीनी को जल से सन्तृप्त करते हैं, उसी प्रकार आपको अपने मन को ईश्वर के विचार, दिव्य महिमा, दिव्य उपस्थिति तथा आत्मोद्बोधक उन्नत आध्यात्मिक विचारों से सन्तृप्त करना होगा। तभी आप दिव्य ज्ञान में सदा स्थित रह सकेंगे। मन को ब्रह्म-विचार से सन्तृप्त करने से पूर्व आपको दिव्य विचारों को आत्मसात् करना होगा। प्रथम आत्मसात्करण तत्पश्चात् सन्तृप्तिकरण। तब बिना एक क्षण की देर किये हुए साक्षात्कार प्राप्त होता है। 'आत्मसात्करण, सन्तृप्तिकरण और साक्षात्कारकरण' —इस त्रिक को सदा स्मरण रखें।

साधकों की सदा यह शिकायत रहती है, "मैं गत १२ वर्षों से ध्यान का अभ्यास कर रहा हूँ। मैं कुछ उन्नति नहीं कर पाया। मुझे साक्षात्कार नहीं हुआ।" यह क्यों होता है? इसका क्या कारण है? उन्होंने अपनी हृदय-गुहा के अन्तरतम भाग में गम्भीर ध्यान के अतल में अपने को उतारा नहीं है। उन्होंने ईश्वरीय विचारों को सम्यक् रूप से आत्मसात् नहीं किया है और मन को सन्तृप्त नहीं किया है। उन्होंने नियमित तथा व्यवस्थित रूप से साधना नहीं की है। उन्होंने इन्द्रियों का पूर्ण संयम नहीं किया है। उन्होंने मन की सभी बहिर्गामी किरणों को एकत्र नहीं किया है। उन्होंने यह आत्मनिश्चय नहीं किया है कि मैं इसी क्षण आत्मसाक्षात्कार प्राप्त कर लूँगा। उन्होंने अपना पूर्ण अथवा शत-प्रति-शत मन ईश्वर में नहीं लगाया है। उन्होंने ईश्वरीय चेतना का प्रभाव तैलधारावत् जारी नहीं रखा है।

जैसे कोई मनुष्य मूर्खतावश दो खरगोशों के पीछे भागे तो दोनों में से एक को भी नहीं पकड़ सकता; इसी तरह जो साधक दो विरोधी विचारों के पीछे भागता है, वह उन दोनों में से एक में भी सफल नहीं होता। यदि वह दश मिनट तक दिव्य विचार रखे और अगले दश मिनट तक उसके विरोधी सांसारिक विचार रखे तो उसे दिव्य चेतना की प्राप्ति में सफलता नहीं मिलेगी। आपको चाहिए कि अपना पूर्ण बल लगा कर एकाग्र मन से एक ही खरगोश का पीछा करें। आप उसे अवश्य ही पकड़ लेंगे। आपको सदा केवल दिव्य विचार ही रखने चाहिए। तब आप निश्चय ही भगवत्साक्षात्कार कर लेंगे।

इस विषय में अधिक बातें करते रहने से कोई लाभ नहीं। विचार-विमर्श तथा उत्तेजनापूर्ण वाद-विवाद पर्याप्त हो चुके। एक एकान्त कमरे में चले जाइए। अपने नेत्र बन्द कर लीजिए। गम्भीर शान्त ध्यान कीजिए। भगवान् की उपस्थिति अनुभव कीजिए। उनके नाम ॐ का उल्लास, आनन्द और प्रेम से जप कीजिए। अपने हृदय को प्रेम से आपूरित कीजिए। सङ्कल्पों, विचारों, तरङ्गों, कल्पनाओं और कामनाओं को मन के धरातल पर प्रकट होते ही नष्ट कर डालें। भ्रमणशील मन का प्रत्याहार कर उसे प्रभु में संस्थापित करें। अब ध्यान गम्भीर तथा भावप्रवण होगा। अपने नेत्र न खोलिए। अपने आसन से हिलें-डुलें नहीं। भगवान् में ही स्वयं को विलय कर दीजिए। अपनी हृदय-गुहा में गहरा गोता लगाइए। ज्योतिर्मय आत्मा में निमज्जन कीजिए। अमरत्वप्रदायक सुधा का पान कीजिए। अब नीरवता का आनन्द लीजिए। मैं आपको यहाँ एकाकी छोड़ देता हूँ। अमृत पुत्र, आनन्द लीजिए। परम शान्ति में आनन्द लीजिए।

१२. ध्यान के लिए निर्देश

एकमात्र ईश्वर-सम्बन्धी एक विचार को तैलधारावत् सतत बनाये रखना ध्यान है। योगीजन इसे 'ध्यान' कहते हैं। ज्ञानीजन इसे 'निदिध्यासन' शब्द से अभिहित करते हैं। भक्तजन इसको 'भजन' की संज्ञा देते हैं।

लोहे की शलाका जलती हुई भट्टी में रखें। यह आग के समान लाल हो जायेगी। हटा लेंगे तो इसका लाल रङ्ग जाता रहेगा। यदि आप इसे सदा लाल रखना चाहते हैं तो इसे हमेशा अग्नि में रखे रहें। इसी प्रकार यदि आप मन को ब्रह्मज्ञान से परिपूर्ण रखना चाहते हैं तो इसे निरन्तर और तीव्र ध्यान के द्वारा ब्रह्मज्ञान की अग्नि के सम्पर्क में सदा रखना होगा। ब्रह्म-चेतना का अविरल प्रवाह सदा बहता रहने दें। तब आपको सहजावस्था प्राप्त होगी।

यदि आप आधा घण्टे तक ध्यान कर सकें तो इसके बल से एक सप्ताह तक शान्ति और आत्मबल से आप जीवन-संग्राम में लग सकेंगे। ध्यान का ऐसा लाभकारी फल है। क्योंकि आपको अपने नित्य के जीवन में विलक्षण स्वभाव के विभिन्न मनों से काम पड़ता है; इसलिए ध्यान के अभ्यास से बल और शान्ति प्राप्त करें। फिर आपको कोई चिन्ता और दुःख नहीं होगा।

आसन शरीर को स्थिर करता है। बन्ध और मुद्राएँ देह को दृढ़ करती हैं। प्राणायाम शरीर को हलका करता है। नाड़ी-शुद्धि से मन की साम्यावस्था होती है। इन गुणों को प्राप्त करके मन को ब्रह्म में लगाना होगा। तभी ध्यान स्थिरता तथा आनन्द से हो सकेगा।

गङ्गा या नर्मदा का तट, हिमालय का दृश्य, सुन्दर पुष्प-वाटिका, पवित्र देवस्थान—ये स्थल धारणा और ध्यान में मन को उन्नत करते हैं। इन स्थानों में जायें।

आध्यात्मिक स्पन्दों से पूर्ण, शीतल जलवायु वाला एकान्त स्थान मन की एकाग्रता के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है।

जब आप ध्यान का अभ्यास नया-नया आरम्भ करें तो ध्यान के लिए आसन पर बैठते ही कुछ उन्नत बनाने वाले श्लोक या स्तोत्र दश मिनट तक उच्चारण करें। इससे मन को सांसारिक पदार्थों से सुगमता से हटाया जा सकता है। फिर इस प्रकार का विचार भी बन्द कर दें, फिर बारम्बार दृढ़ प्रयत्न द्वारा मन को एक ही विचार पर लगा दें। तब निष्ठा बन जायेगी।

ध्यान प्रारम्भ करने से पूर्व ईश्वर या ब्रह्म का मानसिक रूप (सगुण या निर्गुण) अवश्य बना लें। जब आँख खोल कर भगवान् कृष्ण की मूर्ति देखते हैं और ध्यान करते हैं तो यह सगुण ध्यान कहलाता है। जब आँख मींच कर भगवान् कृष्ण की मूर्ति का ध्यान करते हैं तो भी यह सगुण ध्यान ही है; परन्तु पहले से अधिक निर्गुण है। जब आप अनन्त प्रकाश का ध्यान करते हैं तो यह और भी निर्गुण ध्यान है। पहले दो प्रकार के ध्यान सगुण ध्यान कहलाते हैं और पिछले प्रकार का निर्गुण ध्यान है। निर्गुण ध्यान में भी आरम्भ में मन को स्थिर करने के लिए एक रूप अवश्य होता है। कुछ समय पीछे यह आकार हट जाता है और ध्याता तथा ध्येय एक हो जाते हैं। ध्यान भी केवल मन से ही होता है।

मन की क्रियाएँ ही वास्तविक कर्म हैं। मन की दासता से मुक्त होने पर ही सच्ची मुक्ति मिलती है। जिन्होंने अपने को मन के विक्षेप से मुक्त कर लिया है, वे परम निष्ठा प्राप्त कर लेते हैं। यदि मन के सारे मल दूर हो जायें तो यह शान्त हो जायेगा और संसार का सारा मोह शीघ्र ही नष्ट हो जायेगा।

मन की पवित्रता के उपरान्त उसे ईश्वर पर एकाग्र कर देने से आपको सच्चा आनन्द और ज्ञान प्राप्त होगा। आपका जन्म ही इसलिए हुआ है। राग और मोह के द्वारा आप बाहरी पदार्थों पर पहुँच जाते हैं। अपने हृदय में भगवान् पर ध्यान दीजिए। गहरा गोता लगाइए। अन्तर्लीन हो जाइए।

जब आप अग्नि जलाते हैं तो पहले आप घास-फूस, कागज तथा लकड़ी के पतले टुकड़ों का ढेर करते हैं। अग्नि शीघ्र बुझ जाती है। फिर आप इसको बार-बार मुख से या फुँकनी से फूँक मार कर सुलगाते हैं। थोड़े समय में वह प्रचण्ड अग्नि बन जाती है। अब आप इसे प्रयत्न करके भी कठिनाई से बुझा सकते हैं। इसी प्रकार प्रारम्भ में

नवीन साधक ध्यान से अपने पुराने ही रास्तों में गिर जाते हैं। उनको अपना मन बार-बार उन्नत करके लक्ष्य पर लगाना होगा। जब ध्यान गम्भीर और स्थिर हो जाता है तो वे ईश्वर में स्थिति प्राप्त कर लेते हैं। तब ध्यान सहज हो जाता है और स्वाभाविक बन जाता है। तीव्र वैराग्य तथा उग्र ध्यान की फुँकनी से काम लें और ध्यान की अग्नि को सुलगायें।

ध्यान-काल में, जब आपका मन सात्त्विक होता है, आपको प्रेरणा मिलती है। मन सुन्दर कविताएँ रचता है और जीवन की जटिल समस्याओं को सुलझाता है। इन सात्त्विक वृत्तियों को भी मिटा दें। ये सब मानसिक शक्ति को क्षीण करते हैं। आत्मा की ओर अधिकाधिक ऊँचे जायें।

यदि मन बराबर विषय-भोगों में लगा रहता है तो संसार की सत्यता का भाव निश्चय ही बढ़ता है। यदि मन निरन्तर आत्म-चिन्तन करता है तो संसार स्वप्नवत् प्रतीत होता है। अपने को मन के नीच विचारों से तथा अनेक निरर्थक सङ्कल्पों से मुक्त कर लें। निरन्तर आत्मविचार करें। **'निरन्तर'** शब्द पर ध्यान दें। यह आवश्यक है। तभी आत्मज्ञान उदय होगा।

जब आप ध्यान में गहरे उतर जायेंगे, तभी आपको दिव्य महिमा का पूर्ण आनन्द मिलेगा। जब तक आप ईश्वर की दिव्यता के सीमा-क्षेत्र, बाह्य-प्रदेश और प्रवेश-द्वार तक रहते हैं तब तक आपको सर्वाधिक शान्ति और आनन्द नहीं मिलेगा।

देखें कि ध्यान में कितनी देर तक आप सांसारिक विचारों को रोक सकते हैं। मन को बड़ी सतर्कता से देखें। यदि बीस मिनट तक रोक सकते हैं तो इस समय को तीस या चालीस मिनट तक बढ़ाने की चेष्टा करें। बारम्बार मन में ईश्वरीय विचार भरें।

आपको ध्यानपूर्वक देखना होगा कि क्या आप कई वर्षों की आध्यात्मिक साधना के पश्चात् भी आध्यात्मिक मार्ग में एक ही स्थान पर स्थिर हैं अथवा आप उन्नति कर रहे हैं। कभी-कभी यदि आप सचेत नहीं रहते, वैराग्य मन्द पड़ जाता है या आप ध्यान में सुस्त हो जाते हैं तो आप नीचे की ओर भी जा सकते हैं। प्रतिक्रिया आरम्भ हो जाती है। कोई-कोई पन्दरह वर्ष तक ध्यान का अभ्यास करते हैं और फिर भी कुछ उन्नति नहीं कर पाते। क्यों? यह उनके उत्साह, वैराग्य, मुमुक्षुत्व और तीव्र साधना के अभाव के कारण है।

जब आप आध्यात्मिक साधना में आगे बढ़ जायेंगे, तो आपके लिए ध्यान और कार्यालय का काम एक-साथ करना बहुत कठिन हो जायेगा; क्योंकि मन पर दोगुना दबाव पड़ेगा। भिन्न-भिन्न प्रकार की अननुकूल क्रियाओं के लिए अपने को समञ्जित करने में बड़ी कठिनाई प्रतीत होती है। इसलिए उन्नत गृहस्थी

योग-साधकों को उचित है कि जब वे ध्यान में उन्नति प्राप्त कर लें तो और भी आगे बढ़ने के लिए सारे सांसारिक कार्यों को बन्द कर दें। यदि उनकी लगन सच्ची है, तो वे स्वयं ही कार्य बन्द करने को बाध्य हो जायेंगे। उन्नत साधकों के लिए कार्य ध्यान में बाधक होता है।

वेदान्त या ज्ञान-मार्ग में 'मनन' और 'निदिध्यासन' शब्दों का बाहुल्य से प्रयोग होता है। विजातीय-वृत्ति (सांसारिक विषयों के सभी विचारों) का तिरस्कार करके स्वजातीय-वृत्ति (ब्रह्म-विचार) का प्रवाह ले आना मनन कहलाता है। निदिध्यासन तीव्र और गम्भीर चिन्तन है। यह अनात्म-वृत्ति-रहित अथवा आत्माकार-वृत्ति-स्थिति है। मन ब्रह्म में पूर्णतया स्थित हो जाता है। अब कोई भी सांसारिक विचार अनधिकार रूप से प्रवेश नहीं करेगा। ध्यान तैलधारावत् चलता रहेगा।

प्रारम्भ में मन को एकाग्र बनाने के लिए भिन्न-भिन्न उपायों से प्रशिक्षित करें। किसी स्थूल मूर्ति पर धारणा करें। नीलाकाश पर धारणा करें। सर्वव्यापी सूर्य के प्रकाश पर धारणा करें। **सोऽहम्** का उच्चारण कर श्वास पर धारणा करें। शरीर के भिन्न-भिन्न चक्रों पर धारणा करें। **सत्यम्, ज्ञानम्, अनन्तम्, एकम्, नित्यम्** आदि भावों पर धारणा करें। अन्त में एक ही वस्तु को दृढ़ता से पकड़ लें।

ध्यान के अभ्यास में आँखों और मस्तिष्क पर जोर न डालें। मन के साथ सङ्घर्ष न करें। मन को शान्त करें। दिव्य विचारों को शनैः-शनैः आने दें। स्थिरता से लक्ष्य का, ध्येय-विषय का विचार करें। बीच में घुसने वाले अन्य विचारों को जोर के साथ न भगायें। उन्नत सात्त्विक विचार रखें। खोटे विचार स्वयं ही भाग जायेंगे।

जब ध्यान में मन स्थिर हो जाता है तो नेत्र-गोलक भी स्थिर हो जाते हैं। जिस योगी का मन शान्त हो जाता है उसकी दृष्टि भी स्थिर होती है। वह पलक नहीं झपकाता। आँखें लाल या बिलकुल सफेद होंगी।

प्रारम्भ में नवीन होने के कारण दृढ़ता नहीं होती, इसलिए मन के विक्षेप को दूर करने के लिए नेत्र बन्द कर सकते हैं; परन्तु थोड़े समय उपरान्त आपको चलते हुए भी नेत्र खोल कर ध्यान करना चाहिए। शहर के शोरगुल में भी आपको मन की साम्यावस्था बनाये रखनी चाहिए। तभी आपमें पूर्णता आयेगी। दृढ़तापूर्वक विचार करें कि संसार असत्य है, संसार है ही नहीं और केवल आत्मा ही है। यदि आँखें खुली रख कर भी आप आत्मा का ध्यान कर सकते हैं तो आप बलवान् पुरुष हो जायेंगे। आपको आसानी से कोई बाधा नहीं होगी।

सारे दृश्य पदार्थ माया हैं। ज्ञान अथवा आत्मा के ध्यान के द्वारा माया का **तिरोधान हो जायेगा।** माया से मुक्त होने के लिए मनुष्य को परिश्रम करना चाहिए।

माया मन के द्वारा बड़ा अनिष्ट करती है। मन का नाश करने से माया का नाश होता है। माया को जीतने के लिए केवल निदिध्यासन ही उपाय है।

सारे आन्तरिक तथा बाह्य कर्म तभी किये जा सकते हैं जब मन इन्द्रियों के साथ संयुक्त हो। विचार ही सच्चा कर्म है। यदि आपने स्थिर अभ्यास द्वारा अपने मन को वश में कर लिया है, यदि आप अपनी भावनाओं और चित्तवृत्तियों को ठीक रख सकते हैं, तो आप मूर्खतापूर्ण तथा अनैतिक कार्य नहीं करेंगे। भिन्न-भिन्न भावनाओं तथा चेष्टाओं को रोकने में ध्यान बहुत सहायता करेगा।

सदाचारी जीवन यापन करना ही ईश्वर-प्राप्ति के लिए पर्याप्त नहीं है। निरन्तर ध्यान करना अत्यन्त आवश्यक है। साधुवृत्त सदाचारी जीवन तो केवल मन को धारणा तथा ध्यान के उपयुक्त साधन बनाता है। धारणा और ध्यान ही आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कराते हैं।

ध्यान में जो दृश्य आप देखते हैं, वे आपके अपने ही मूर्तिमान् विचार होते हैं और कुछ एक वास्तविक पदार्थों के दृश्य होते हैं।

जब वासनाएँ दुर्बल हो जाती हैं और सङ्कल्प क्षीण हो जाते हैं तभी सच्ची शान्ति और आनन्द प्रकट होते हैं। पाँच मिनट के लिए भी जब आप मन को श्रीकृष्ण, शिव अथवा आत्मा पर स्थिर करते हैं तो मन में सत्त्वगुण भर जाता है और वासनाएँ क्षीण हो जाती हैं। इन पाँच मिनटों में आपको शान्ति और आनन्द प्राप्त होता है। आप ध्यान से प्राप्त इस आनन्द की तुलना नश्वर विषय-भोगों के आनन्द से कर सकते हैं। आपको प्रतीत होगा कि ध्यान द्वारा प्राप्त यह आनन्द विषय-सुख के आनन्द से लाखों गुणा उत्तम है। ध्यान करें और इस आनन्द का अनुभव करें, तब आपको इसका वास्तविक मूल्य ज्ञात होगा।

विस्तृत आकाश पर धारणा तथा ध्यान करें। यह भी निर्गुण निराकार ध्यान का एक रूप है। इस ध्यान-प्रणाली से मन परिच्छिन्न रूपों का चिन्तन छोड़ देगा। इसके अन्तर्विषय अर्थात् अनेक प्रकार के रूप क्षीण होने के कारण यह धीरे-धीरे शान्ति के समुद्र में विलीन होने लगेगा। यह अधिकाधिक सूक्ष्म भी होता जायेगा।

कुछ साधक आँखें खोल कर, कुछ आँखें बन्द कर तथा कुछ अर्द्धोन्मीलित नेत्रों से ध्यान करते हैं। यदि आप आँखें बन्द करके ध्यान करते हैं, तो आपको नेत्रों में बाहर से धूलि अथवा कण नहीं पड़ेंगे। कुछ साधक जिनको आँखें बन्द करने पर ज्योतिर्दर्शन तथा झटके की बाधा होती है, खुले नेत्रों से ध्यान करना पसन्द करते हैं। आँखें बन्द कर ध्यान करने वाले शीघ्र ही निद्रा के वशीभूत हो जाते हैं। आँखें खुली रहने पर नवीन साधकों का मन विषयों की ओर भागता है। अपनी सहज बुद्धि का

उपयोग करें और जो विधि आपके लिए सर्वाधिक उपयुक्त हो, उसे अपनायें। अन्य बाधाओं पर उपयुक्त बुद्धिसङ्गत विधि द्वारा विजय प्राप्त करें।

आपको ध्यान में नियमितता अनिवार्य है। ध्यानाभ्यास के लिए नियमतत्परता परमावश्यक है। ध्यान का अभ्यासी नागा किये बिना प्रतिदिन ध्यान करता है, तो उसे अपेक्षाकृत शीघ्र तथा महत्तर सफलता मिलेगी। यदि ध्यान करते-करते आपको अभी भी स्पष्ट सफलता नहीं मिली तो उसे त्याग न दीजिए; अपितु सत्यशीलता, लगन, धैर्य और सहिष्णुतापूर्वक अभ्यास करना जारी रखिए। कुछ दिनों में सफलता मिलेगी। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। कुछ भी क्यों न हो जाये, पर एक दिन के लिए भी अपने अभ्यास में नागा न करें।

अकारण ही बात-बात में रुष्ट हो जाने वाला साधक ध्यान में उन्नत्ति नहीं कर सकता। साधक को सदा मिलनसार, प्रेमी और सहृदय होना चाहिए और प्रत्येक अवस्था में जीवन-यापन करने की कला सीखनी चाहिए। तब बुरी आदत चली जायेगी। कुछ साधकों को यदि उनके दुर्गुण और दोष दिखाये जायें तो वे रुष्ट हो जाते हैं। उनको इतना रोष आता है कि वे अपनी गलती सूचित करने वाले को बुरा-भला कहने लगते हैं। वे समझते हैं कि वह व्यक्ति केवल घृणा या द्वेष-वश हो उनकी गलतियों को अपनी ओर से गढ़ कर कह रहा है। यह बुरी आदत है। दूसरे लोग हमारे अवगुणों को बड़ी सरलता से पहचान सकते हैं। जो व्यक्ति आत्मविश्लेषण का अभ्यास नहीं करता और जिसकी वृत्तियाँ बहिर्मुखी हो गयी हैं, वह अपने अवगुणों को नहीं समझ सकता। आत्माभिमान आवरण बन कर उसकी मनोदृष्टि को मलिन कर देता है। उन्नति चाहने वाले साधक को चाहिए कि दूसरे से अपने अवगुणों को सुनने पर उन्हें स्वीकार कर लें, उसके उन्मूलन के लिए यथाशक्य चेष्टा करे और दोष दिखलाने वाले व्यक्ति को धन्यवाद दे। तभी वह आध्यात्मिकता में प्रगति कर सकेगा।

यदि काश्मीर में रहने वाला साधक अपने उत्तरकाशी, हिमालय में रहने वाले गुरु पर ध्यान करता है तो वे दोनों एक-दूसरे से सम्बन्धित हो जाते हैं। गुरु शिष्य के ध्यान के प्रत्युत्तर में शक्ति, शान्ति, सुख तथा आनन्द के विचारों को उसके पास भेजता है। शिष्य का सम्पूर्ण व्यक्तित्व प्रबल आध्यात्मिक चुम्बकीय प्रभाव से आप्लावित हो उठता है। गुरु के पास से आध्यात्मिक विद्युत्स्फुरण शिष्य की ओर तैलधारवत् प्रवाहित होता है। शिष्य अपनी श्रद्धा की मात्रा के अनुपात से अपने गुरु की कृपा प्राप्त करता है। जब कभी शिष्य अपने गुरु का गम्भीरतापूर्वक ध्यान करता है तो गुरु को तुरन्त प्रार्थना अथवा उत्कृष्ट विचार की इस लहर का आभास मिलता है जो उसके शिष्य के पास से आ रही है। जिसमें अन्तःसूक्ष्म नेत्र हैं वह चित्त-सागर में सात्त्विक विचारों के स्पन्दन की गति से उत्पन्न गुरु और शिष्य के मध्य की पतली ज्योति-रेखा को स्पष्ट देख सकता है।

सामान्यतः जब आप स्वप्न-रहित प्रगाढ़ निद्रा में होते हैं तो दो में से एक बात होती है; या तो आप देखे हुए स्वप्न को याद नहीं रख सकते या आप बिलकुल अचेत निद्रा की अवस्था में आ जाते हैं जो मृत्यु के समान है। परन्तु एक और सुषुप्ति की भी सम्भावना होती है जिसमें आप पूर्ण नीरवता, अमृतत्व तथा अपनी सत्ता के सभी भागों की शान्ति में प्रवेश कर जाते हैं और आपकी चेतना सच्चिदानन्द में प्रवेश कर जाती है। आप इसको निद्रा नहीं कह सकते हैं; क्योंकि इसमें पूर्ण 'चेतना' रहती है। इस अवस्था में आप कुछ मिनट तक रह सकते हैं; परन्तु ये कुछ मिंनट ही आपको इतनी विश्रान्ति दे देते हैं जितनी कि घण्टों की सामान्य निद्रा से नहीं प्राप्त होती। इसके लिए दीर्घकाल तक अभ्यास की आवश्यकता है।

जब आपका ध्यान गम्भीर हो जाता है तो आप प्रायः केवल कारण-शरीर के द्वारा क्रिया करते हैं। कारण-शरीर की चेतना आपकी सामान्य चेतना बन जाती है। योगियों में सामान्य कारण-शरीर की चेतना होती है। श्री गौराङ्ग, तुकाराम, तुलसीदास आदि के समान भक्तों ने अपने को कारण-शरीर से मिला दिया था और उनकी सामान्य कारण-शरीर-चेतना थी। कारण-शरीर-चेतना का भक्त भी ब्रह्म के साथ मिल जाता है। उसे दिव्य ऐश्वर्य प्राप्त होता है तो भी उसका पतला वायवीय शरीर होता है। वह अपना व्यक्तित्व रखता है। जैसे जलावर्त सम्पूर्ण जल-राशि से मिला हुआ भी होता है और उसकी पृथक् सत्ता भी होती है। यही अवस्था उस भक्त की होती है जो अपने कारण-शरीर से जीवन-यापन करता है।

रहस्यमय ज्ञान की एक झलक मात्र से सारी पदार्थमय सत्ता का अन्त हो जाता है और संसार का विचार या स्मरण या संसार में जीव की सत्ता का सङ्कीर्ण विचार आत्मा को बिलकुल छोड़ देता है।

जब योगी ध्यान और समाधि की चरमावस्था को प्राप्त हो जाता है, जिसकी अग्नि से उसके अवशिष्ट कर्म पूर्णतया भस्म हो जाते हैं तो उसे सद्योमुक्ति मिल जाती है और वह जीवन्मुक्त बन जाता है।

१३. व्यावहारिक उपदेश

(१) यदि असद्विचार लौट आयें तो उन्हें दूर भगाने के लिए तीव्र प्रतिकार न करें। तरङ्गों को शान्ति से निकल जाने दें। कभी किसी प्रकार के भावावेश से प्रभावित न हों। बुद्धिमत्तापूर्वक प्रत्येक परिस्थिति का उपयोग आत्मोन्नति और चित्तशुद्धि के लिए करें।

(२) अपने कर्तव्य का निर्णय करने के लिए जितना आवश्यक हो, उससे अधिक सांसारिक विषयों का चिन्तन न करें। अपना कर्तव्य करें और शेष ईश्वर पर छोड़ दें।

(३) अत्यधिक ध्यान करते-करते जब थक जायें, तब कुछ समय के लिए ध्यान करना बन्द कर दें। शान्त हो कर, प्रेमपूर्वक उदात्त और उत्कृष्ट विचारों पर, सन्त महात्माओं के श्रेष्ठ और पवित्र विचारों में मन लगायें। इससे आपकी मनःस्थिति शनैः-शनैः पूर्ववत् सामान्य स्थिति में पहुँच जायेगी।

(४) जब तक जनता और जनार्दन की सेवा में अपना सर्वस्व त्याग देने को तैयार न हो जायें, तब तक आप अध्यात्म-मार्ग पर चलने के लिए बिलकुल योग्य नहीं होंगे। साधक के लिए आवश्यक योग्यता चित्त की समता है। दुःख, कष्ट और जीवन की परीक्षा के अवसरों पर मन को उद्वेग-रहित और शान्त रखने का भरपूर प्रयत्न करें। अन्तःकरण के अन्तस्थल से प्रभु की प्रार्थना करें और प्रतीक्षा करें। सहायता अवश्य मिलेगी। भगवान् अवश्य अनुग्रहपूर्वक ध्यान देंगे। श्रद्धा तथा साहस न छोड़ें। मन को छोटा न करें। ईश्वर पर पूर्ण, दृढ़ तथा अनन्य श्रद्धा रखें। वह दुःख सहन करने के लिए आपको पर्याप्त बल देंगे, कठिनाइयाँ और दुःख दूर करेंगे।

(५) तितिक्षा की वृद्धि करें। तथा सुख-दुःख में समान दृष्टि रखें। जीवन में जो भी कष्टदायक अथवा आनन्ददायक स्थिति आये, उसमें मन को किञ्चित् भी विचलित न होने देने का और चित्त के समाधान को न डिगने देने का प्रयत्न करें। जूता, छाता, छड़ी, पगड़ी, घी, बासमती चावल आदि का सेवन छोड़िए। ये सब आपके शत्रु हैं। एक-एक करके इन्हें छोड़ते जायें। यह योग का रहस्य है। इससे ऐन्द्रिय विषयों की तृष्णा एक-एक करके समाप्त हो जाती है, स्वतन्त्रता की भावना में वृद्धि होती है और व्यक्तित्व तेजस्वी बनता है। त्याग करने से कोई हानि नहीं है, लाभ ही है। प्रारम्भ में कुछ कष्ट होगा। अपने को इसके लिए तैयार कर लें। सब ठीक हो जायेगा।

(६) विशेष प्रकार के कष्ट-सहन का विशेष फल आप शीघ्र ही अनुभव करेंगे। जब भी अन्धकारमय और निराशाजनक विचार उठें, तब मन में इस विचार को स्थान दें कि आप मार्ग से हट गये हैं अथवा आप अकेले पड़ गये हैं। ऐसे मानें कि ये दुःख-कष्ट भगवान् ने आपकी ही उन्नति के लिए, अनुभव तथा ज्ञान प्राप्त करने के लिए आपके सम्मुख प्रस्तुत किये हैं।

(७) सुदृढ़ अध्यवसाय के गुण की पराकाष्ठा तक पहुँचने का प्रयत्न करें। आपके **अन्दर अध्यवसाय उस पक्षी के** समान निःसीम होना चाहिए जिसने तिनके से बूँद-बूँद **जल निकालते हुए सागर को सुखाने** का साहस किया था।

(८) ईश्वरीय विधान का उल्लङ्घन करने वालों को दण्ड दे कर ईश्वर अपना न्याय ही प्रदर्शित करता है। इस प्रकार वह बड़ा दयामय है। क्यों? इसलिए कि वह नहीं चाहता कि उसके बच्चे पुनः वही भूल करें। दण्ड तो सुधार और शिक्षा के लिए ही है। माता-पिता जब बच्चे को डाँटते हैं, तब मूर्ख बच्चे मानते हैं कि माता-पिता में प्रेम नहीं है; परन्तु बड़े होने के बाद उन्हें अनुभव होने लगता है कि बचपन में यदि उन्होंने दण्ड न दिया होता तो उनमें अनेक बुराइयाँ और बुरी आदतें पड़ जातीं। तब यह नहीं मानते कि माता-पिता निर्दयी थे; बल्कि यही अनुभव करते हैं कि उन्हें कठोर और निर्दयी मानने में उनकी ही मूर्खता थी। अब अपने हृदय में उनके प्रति कृतज्ञता अनुभव करते हैं।

(९) आप तब तक भगवत्साक्षात्कार बिलकुल नहीं कर सकेंगे जब तक कि कामिनी और कञ्चन के मोह से मुक्त न हो जायें तथा मानसिक सत्य, मानसिक ब्रह्मचर्य और मानसिक अहिंसा में अधिष्ठित न हो जायें। मानसिक सत्य में, मन में किसी प्रकार का असत्य विचार उठेगा ही नहीं। मानसिक ब्रह्मचर्य में विषय-वासना का विचार लेश मात्र भी मन में नहीं उठेगा। स्वप्न में भी वासनामूलक विचार नहीं आता। इसके लिए दीर्घकाल तक मन का निग्रह और उसका निरीक्षण करने की आवश्यकता है। आध्यात्मिक साधना के लिए अत्यावश्यक इन सब सद्गुणों का विकास किये बिना ही मूर्ख लोग व्यर्थ ही समाधि की साधना में कूदने लगते हैं। ब्रह्म शुद्ध है। जब आप शरीर तथा मन से शुद्ध हो जायेंगे, तभी ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकेंगे। स्वयं ब्रह्म बन कर ही ब्रह्म को जान सकेंगे। "**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**—जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म बन जाता है।" प्रथम यम तथा नियम का अभ्यास करें। आपको सब-कुछ मिल जायेगा।

(१०) स्मरण रखें कि आपसे सर्वस्व त्याग की अपेक्षा रखी गयी है; आपकी अपनी उन्नति गौण है। आपके अपने जीवन का लक्ष्य परसेवा ही होना चाहिए; क्योंकि वे परजन आखिर आपके अपने ही रूप हैं। यदि आपको सिद्धि प्राप्त करने की इच्छा हो या अन्य कोई फल पाने की कामना हो तो इस मार्ग से दूर रहना ही अच्छा है। सिद्धियाँ तो बाधक हैं, वे आपको नीचे खींचती हैं। उनकी बिलकुल चिन्ता न करें। वे चाहे जितनी मोहक हों, फिर भी निर्दयी हो कर उन्हें ठुकरा दें।

(११) औरों की अपेक्षा आपके कष्ट अधिक असह्य इसलिए हैं कि आपने असद् वासनाओं और कुसंस्कारों के असुरों के विरुद्ध निश्चित और तीव्र दृष्टिकोण अपनाया है। ये असुर ऐसे हैं जो अपने विरुद्ध कोई आक्रमण करता है तो बहुत वेग के साथ प्रत्याक्रमण करते हैं, जितना कि सामान्य स्थिति में नहीं करते हैं। वे सब ऊपरी धरातल पर लाये जाते हैं और आपके नेत्रों के सामने खोल कर रख दिये जाते हैं

जिससे कि आप अपनी यात्रा के प्रारम्भ में ही उन्हें पूर्णतया पहचान सकें और ज्यों-ज्यों आप आगे बढ़ें, उन्हें एक-एक कर निरस्त्र कर दें। वर्तमान क्षण में आपकी जो दुर्बलता है, उसमें अच्छा तो यही होगा कि आप स्वयं उसकी खोज करें। इसमें सहायता भी भीतर से स्वयं मिलेगी। इससे आप अपने वास्तविक शत्रु के विषय में संशय-रहित और भ्रमशून्य हो जायेंगे, उसका स्वभाव और बल पहचान लेंगे और अपने हृदय से उसे उध्वस्थ करने का साधन भी खोज सकेंगे।

(१२) परमेश्वर की ओर से विशेष शक्ति और पुष्टि उन लोगों को प्राप्त होती है जिनमें समग्र मानव-जाति के प्रति शुद्ध और स्थिर प्रेम है, जो करुणा के नियमों के प्रति अचल श्रद्धा रखते हैं और इह तथा पर—दोनों लोकों में ईश्वर की सेवा की सुदृढ़ इच्छा रखते हैं।

(१३) व्यक्तिगत मनोवेगों के अधीन रह कर कोई कार्य न करें। भावना कितनी भी उत्कृष्ट हो, उसमें बह न जायें।

(१४) इन सभी दुःखों और पीड़ाओं को धैर्य के साथ, सन्तोष के साथ चूँ किये बिना सहन कर लेने का अर्थ है विलक्षण शक्ति का अभ्यास करना, जो सारी प्रकृति को आध्यात्मिक बना देती है। यह शक्ति जितनी अधिक होगी, आध्यात्मिक उन्नति उतनी ही तीव्र होगी। पूरे साधनाकाल में श्रद्धा और सहिष्णुता निरन्तर अक्षय बनी रहनी चाहिए। प्रगति की वास्तविक कसौटी यह है कि बाह्य परिस्थितियों के प्रति, वे चाहे जिस प्रकार की क्यों न हों, हमारी अन्तर्वृत्ति कितनी अलिप्त और अप्रभावित रहती है।

(१५) स्मरण रखें कि समाधि में यह विश्व नष्ट नहीं होता। 'विश्व ब्रह्म से भिन्न है'—ऐसा जो विचार है, वह नष्ट होता है। नया विचार जन्म लेता है, नयी चेतना जाग्रत होती है कि ब्रह्म ही सब-कुछ है। जीवन्मुक्त में भी नाम-रूपात्मक विषयनिष्ठता ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। आत्मपरकता में अवश्य एक परिवर्तन होता है। उसका दृष्टिकोण बदलता है। अध्यास के कारण जो भेद-बुद्धि जकड़ी हुई है, वह नष्ट होती है। उदाहरणार्थ मान लें, आपके घर के सामने राजा का एक महल है। आप वह महल खरीद लेते हैं। पहले उस महल के प्रति आपकी दृष्टि यह थी कि वह राजा का है। खरीद लेने के बाद वह दृष्टि बदल जाती है (आत्मपरकता पक्ष में)। महल (नाम-रूप) ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। अब दृष्टि यह हो गयी है कि महल अपना है। जीवन्मुक्त की दृष्टि भी ऐसी ही होती है। इस दृष्टान्त को बहुत आगे विस्तृत न करें। केवल एक बात समझाने के लिए यह दृष्टान्त है।

(१६) माता जानती है कि उसके बच्चे का पिता कौन है। इसी प्रकार अन्तर्यामी जानता है कि आपके मन में क्या-क्या है। सूई के गिरने की आवाज तक वह सुनता है, इसलिए उसे धोखा देने का प्रयत्न मत करें। यह असम्भव है। हो सकता है कि आप ९९ लोगों से असत्य बोलें, परन्तु कम-से-कम एक व्यक्ति तो ऐसा होना चाहिए जिससे आप सत्य बोल सकें। ऋजुता का विकास करें।

(१७) बार-बार अपने विचारों को स्पष्ट करें। विचार स्पष्ट रूप से करें। गम्भीर, एकाग्र सम्यक् विचार करें। एकान्त में आत्मावलोकन करें। अपने विचारों को यथेष्ट मात्रा में पवित्र बना लें। विचारों को शान्त कर लें। मन को उबलने मत दें। जिस प्रकार शल्य-चिकित्सालय में सहायक शल्य-चिकित्सक एक समय में एक ही रोगी को वरिष्ठ शल्य-चिकित्सक के परामर्श-कक्ष तथा बहिरङ्ग शल्य-कर्म-गृह में प्रवेश करने देता है उसी प्रकार मन से एक विचार की लहर उठने दें और उसे शान्त हो जाने दें; तब दूसरे विचार को प्रवेश करने दें। जिस विषय पर आप एक समय में विचार करते हैं उससे असम्बद्ध सारे बाह्य विचारों को दूर भगा दें। सफल धारणा तथा ध्यान के लिए दीर्घकालीन अभ्यास द्वारा विचारों पर कार्यक्षम नियन्त्रण अपरिहार्य आवश्यक है। इस बात पर ध्यान दें।

(१८) शुद्ध विश्व-प्रेम और व्यापक सहानुभूति का विकास करें। सहानुभूति आपके कष्ट को क्षीण बनाती है। मानव-जाति का प्रेम आपके सङ्कीर्ण व्यक्तिगत प्रेम को मिटा देता है। मानव-जाति का प्रेम ही भगवत्प्रेम है। मानव-जाति की सेवा ही प्रभु की सेवा है; क्योंकि सृष्टि में ईश्वर के सिवा कुछ नहीं है, ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है, अपने आत्म-स्वरूप से इतर अन्य कुछ नहीं है। उन सबको अपने से भिन्न समझना अज्ञान है। आप और मैं, विषय और विषयी दोनों तत्त्वतः एक हैं—सदा इसका स्मरण रखें, इसका अनुभव करें। इससे अपूर्व तथा अनन्त सुख मिलेगा। दूसरों की सेवा करते हैं तो आप अपनी ही सेवा करते हैं। दूसरों की सहायता करते हैं तो आप अपनी ही सहायता करते हैं। दूसरों को खिलाते हैं तो आप अपने को ही खिलाते हैं। यह एक परम रहस्य है। इस परम शिक्षा को ग्रहण करने में लाखों जन्म लगते हैं। भ्रामक माया के कारण आप यह भूल जाते हैं। जो विवेकी हैं, जो विचारवान् हैं, वे सदा स्मरण रखते हैं। आपका प्रेम जितना महान् और जितना विशुद्ध होगा और दूसरों के प्रति आप जितना अधिक भावनावान् बनेंगे, उतना ही आप ईश्वर के प्रिय बनेंगे; अध्यात्म-क्षेत्र में उतनी ही ऊँची आपकी स्थिति होगी। तब आप मनुष्य नहीं रह जायेंगे, दिव्य प्रकृति के बन जायेंगे, आपको दैवी सम्पत् या दैवी प्रकृति प्राप्त होगी।

(१९) विश्व-प्रेम का विकास करें। विश्वात्मा के साथ तादात्म्य करें। स्वार्थपरता तथा क्षुद्रमस्कता नष्ट करें। विकसित हों। जागें। उठें। अपनी अकर्मण्यता, उदासीनता उतार फेंकें। एकत्व तथा मैत्री का जीवन-यापन करें। गुप्त शक्तियों को अभिव्यक्त करें। निश्चयपूर्वक कहें। स्वीकार करें। आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करें। सुन्दर भविष्य आपकी प्रतीक्षा कर रहा है।

(२०) भले ही आप समस्त संसार के सम्राट् बन जायें; किन्तु जब तक आपमें चिन्ता, परेशानी, उत्सुकता, भय, काम-वासना, लोभ तथा कामना हैं तब तक आप सच्ची शान्ति और सुख नहीं भोग सकते हैं। सहस्रों सन्ताप-हेतु तथा सैकड़ों भय-हेतु अज्ञानी व्यक्ति को प्रतिदिन अभिभूत किये रहते हैं। एकमात्र आत्मज्ञान ही सच्ची शान्ति, सुख तथा अमरत्व प्रदान कर सकता है। अतएव माया को पराजित कीजिए। ध्यान द्वारा आत्मसाक्षात्कार कीजिए। तब आप वास्तव में सम्राटों के सम्राट् बन जायेंगे।

द्वितीय भाग

ध्यानाभ्यास

१४. गुलाब के फूल पर ध्यान

किसी स्थूल विषय या भावात्मक विचार पर मन को स्थिर करने का नाम धारणा है। ध्यान धारणा से सिद्ध होता है। जिस विषय पर मन को एकाग्र करते हैं, तद्विषयक अखण्ड, अटूट सतत विचार-प्रवाह का नाम ध्यान है। अभ्यासहीन चित्त के लिए प्रारम्भ में किसी विषय का स्थूल ध्यान आवश्यक होता है। एक कमरा ऐसा हो जो ध्यान के लिए ही नियत हो; उसमें पद्मासन, सिद्धासन अथवा सुखासन पर बैठिए और गुलाब के फूल का ध्यान कीजिए अर्थात् गुलाब के फूल का रङ्गों रूप, उसके विभिन्न अङ्गों—दल, डण्ठल, पराग आदि—पर ध्यान कीजिए; श्वेत, पीत, रक्त आदि विविध गुलाबों का ध्यान कीजिए; गुलाब-जल, गुलाब-अर्क, इत्र, गन्ध, गुलकन्द आदि गुलाब से निर्मित विभिन्न वस्तुओं पर ध्यान कीजिए; यह ध्यान कीजिए कि गुलाब-जल का उपयोग नेत्र-प्रदाह में होता है, गुलकन्द का उपयोग कब्ज-निवारण में होता है, गुलाब के फूल और फूलमाला का उपयोग भगवदर्चना में तथा शिर के बालों की सजावट के रूप में होता है। फिर उसके विभिन्न गुणों का ध्यान कीजिए, जैसे शरीर में उससे ठण्ढक पहुँचती है, उसमें वायु-विकार का नाश करने की शक्ति है, गुलाब एवं गुलाब की मालाएँ बड़ी मूल्यवान् होती हैं। अब उन स्थानों का ध्यान कीजिए, जहाँ गुलाब अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। इस प्रकार गुलाब से सम्बन्ध रखने वाली और भी

अनेक बातों पर ध्यान कीजिए। गुलाब के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ से सम्बन्धित विचार ध्यान में न आने पायें। इस प्रकार के स्थूल विषय पर ध्यान के अभ्यास से चित्त सूक्ष्म ध्यान करने के योग्य हो जाता है। इसका अभ्यास एक महीना-भर प्रतिदिन प्रातः पाँच बजे आधा घण्टा कीजिए।

१५. भैंस पर ध्यान

नर्मदातीरवर्ती ओङ्कारेश्वर के कृष्णचैतन्य नामक एक ब्रह्मचारी ने श्री रामाचार्य के पास जा कर प्रार्थना की कि वे उसे ध्यान-प्रक्रिया सिखायें। श्री रामाचार्य ने कहा : "हे कृष्ण ! तुम श्रीकृष्ण भगवान् की उस मूर्ति का ध्यान करो जो मुरलीधर है, पैर तिरछे रख कर खड़ा है, विशाल सूर्यमण्डल के मध्य तुम्हारे हृदय-कमल में स्थित है और प्रसिद्ध कृष्ण-मन्त्र **'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'** का मानसिक जप करो।" कृष्णचैतन्य ने कहा : "गुरु जी ! मैं बिलकुल मन्द-बुद्धि हूँ। मुझसे यह नहीं होगा। यह मेरे लिए बड़ा कठिन है। मन्त्र भी बहुत ही लम्बा है। कृपया मुझे और कोई सरल पद्धति बतलाइए।"

रामाचार्य ने कहा : "कृष्णचैतन्य ! डरो नहीं। मैं तुम्हें सरल पद्धति बताता हूँ। सुनो। अपने सामने श्रीकृष्ण की पीतल की छोटी-सी सुन्दर मूर्ति रख लो। पद्मासन में बैठो। स्थिर दृष्टि से उस मूर्ति को देखो। मूर्ति के हाथ, पैर आदि विभिन्न अङ्गों को ध्यान से देखो। किसी अन्य वस्तु की ओर न देखो।" कृष्ण ने कहा : "गुरु जी ! यह तो और भी कठिन हैं; पलथी लगा कर बैठना बड़ा कठिन है। इससे पिण्डली दुखती है। पीड़ा की ओर ध्यान जाता है, तब मूर्ति की ओर दृष्टि नहीं जाती। मुझे स्थिर बैठना है, ध्यान से मूर्ति को देखना है और उसके प्रत्येक अङ्ग का अवलोकन करना है। मैं एक समय में एक से अधिक काम नहीं कर सकता और दो वस्तुओं से अधिक स्मरण नहीं रख सकता। हे गुरु महाराज ! मुझे कोई बहुत ही सुगम मार्ग बताइए।"

रामाचार्य ने कहा : "चैतन्य ! सामने अपने पिता जी का चित्र रख लो। उसके सामने चाहे जिस आसन में बैठो। थोड़ी देर तक उस आकृति को केवल देखते रहो।" कृष्णचैतन्य ने उत्तर दिया : "गुरु जी ! मेरे स्वामी ! यह भी कठिन है; क्योंकि मुझे अपने पिता जी से बड़ा डर लगता है। वे बड़े भयङ्कर हैं। वे मुझे खूब पीटते थे। उनके उस रूप के स्मरण से ही मैं काँप उठता हूँ, पैर लड़खड़ाने लगते हैं। यह मेरे लिए कदापि उपयुक्त न होगा। मैं तो यह कहूँगा कि यह तो पहले वालों से भी अधिक कठिन है। अतः गुरु जी ! मेरी प्रार्थना है कि कृपा कर इस बार बहुत ही सुगम विधि बतलाइए। मैं अवश्य उसका अभ्यास करूँगा।"

रामाचार्य ने पूछा:"कृष्ण ! मुझे अब बताओ कि तुम्हें सबसे अधिक प्रिय क्या वस्तु लगती है ?" कृष्ण ने कहा: "गुरु जी ! मैंने घर में एक भैंस पाल रखी थी। उससे मुझे खूब दूध, दही तथा घी मिलता था। मुझे वह सबसे अधिक प्रिय है। उसका स्मरण मुझे सदा आता रहता है।" तब रामाचार्य ने कहा : "कृष्ण ! तुम इस कमरे में जाओ, दरवाजा बन्द कर लो। एक कोने में चटाई पर बैठ कर अपने मन को दूसरी चीजों से हटा कर उस भैंस का ही सतत ध्यान करो और अन्य कोई बात न सोचो। इस समय ही इसका अभ्यास करो।"

अब कृष्णचैतन्य बड़ा प्रसन्न हुआ। वह प्रफुल्ल तथा प्रसन्न मन से कमरे में गया, गुरु के आदेशों का अक्षरशः पालन किया तथा गम्भीरता से एकाग्रतापूर्वक अपनी भैंस का ध्यान करने लगा। वह लगातार तीन दिनों तक अपने आसन से नहीं उठा।

वह खाना-पीना भूल गया। उसे अपने शरीर का और परिस्थितियों का भान नहीं रहा। वह केवल भैंस के विचार में गम्भीरता से तल्लीन रहा। तीसरे दिन रामाचार्य कृष्णचैतन्य की स्थिति देखने के लिए उसके कमरे में गये और देखा कि वह ध्यान में मग्न है। जोर से आवाज दे कर गुरु जी ने पूछा : "क्यों कृष्ण ! कैसा लग रहा है ? बाहर आओ, खाना खा लो।" कृष्ण ने उत्तर दिया : "गुरु जी ! आपके प्रति मैं बड़ा कृतज्ञ हूँ। इस समय मैं गम्भीर ध्यान में हूँ। अब मैं बाहर नहीं आ सकूँगा। मैं बहुत बड़ा हूँ। मेरे शिर पर सींग निकल आये हैं। इस छोटे से दरवाजे से मैं निकल नहीं सकता। मैं भैंस को बहुत चाहता हूँ। मैं स्वयं भैंस बन गया हूँ।"

रामाचार्य ने देखा कि कृष्ण का मन एकाग्रता को प्राप्त कर चुका है और अब वह समाधि के योग्य हो गया है। उन्होंने कहा : "कृष्ण ! तुम भैंस नहीं हो। अब अपना ध्यान बदल दो। भैंस के नाम और रूप को भूल जाओ और उस नाम-रूप के पीछे निहित सारतत्त्व का ध्यान करो, जो सच्चिदानन्द है, जो तुम्हारा ही निज-स्वरूप है।" कृष्णचैतन्य ने अपने ध्यान की प्रक्रिया बदल दी और गुरु जी के उपदेश पर चल कर जीवन के ध्येय-रूप कैवल्य मुक्ति को प्राप्त कर लिया।

उपर्युक्त कथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसी वस्तु पर ध्यान करना सुगम होता है जो हमारे मन को सबसे अधिक प्रिय हो।

पतञ्जलि महर्षि ध्यान के अनेक प्रकार बताते हैं। जैसे—**"विशोका वा ज्योतिष्मति**—हृदय-कमल में स्थित ज्योतिष्मान् वस्तु का, जो कि शोक-रहित है, ध्यान करो" (१-३६)। **"वीतरागविषयं वा चित्तम्**—उस चित्त का ध्यान करो जो ऐन्द्रिक विषयों से अनासक्त है" (१-३७)। **"स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा**—स्वप्न तथा निद्रावस्था में अनुभव किये जाने वाले ज्ञान का ध्यान करो" (१-३८); और उन्होंने अन्त में **"यथाभिमतध्यानाद्वा**—अथवा जो तुम्हें प्रिय हो, उसका ध्यान करो" (१-३९) सूत्र प्रस्तुत किया है। जो विषय मन को अत्यन्त प्रिय हो, उसका ध्यान करना सुगम होता है।

१६. महात्मा गान्धी पर ध्यान

अपने ध्यान-कक्ष में जाइए। पद्मासन पर बैठिए। गान्धी जी के रङ्ग, रूप, आकार, ऊँचाई आदि का ध्यान कीजिए। इंग्लैण्ड में उनका अध्ययन; अफ्रीका में उनकी वकालत; अफ्रीकी भारतीयों की स्थिति सुधारने की उनकी राजनैतिक प्रवृत्ति; भारत में उनका उत्कट असहयोग-आन्दोलन; उनकी चरखा और खादी की प्रवृत्तियाँ; देश-भर में खादी को लोकप्रिय बनाने का उनका व्यापक प्रचार; हिन्दू-मुसलिम एकता के अथक प्रयत्न; पतित अस्पृश्यों के उत्थान का कार्य; उनके भव्य आदर्श तथा श्लाघनीय सिद्धान्त; उनका त्यागमय जीवन, संन्यास-वृत्ति; उनका त्याग और कठोर तपश्चर्या का जीवन, उनका आहार-सम्बन्धी संयम; मानसिक ब्रह्मचर्य की निरन्तर साधना; वाणी, कर्म तथा विचारों में अहिंसा और सत्य का आदर्श; उनकी पत्रकारिता की सहज लेखन-क्षमता; अँगरेजी, हिन्दी तथा गुजराती में उनकी कई उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन; उपयोगी आश्रम की स्थापना जहाँ उत्तम कर्मयोगियों का प्रशिक्षण चलता है; उनकी दृढ़ सङ्कल्प-शक्ति तथा उनके अन्यान्य सद्गुणों का ध्यान कीजिए। कोई दूसरा विचार मन में नहीं आने देना चाहिए। मन भागता हो तो उसे खींच लाइए और उसे उपर्युक्त विचारों में स्थिर कीजिए। दो मास तक प्रतिदिन आधा घण्टा तक इसका अभ्यास कीजिए। आपको ध्यान की ठीक विधि ज्ञात हो जायेगी।

१७. विराट् पुरुष का ध्यान

अपने ध्यान-कक्ष में पद्मासन अथवा सिद्धासन पर बैठिए और प्रतिदिन आधे घण्टे तक निम्नाङ्कित विचारों का ध्यान कीजिए। यह प्राथमिक साधकों के लिए छः महीने के तक करने योग्य स्थूल ध्यान-प्रक्रिया है।

(१) स्वर्ग उसका शीर्ष है।
(२) पृथ्वी उसका पाद है।
(३) दिशाएँ उसके हाथ हैं।
(४) सूर्य-चन्द्र उसके नेत्र हैं।
(५) अग्नि उसका मुख है।
(६) धर्म उसका पृष्ठ है।
(७) वनस्पति उसके केश हैं।
(८) पर्वत उसकी अस्थियाँ हैं।

(९) सागर उसका मूत्राशय है।

(१०) नदियाँ उसकी नाड़ियाँ हैं।

इतना करने पर चित्त विकसित होगा। तब भगवान् राम, कृष्ण या शिव के रूप में सगुण ध्यान आरम्भ कीजिए। इस प्रकार का ध्यान एक वर्ष तक कीजिए। उसके पश्चात् ब्रह्म के निर्गुण ध्यान का आश्रय लीजिए। इन विभिन्न प्रणालियों से अभ्यास करने पर चित्त सूक्ष्म ध्यान के योग्य बनेगा, सूक्ष्म विचार का ध्यान करने की क्षमता उसमें आयेगी।

१८. भजनों पर ध्यान

यदि आप गायन-कला में निपुण हैं तो एकान्त स्थान में जाइए, जी-भर कर मधुरता से गाइए तथा अपने हृदय-स्थल से राग-रागिनियों को दिल खोल कर निकालिए। अपने को, अतीत को तथा परिस्थितियों को भूल जाइए। यह एक सरल उपाय है। कुछ स्तोत्र, भजन और दार्शनिक गीत चुन लीजिए। तुकाराम के अभङ्ग, गुजराती में आखा भगत के गीत, तमिल में तायुमान स्वामी के भजन और तेवारम, हिन्दी में ब्रह्मानन्द-भजनमाला इसके लिए विशेष उपयुक्त हैं। बङ्गाल के एक प्रसिद्ध सन्त रामप्रसाद ने इस विधि से साक्षात्कार किया था। रावण ने अपने शरीर के स्नायुओं के तन्तुओं की वीणा के साथ साम-गान के द्वारा भगवान् शिवजी को प्रसन्न किया था। सङ्गीत के विषय में शेक्सपियर के विचार सुनिए : "जो मनुष्य सङ्गीत नहीं जानता या सुमधुर सङ्गीत से आनन्दित नहीं होता वह द्रोह, छल और सर्वनाश कर सकता है। उसकी भावनाएँ अन्धकार के समान कालिमायुक्त होती हैं और उसका प्रेम अधोलोक के समान तमिस्र होता है। ऐसे व्यक्ति पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए।" देखिए, गायन-विद्या का महत्त्व !

गायन के द्वारा हम अपने मन को समस्त विषयों से हटा सकते हैं। गायन मन को तुरन्त उन्नत तथा विकसित कर देता है। विकसित मन को सगुण या निर्गुण ब्रह्म में स्थिर करना बहुत ही सरल है। इसमें आवश्यकता केवल गायन-कला तथा सुरुचि की है, जिसके साथ चित्तशुद्धि और एकाग्रता का अभ्यास जुड़ा हो।

१९. गीता-श्लोकों पर ध्यान

भगवद्गीता के कुछ प्रमुख श्लोकों को कण्ठस्थ कर लीजिए। आसन पर बैठ कर मन में उनका पारायण कीजिए। (१) गीता के द्वितीय अध्याय में 'आत्मा की अमरता' से सम्बन्धित कुछ प्रमुख श्लोक हैं। इन विचार-शृंखलाओं पर आप ध्यान कर सकते हैं। आपको यह अभ्यास अत्यन्त उपयोगी प्रतीत होगा। (२) द्वितीय अध्याय में वर्णित स्थितप्रज्ञावस्था के लक्षणों का ध्यान कीजिए। (३) षष्ठ अध्याय के

ध्यानयोग के फल की विचार-शृंखला पर ध्यान कीजिए। (४) षष्ठ अध्याय में वर्णित चित्त-समता की अवस्था के विचारों का ध्यान कीजिए। (५) त्रयोदश अध्याय में वर्णित ज्ञानी के लक्षणों का ध्यान कीजिए। (६) षोडश अध्याय में वर्णित दैवी सम्पत्तियों का ध्यान कीजिए। (७) एकादश अध्याय में वर्णित विश्वरूपदर्शन-सम्बन्धी विचारों का ध्यान कीजिए। (८) द्वादश अध्याय में **"यो मद्भक्तः सः मे प्रियः"** वाले भक्त-लक्षणों का ध्यान कीजिए। (९) चतुर्दश अध्याय में वर्णित 'गुणातीत' पुरुष के लक्षणों का ध्यान कीजिए। मैंने आपके सम्मुख कुछ विचार-शृंखलाएँ प्रस्तुत की हैं। इनमें से किसी एक को, जो आपको प्रिय लगे, चुन लीजिए। आप एक के बाद दूसरा विचार भी ले सकते हैं।

२०. गायत्री-ध्यान

गायत्री वेदों की माता है। यह चराचर के स्वामी ईश्वर की प्रतीक है। गायत्री-मन्त्र के जप से चित्त-शुद्धि होती है जिसके बिना आप अध्यात्म-मार्ग में कुछ भी नहीं कर सकते, आध्यात्मिक उन्नति का लेशमात्र भी प्राप्त नहीं कर सकते। गायत्री एक प्रभावशाली विश्वजनीन प्रार्थना है। यह ब्रह्म-गायत्री के नाम से भी प्रसिद्ध है।

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्।

ॐ	—परब्रह्म
भूः	—भूलोक
भुवः	—अन्तरिक्ष
स्वः	—स्वर्गलोक
तत्	—ब्रह्म, परमात्मा
सवितुः	—ईश्वर, विधाता
वरेण्यः	—पूजनीय
भर्गः	—अज्ञाननाशक
देवस्य	—महिमा
धीमहि	—हम ध्यान करते हैं
धियः	—बुद्धि
यः	—जो
नः	—हमारी
प्रचोदयात्	—प्रेरणा दे।

प्रथम वाक्य ऋग्वेद के ऐतरेयोपनिषद् में है। द्वितीय वाक्य यजुर्वेद के बृहदारण्यकोपनिषद् में है। तृतीय वाक्य सामवेद के छान्दोग्योपनिषद् में और चतुर्थ अथर्ववेद के माण्डूक्योपनिषद् में है।

पहला लक्षण-वाक्य है जो ब्रह्म के लक्षण का प्रतिपादन करता है और तद्बोध-ज्ञान प्रदान करता है। दूसरा अनुभव-वाक्य है जो साक्षिज्ञान देता है। तीसरा उपदेश-वाक्य है। गुरु शिष्य को उपदेश देते हैं। यह शिवज्ञान प्रदान करता है। चौथा साक्षात्कार-वाक्य है जो ब्रह्मज्ञान प्रदान करता है। आप इसमें से कोई भी महावाक्य चुन सकते हैं और उस पर ॐ के समान ही ध्यान कर सकते हैं।

'अहं ब्रह्मास्मि' का ध्यान

मन से **'अहं ब्रह्मास्मि'** का जप करते समय सदा ऐसी भावना कीजिए कि आप शुद्ध, सत्-चित्-आनन्द व्यापक आत्मा हैं। कोरा जप निरर्थक है। प्रत्यक्ष हृदय में वैसी भावना होनी चाहिए। इसी से आगे चल कर अनुभूति के उच्च स्तरों तक पहुँचा जा सकेगा।

कम्बल को चार तह कर बिछा दीजिए और उस पर अपने आसन में पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख बैठ कर सतत ध्यान कीजिए :

(१) मैं अनन्त ज्योति हूँ।
(२) मैं सर्वशक्तिमान् हूँ।
(३) मैं सर्वज्ञ हूँ।

२२. श्वास पर धारणा

पद्म, सिद्ध अथवा सुखासन पर पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके बैठिए। अपने गुरु और श्रीगणेश को नमस्कार कीजिए। (**ॐ श्रीसद्गुरवे नमः, ॐ श्रीगणेशाय नमः**)। आसन में स्थिर रहिए। अब अपने मन को श्वासोच्छ्वास पर जमाइए। जीवात्मा दिन-रात २१,६०० बार **'सोऽहम्'**-मन्त्र का जप कर रहा है। योग के अनुसार मनुष्य की आयु **सोऽहम्**-श्वासों में निश्चित होती है, वर्षों में नहीं। प्राणायाम के द्वारा आप **सोऽहम्**-रूपी श्वासों की रक्षा करते हैं और इस भाँति अपने जीवन को प्रवर्धित करते तथा दीर्घायुष्य प्राप्त करते हैं। यदि आप ध्यानपूर्वक देखें तो श्वास लेने और त्यागने के समय क्रमशः **'सो'** और **'अहम्'** की ध्वनि होती है। **'सोऽहम्'** ही जीवनी-शक्ति है। ॐ आत्मा है। यही इनमें अन्तर है। **'सोऽहम्'** का अर्थ है—"मैं **वह हूँ**" अर्थात् मैं वह ब्रह्म हूँ। '**स**' तथा 'ह' व्यञ्जनों को निकाल देने पर यह **'ॐ'** बन जाता है। अब **'सोऽहम्'** पर धारणा करें। इतर भाव मन में न आने दें। आप देखेंगे कि ज्यों-ज्यों धारणा में दृढ़ता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों आपका श्वास बहुत ही मन्द होता जाता है। श्वास लेते समय **'सो'** और श्वास छोड़ते समय **'हम्'** का उच्चारण मन में करें। जब आप गम्भीर धारणा में प्रवेश करेंगे तो यह **'सोऽहम्'** शब्द भी छूट जायेगा। आप शान्त, समाहित तथा आनन्द की अवस्था में होंगे। आप समाधि-अवस्था में प्रवेश करेंगे।

२३. 'सोऽहम्' पर ध्यान

यह भी **'ॐ'** के ध्यान के समान ही है। कुछ लोग संयुक्त मन्त्र—**हंसः सोऽहम्—सोऽहम् हंसः**—का जप करते हैं। **सोऽहम्** ध्यान करने से पहले **नाहं** का जप करते हुए नेति-नेति का अभ्यास करना होता है। **नाहं** का आशय है 'मैं यह शरीर नहीं हूँ।' **सोऽहम्** का अर्थ है—'मैं वह हूँ।' 'मैं ब्रह्म हूँ' इस मन्त्र का मानसिक जप कीजिए। आपको पूर्ण अन्तःकरण से यह भावना करनी है कि मैं सर्वव्यापक आत्मा हूँ। पूर्ण हृदय से, पूर्ण चित्त से, पूर्ण बुद्धि से और अन्तरात्मा की गहराइयों से यह भावना होनी चाहिए। तभी **सोऽहं**-मन्त्र का पूर्ण लाभ प्राप्त हो सकेगा। यह ध्यान चौबीसों घण्टे करना चाहिए। बुद्धि यह सोचे कि 'मैं ब्रह्म हूँ, मैं सर्वशक्तिमान् हूँ' और चित्त यह सोचे कि 'मैं उच्च न्यायालय का लिपिक हूँ, मैं दुर्बल हूँ, मैं निराश हूँ, अपनी बेटी के विवाह के लिए धन कहाँ से लाऊँ? मुझे भय है कि कहीं न्यायाधीश मुझे अर्थ-दण्ड न दे दें' तो आत्मसाक्षात्कार असम्भव है। सभी कुसंस्कारों, मिथ्या कल्पनाओं, दुर्बलताओं और भ्रान्तियों को समाप्त करना होगा। कोई बाधा आ जाये और आपको धर दबोचे, तब भी आपको दृढ़ता से यही कहना है : **"सोऽहं, सोऽहं, सोऽहं।** मैं यह देह नहीं हूँ।" तभी आप सच्चे वेदान्ती हैं। चित्त ने, अविद्या ने आपको बिगाड़ा है। मन ने आपको सीमित नहीं कर रखा है। अविद्या ने मन के साथ तादात्म्य के द्वारा यह सीमाबद्धता लायी है। अज्ञान का आवरण हटाइए। **सोऽहं**-मन्त्र के बल पर सच्चिदानन्द ब्रह्म में स्थिर हो जाइए।

२४. सगुण ध्यान

रूप-विशेष का ध्यान सगुण ध्यान कहलाता है। अपनी रुचि या स्वभाव के अनुरूप शिव, विष्णु, राम अथवा कृष्ण की मूर्ति चुन लीजिए, जो आपको अत्यन्त प्रिय हो अथवा अपने गुरु के निर्देश का पालन करें। गुरु आपके लिए कोई इष्टदेव चुन देंगे। वह इष्ट आपको मार्ग दिखायेगा। शर-सन्धान करने वाला पहले स्थूल तथा बड़े लक्ष्य को ले कर बाण चलाता है। उसके बाद कोई मध्यम लक्ष्य अपनाता है। अन्त में वह सूक्ष्म लक्ष्य को बेधता है। ठीक उसी प्रकार साधक को प्रारम्भ में सगुण ध्यान करना चाहिए और चित्त के भली-भाँति प्रशिक्षित तथा अनुशासित हो जाने पर वह

निर्गुण, निराकार ध्यान कर सकता है। स्थूल विषय का ध्यान सगुण ध्यान है। सूक्ष्म विषय का ध्यान निर्गुण ध्यान है। सगुण उपासना से विक्षेप दूर होता है। तीन या छः महीने तक किसी चित्र पर त्राटक कीजिए।

छः महीने तक त्राटक का अभ्यास करने के बाद त्रिकुटी पर (भ्रूमध्य भाग पर) मूर्ति के मानसिक चित्र का आधे घण्टे से दो घण्टे तक ध्यान कीजिए। फिर यह अनुभव कीजिए कि विश्व की समस्त वस्तुओं में आपका अपना इष्टदेव विराजमान है। उनमें उनके दर्शन कीजिए। ध्यान के समय मन-ही-मन इष्टदेव के मन्त्र का जप कीजिए। इष्टदेव के सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता आदि गुणों का चिन्तन कीजिए। अनुभव कीजिए कि सात्त्विक गुण इष्टदेव से आपकी ओर प्रवाहित हो रहे हैं और वे सात्त्विक गुण आपमें वर्तमान हैं। यह सात्त्विक या शुद्ध भावना है। इस साधना को निष्ठापूर्वक करने से वर्ष-दो-वर्ष में इष्टदेव के दर्शन हो सकते हैं। इस योजना पर चलिए। इससे एकाग्रता की साधना में सहायता मिलती है। मूर्ति के विभिन्न अङ्गों को मन से निरखते जाइए। मान लीजिए, चतुर्भुज विष्णु की मूर्ति सामने है और उस पर निम्न प्रकार से ध्यान कीजिए। त्राटक का अभ्यास सगुण ध्यान में बहुत ही उपयोगी है।

ध्याये: सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती
नारायण: सरसिजासनसन्निविष्ट:
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपु: धृतशङ्खचक्र:
गदापद्मधरो देवो द्वारकानिलयोऽच्युत:।

"भगवान् नारायण का, द्वारका के अविनाशी अच्युत का सदा ध्यान करें जो सूर्यमण्डल के मध्य स्थित है, कमलासन पर विराजमान है, केयूर, मकर-कुण्डल, किरीट और हार धारण किये हुए है, जिसका शरीर स्वर्णमय है तथा जो शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मधारी है।"

ध्यानावस्था में विष्णु के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का विचार कीजिए। मन-ही-मन पहले उनके चरणों को देखिए, फिर जानुप्रदेश देखिए। इसी क्रम से उनका पीताम्बर, हृदयदेश पर कौस्तुभमणि-जड़ित हार, कानों में मकर-कुण्डल, मुख-कमल, मस्तक पर मुकुट, दाहिने ऊपरी हाथ में चक्र, बायें ऊपरी हाथ में शङ्ख, दाहिने निचले हाथ में गदा और बायें निचले हाथ में कमल-पुष्प का ध्यान कीजिए। यह ध्यानक्रम है। फिर नीचे चरणों में जाइए और ऊपर तक इसी तरह ध्यान करते हुए चलिए। इस प्रक्रिया से चित्त बाह्य विषयों से विमुख हो जाता है।

पहले विराट् पुरुष का ध्यान करें, फिर सगुण रूप लें और अन्त में निर्गुण का ध्यान करें।

२५. निर्गुण ध्यान

यह निर्गुण ब्रह्म का ध्यान है। यह ॐ का ध्यान है। यह निराकार विषय का ध्यान है। पद्मासन पर बैठिए। ओङ्कार का मानसिक जप कीजिए। मन में निरन्तर उसका अर्थ-चिन्तन कीजिए। यह अनुभव कीजिए कि आप सर्वव्यापी अनन्त प्रकाश हैं; शुद्ध, सच्चिदानन्द व्यापक आत्मा हैं; नित्य-शुद्ध-सिद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म हैं। भावना कीजिए कि आप चैतन्य हैं; अखण्ड, परिपूर्ण, एकरस, शान्त, अनन्त, नित्य, अविकारी सत्ता हैं। यह विचार आपके कण-कण में, अणु-परमाणु में, नस-नस में और रग-रग में व्याप्त होना चाहिए, स्पन्दित होना चाहिए। ॐ का उच्चारण मात्र अधिक लाभकर नहीं होगा। वह हृदय से, बुद्धि से तथा आत्मा से निकलना चाहिए। आपको सर्वात्म भाव से यह अनुभव होना चाहिए कि आप सूक्ष्म, सर्वव्यापी, चैतन्य रूप हैं और यह भावना हर समय बनी रहनी चाहिए।

ॐ का मानसिक जप करते समय देह-भावना का निषेध करें। ॐ का उच्चारण करते समय यह भावना रखें :

मैं अनन्त हूँ	ॐ ॐ ॐ
मैं सर्वज्योति हूँ	ॐ ॐॐ
मैं सुखरूप हूँ	ॐ ॐ ॐ
मैं तेजोरूप हूँ	ॐ ॐ ॐ
मैं शक्तिरूप हूँ	ॐ ॐ ॐ
मैं ज्ञानरूप हूँ	ॐ ॐ ॐ
मैं आनन्दरूप हूँ	ॐ ॐ ॐ

उपर्युक्त विचारों का सतत चिन्तन कीजिए। उत्साह तथा लगन के साथ निरन्तर प्रयास इसमें परमावश्यक तत्त्व है। उपर्युक्त विचारों को मन-ही-मन अविराम गति से दोहराते जायें, तो साक्षात्कार होगा। आपको दो-तीन वर्षों में आत्म-दर्शन हो जायेगा।

निर्गुण ध्यान अथवा वेदान्तिक साधना में अत्यन्त महत्त्व रखने वाले दो तत्त्व हैं: एक इच्छा और दूसरा मनन। मनन से पूर्व श्रवण आता है। श्रवण का अर्थ है श्रुतियों का सुनना। मनन के बाद निदिध्यासन आता है। निदिध्यासन का अर्थ है उत्साह और लगन का निरन्तर बने रहना। गम्भीर ध्यान का नाम ही निदिध्यासन है। निदिध्यासन से साक्षात्कार अथवा अपरोक्षानुभूति होती है। जिस प्रकार खूब तपे हुए लोहे पर गिरने वाली पानी की बूँद लोहे में विलीन हो जाती है, उसी प्रकार चित्त तथा आभास

चैतन्य ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। चिन्मात्र, चैतन्य-मात्र शेष रह जाता है। वेदान्त-साधना के श्रवण, मनन और निदिध्यासन पतञ्जलि महर्षि के राजयोग के धारणा, ध्यान और समाधि के बराबर हैं।

उपासना, ध्यान तथा मन्त्र-जप में चित्त उपास्य या ध्येय का ही रूप धारण कर लेता है और उतने समय के लिए ध्येय अर्थात् इष्टदेवता की शुद्धि इसमें भी आ जाती है। सतत अभ्यास से चित्त में ध्येय-विषय सर्वथा भर जाता है, इतर विषयमात्र दूर हो जाता है, उसकी शुद्धि स्थायी बन जाती है और फिर मलिनता की ओर नहीं जाता है। जब तक मन का अस्तित्व है तब तक उसे एक-न-एक विषय चाहिए ही और वह साधना का विषय ऐसा हो जो शुद्ध हो।

मन्त्र-जप की जो ध्वनि है वह इस प्रकार सुमधुर तथा निरन्तर होनी चाहिए जो जप-विषय का अर्थात् देवता का साक्षात्कार करा सके। पुनः-पुनः उच्चारण करने से संस्कार-शक्ति के द्वारा मन्त्र में विधायक गतिशीलता निर्माण होती है।

समाधि में चित्त अपना भान भूल जाता है और ध्येय के साथ एकाकार हो जाता है, तदाकार-तद्रूप हो जाता है। ध्याता और ध्येय, उपासक और उपास्य, चिन्तक और चिन्त्य एक हो जाते हैं। विषयी और विषय, **अहम्** (मैं) और **इदम्** (यह), द्रष्टा और दृश्य, ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं। प्रकाश और विमर्श मिल कर एक हो जाते हैं। एकता, तद्रूपता, तदाकारता, एकात्मता, समता ही निर्विकल्प-समाधि हैं।

निर्विकल्प-समाधि के दो प्रकार हैं। एक वह जिसमें ज्ञानी समस्त विश्व को विचारों के सञ्चरण के रूप में, सत्तारूप में, अपने ही अस्तित्व के रूप में, ब्रह्मरूप में अपने ही अन्दर देखता है। वह स्वरूप-विश्रान्ति अर्थात् ब्रह्म में विश्राम करना कहलाता है। ब्रह्म विश्व को अपने अन्दर अपने ही सङ्कल्प या विवर्त के रूप में देखता है। ज्ञानी भी यही करता है। यह साक्षात्कार की परमोच्च भूमिका है। इस भूमिका में भगवान् श्रीकृष्ण, भगवान् दत्तात्रेय, श्री शङ्कराचार्य, ज्ञानदेव आदि पहुँचे थे।

"सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

—जो योगयुक्त पुरुष है वह अपने को समस्त भूतों में तथा समस्त भूतों को अपने में देखता है और वह सर्वत्र समदर्शी होता है" (गीता : ६-२९)। किन्तु जिसे साक्षात्कार प्राप्त नहीं हुआ है, वह विश्व को अपने से भिन्न, स्वतन्त्र तथा बाह्य वस्तु के रूप में देखता है। इसका कारण अविद्या है।

निर्विकल्प-समाधि का दूसरा प्रकार वह है जिसमें रज्जु-सर्प-न्याय से ज्ञानी की दृष्टि से विश्व लुप्त हो जाता है, वह शुद्ध निर्गुण ब्रह्म में अवस्थित होता है। राजयोगी

सविकल्प-समाधि से छूटने के बाद ब्रह्माकार-वृत्ति के द्वारा निर्गुण ब्रह्म में ज्ञानी की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

२६. भावात्मक ध्यान

(१) मैं सर्वत्व हूँ।

(२) मैं सर्वात्मक हूँ।

उपर्युक्त विचारों पर ध्यान कीजिए। इस ध्यान में शरीर और विश्व ब्रह्मरूप और ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति माने जाते हैं। यह सर्वथा असङ्गत विचार है कि ब्रह्म स्वयं आनन्दमय है और ब्रह्म का आविर्भाव-रूप यह विश्व दुःख-शोकमय है। यह निराशावाद त्याज्य है। समस्त दुःख और शोक के पीछे जो-कुछ है, वह जीव-सृष्टि है। ईश्वर की सृष्टि में कहीं कोई न्यूनता या दोष नहीं है। ईश्वर की सृष्टि दुःखदायी नहीं है, बल्कि वह तो मुक्ति में सहायक है। जीव-सृष्टि में अहङ्कार, काम, क्रोध, पर-अपर भाव, अहं-कर्तृत्व भाव आदि विकार होते हैं। यही सब दुःखों का कारण है। यह अज्ञान के कारण होता है जिसमें सीमित चित्त को आप अपना निज-स्वरूप समझ लेते हैं।

सर्वदा उपर्युक्त विचार को मन में दोहराते रहिए। ऐसी भावना कीजिए कि आप सर्वरूप हैं। भावना कीजिए कि समस्त शरीरों में आपकी शक्ति काम कर रही है। निरन्तर इन विचारों में लीन रहिए : "सारा विश्व मेरा शरीर है। सभी शरीर मेरे हैं। सभी कष्ट मेरे हैं। सभी आनन्द मेरे हैं।" ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, घृणा, अहङ्कार आदि नष्ट हो जायेंगे। भावनात्मक ध्यान की समाधि-अवस्था में ज्ञानी सम्पूर्ण विश्व को विचार-सञ्चरण के रूप में देखता है। वह सगुण और निर्गुण दोनों है।

२७. अभावात्मक ध्यान

(१) मैं देह नहीं हूँ।

(२) मैं चित्त नहीं हूँ।

(३) मैं सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ।

उपर्युक्त विचारों का सतत चिन्तन कीजिए। सदा चौबीसों घण्टे यह भावना कीजिए कि आप सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप हैं। देह-भाव को नकारिए। अनादि संस्कारों से उत्पन्न देहाध्यास को नष्ट करने के लिए निरन्तर साधना आवश्यक है। देह-भावना से यदि आप ऊपर उठ सकें, देह-वृत्ति का यदि आप अपने इच्छानुसार त्याग कर सकें तो आपकी तीन चौथाई साधना पूरी हो गयी। केवल थोड़ा ही बचा रहा। तब केवल 'परदा हटाना' भर रह गया, 'अज्ञान-आवरण नष्ट करना' शेष रह

गया। वह बड़ी सरलता से किया जा सकता है। चलते-फिरते, काम करते सदा-सर्वदा यह भावना कीजिए कि आप सर्वव्यापी अनन्त ब्रह्मस्वरूप हैं। यह अत्यन्त आवश्यक है। देह से अपने को अलग करने के लिए विचार, एकाग्रता और प्रयत्न तीनों एक-साथ चलने चाहिए। इस अभावात्मक ध्यान में ज्ञानी शुद्ध, निर्गुण ब्रह्म में ही वास करता है। उसे जगत् का भान रहता ही नहीं।

२८. सगुण तथा निर्गुण ध्यान

ईश, प्रश्न, कठ, तापनीय आदि उपनिषदों में निर्गुण ब्रह्मोपासना की प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन है। बादरायण ने ब्रह्मसूत्रों के एक अध्याय में ब्रह्म की गुणात्मकता का वर्णन किया है जिसमें ब्रह्म के ज्ञानानन्दादि-रूप भावात्मक गुणों का उल्लेख है। साथ ही उसे निरवयव, असीम, अवर्ण आदि कह कर उसकी निर्गुणात्मकता का भी वर्णन किया है। उस परम तत्त्व में दोनों प्रकार के गुण वर्णित हैं, फिर भी उस प्रकार के ब्रह्म का ध्यान निर्गुण-उपासना या निरुपाधिक ब्रह्म का ध्यान कहा जा सकता है। सगुण ब्रह्म तथा निर्गुण ब्रह्म की उपासना में प्रधान अन्तर इतना ही है कि सगुणोपासना में साधक मानता है कि वे सारे गुण ब्रह्म में वस्तुतः विद्यमान हैं, जबकि निर्गुणोपासना में साधक मानता है कि ब्रह्म की सगुणता या निर्गुणता दोनों उसके अनिवार्य लक्षण नहीं हैं, मात्र उसके परिचायक सहायक तत्त्व हैं। सुखमयता आदि गुण अपेक्षित ब्रह्म के लक्षण नहीं हैं, परन्तु उसके मूल स्वरूप को पहचानने के मात्र माध्यम हैं। सगुणोपासना में ये सारे गुण ब्रह्म के निज-स्वरूप में माने जाते हैं, अतः वे भी ध्यान के अङ्ग ही हैं।

निर्गुण कहने का यह अर्थ नहीं है कि ब्रह्म अभावात्मक तत्त्व है या सत्ता-रहित है या शून्य है। उसका अर्थ यही है कि जो गुण यहाँ मर्यादित रूप में हैं, वे ब्रह्म में अमर्यादित हैं, असीम हैं। उसका अर्थ यह है कि ये गुण ब्रह्म का निज-रूप ही हैं, ब्रह्मस्वरूप ही हैं। अर्थात् ब्रह्म के गुण विनाशी नहीं हैं। जिस प्रकार वस्त्र का रङ्ग उड़ जाता है, वैसा वह नहीं है; अपितु वह सम्पूर्ण कल्याण गुणों से परिपूर्ण है। ब्रह्म निर्गुण गुणी है। इसी प्रकार निराकार कहने का यह अर्थ नहीं है कि उसका कोई आकार ही नहीं है। उसका अर्थ है : जगत् के पदार्थों की भाँति ब्रह्म का कोई सीमित आकार नहीं है; अपितु उसका आकार अकल्पनीय है। जो अनन्त है, उसका आप कोई भी आकार कैसे मान सकते हैं? ब्रह्म के सम्बन्ध में कई लोग विचित्र कल्पना करते हैं। वे कहते हैं : "ब्रह्म एक चट्टान है; क्योंकि उसका कोई गुण नहीं है। वह शून्य है।" किन्तु नहीं। यह उनकी बड़ी भूल है। उन्होंने सद्विचार नहीं किया है। वे अनेक शङ्काओं से भरे हैं। उनकी बुद्धि स्थूल है; विचार, विवेक, वेदान्त-चर्चा, तर्क आदि के योग्य नहीं

है। उन्होंने निर्भ्रान्त उपनिषदों का, ज्ञान के वास्तविक साधन का, प्रज्ञा के सही स्रोत का अध्ययन नहीं किया जो ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप वर्णन करते हैं। उपनिषद् निर्दोष हैं, क्योंकि वे प्रत्येक विचारक और दार्शनिक की प्रज्ञा को पसन्द आते हैं। वे साक्षात्कार-प्राप्त आत्माओं की अनुभूति से मेल खाते हैं। अतएव उनमें कोई भ्रम नहीं है। उनके प्रमाण प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से बढ़ कर हैं। ब्रह्म तो परम सूक्ष्म है। वह बाल की नोक के हजारवें भाग से भी सूक्ष्म है। ब्रह्म का ध्यान करने और उसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए अत्यन्त सूक्ष्म, शान्त, शुद्ध, तीक्ष्ण, स्वच्छ और एकाग्र बुद्धि आवश्यक है। ये लोग संशय-भावना से पीड़ित हैं—इन्हें ब्रह्म के स्वरूप तथा उपनिषदों की वैधता पर ही संशय है। इनको निष्काम सेवा द्वारा चित्त को शुद्ध करना चाहिए, उपनिषदों का अध्ययन करना चाहिए, साधन-चतुष्टय को सिद्ध करना चाहिए तथा निरन्तर सत्सङ्ग करना चाहिए। तब उनमें ज्ञानोदय होगा, बुद्धि इन विचारों को ग्रहण करने योग्य होगी। श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन से वे ब्रह्म तक पहुँच सकते हैं। यह उत्तम मार्ग है। अस्तु, ब्रह्म समस्त कल्याण गुणों से परिपूर्ण है। वह ज्योतिर्मय है। वह प्रज्ञानघन है। वह हिमालय से भी बड़ा सघन है, ठोस है। ज्ञान बड़ी-से-बड़ी चट्टान से भी अधिक भारवान् और ठोस है।

सगुणोपासना में भक्त अपने को उपास्य देव से सर्वथा भिन्न मानता है। उपासक प्रभु को परिपूर्ण, अशेष, स्वैच्छिक आत्मार्पण करता है। वह प्रभु की आराधना करता है, प्रणाम करता है, उसको सर्वस्व मानता है और अपने खाने, पहनने और रक्षण तथा अपने अस्तित्व तक के लिए सर्वथा प्रभु पर निर्भर रहता है। किसी भी प्रकार की सहायता के लिए वह सदा अपने प्रभु की ओर देखता है। वह किसी भी अंश में स्वतन्त्र नहीं है। वह प्रभु के हाथों में निमित्त-मात्र है। उसके हाथ, पैर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, शरीर—सब प्रभु के हैं। भक्त कभी भी प्रभु में लीन होने की कामना नहीं करता। ज्ञान-मार्ग उसे पसन्द नहीं। वह परमेश्वर के सेवक के रूप में अपना अलग अस्तित्व रखना, ईश्वर की आराधना, स्तुति तथा अर्चा करना पसन्द करता है। ज्ञानी की भाँति वह स्वयं शक्कर बनना नहीं चाहता है, बल्कि शक्कर चखना और शक्कर खाना चाहता है। यह उपासना की पद्धति, संकुचन की पद्धति है। मान लीजिए, एक वर्तुल है और उसके केन्द्र में आप हैं। तब आप उस वर्तुल में सिमटे रहते हैं और उस परिधि के अन्दर सीमित रहते हैं। यह सगुण ध्यान है। भावना-प्रधान मनुष्यों के लिए यह पद्धति विशेष अनुकूल है। अधिकांश लोग इसी प्रकार की साधना के योग्य हैं।

निर्गुणोपासना में साधक अपने को ब्रह्मरूप मानता है। शरीर, चित्त, अहङ्कार आदि मिथ्या उपाधियों को वह मिटा देता है। वह आत्मनिर्भर होता है। वह निर्भीकतापूर्वक अपने अधिकार पर दृढ़ रहता है। वह मनन करता है, तर्क करता है,

खोज करता है, विवेक और विचार करता है तथा आत्मा का ही ध्यान करता है। वह शक्कर चखना नहीं चाहता, स्वयं शक्कर की डली बनना चाहता है। वह तल्लीनता चाहता है। वह ब्रह्माकार होना चाहता है। यह निम्न आत्मा के विस्तार की प्रक्रिया है। मान लीजिए, एक वर्तुल है। उसके बीच एक स्थान में कहीं पर आप अवस्थित हैं। साधना करते-करते आप इतने व्यापक हो जाइए कि सारे वृत्त को व्याप्त कर जायें, पूरे में भर जायें। जो व्यक्ति सूक्ष्म ज्ञान प्रधान हैं, सम्यक् प्रज्ञावान् हैं, दृढ़ और शुद्ध विवेकयुक्त हैं, प्रबल सङ्कल्पशक्ति वाले हैं उनके योग्य यह ध्यान-पद्धति है। बहुत बिरले ही इस ध्यान-मार्ग के सफल अनुयायी हो सकते हैं।

बन्द कमरे में, एकान्त में स्थिर बैठ कर **'अहं ब्रह्मास्मि'** का ध्यान करना अपेक्षाकृत सरल है; किन्तु भीड़ में रह कर, शरीर से काम करते समय इस भाव को बनाये रखना बहुत ही कठिन है। दिन में एक घण्टा आप ध्यान करें और अनुभव करें कि 'मैं ब्रह्म हूँ' और शेषः तेईस घण्टे यही सोचते रहें कि 'मैं शरीर हूँ' तो आपकी साधना नितान्त निरर्थक है और इससे इष्ट-सिद्धि नहीं हो सकती। अतः सदा यह विचार बनाये रखने का प्रयत्न कीजिए कि 'मैं ब्रह्म हूँ।' यह बहुत आवश्यक है।

सांसारिक मन का आमूल शोधन करने की, पूर्ण मनोवैज्ञानिक परिवर्तन करने की आवश्यकता है। धारणा तथा ध्यान से नव-चित्त का निर्माण होता है, विचार की नयी प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। ध्यानपरायण जीवन से सांसारिक जीवन से सर्वथा विपरीत है। वह सर्वाङ्गीण और आमूल परिवर्तित जीवन है। इसके लिए दीर्घकाल तक निष्ठा के साथ सतत और सुदृढ़ अभ्यास से समस्त पुराने विषय-संस्कारों को मिटाना होगा और नवीन आध्यात्मिक संस्कारों को अर्जित करना होगा।

दशम अध्याय

विशेष साधना

१. मौन

मौन चुप रहने का व्रत है। आध्यात्मिक जीवन के लिए यह परमावश्यक है। व्यर्थ बकवास तथा शेखीबाजी में बहुत अधिक शक्ति का अपव्यय हो जाता है। सारी शक्ति को सुरक्षित रखना चाहिए और उसे ओज-शक्ति में परिणत करना चाहिए। इससे आपको ध्यान में सहायता मिलेगी।

यदि परिस्थिति आपको मौन रखने न दे तो लम्बी बातचीत, जोर-जोर से बातचीत, गपशप, व्यर्थ की बातें, प्रत्येक प्रकार की अनावश्यक और निरर्थक बातें सब छोड़ दीजिए और यथासम्भव समाज से अपने को अलग कर लीजिए। यदि इस शक्ति को मौन द्वारा बचाये रखें तो ओज के रूप में इसका परिवर्तन हो सकता है जो आपकी साधना में अत्यधिक सहायक होगी। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार :

"तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि
भवन्ति यो मध्यमः स मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक्।

—खाया हुआ तेज तीन प्रकार का हो जाता है। उसका जो स्थूलतम भाग होता है वह अस्थि हो जाता है, जो मध्यम भाग है वह मज्जा हो जाता है और जो सूक्ष्मतम भाग है वह वाक् हो जाता है" (छा० : ६-५-३)। इस प्रकार वाणी में एक महान् शक्ति है। इस बात को स्मरण रखें। इसे सदा स्मरण रखें।

वर्ष-भर या छः महीने मौन रखिए। लगातार महीने-भर मौन रखना सम्भव न हो तो सप्ताह में कम-से-कम एक दिन मौन रखें, जैसे महात्मा गान्धी किया करते थे। श्री कृष्ण आश्रम महाराज गत आठ वर्षों से पूर्ण नग्नावस्था में हिमालय के हिमाच्छादित प्रदेश में रह रहे हैं; ऐसे महात्माओं से प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिए। वे कठोर काष्ठ-मौन-व्रत का पालन कर रहे हैं। काष्ठ-मौन में हम अपना विचार लिख कर या सङ्केतों से भी दूसरों को बता नहीं सकते। आप भी सुविख्यात और महिमामय श्री कृष्ण आश्रम क्यों न बनें !

इन्द्रियों के मौन हो जाने पर इसे इन्द्रिय-मौन या करण-मौन कहते हैं। यदि शरीर को स्थिर तथा अडिग रखें तो इसे काष्ठ-मौन कहते हैं। सुषुप्ति में सुषुप्ति-मौन रहता

है। वास्तविक मौन तो द्वैत तथा नानात्व के अन्त होने पर, वृत्तियों के निरोध होने पर ही होता है। यही महा मौन है। यही परब्रह्म है।

२. अन्तरङ्ग साधना

'अहं ब्रह्मास्मि' ध्यान की ओर प्रवृत्त कराने वाला निष्काम कर्मयोग बहिरङ्ग साधना कहलाती है। साधन-चतुष्टय की तुलना में श्रवण कर्म बहिरङ्ग साधन है। ये चतुर्विध साधन श्रवण की अपेक्षा बहिरङ्ग हैं। गुरु या ग्रन्थोक्त विचारों के मनन की तुलना में श्रवण बहिरङ्ग साधन है। निदिध्यासन अथवा **'अहं ब्रह्मास्मि'** तथा इसके अर्थ की भावना अन्तरङ्ग साधन है। मनन भी निदिध्यासन की तुलना में बहिरङ्ग साधन है। पतञ्जलि महर्षि के अष्टाङ्ग योग में भी बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग दोनों साधन हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार बहिरङ्ग साधन हैं तथा धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरङ्ग साधन हैं।

३. स्वर-साधना

उच्छ्वास-निःश्वास के सम्यक् ज्ञान से, स्वर-साधना अर्थात् श्वास-विज्ञान के समग्र अभ्यास से मनुष्य त्रिकालदर्शी होता है। यह विज्ञान गुह्यात् गुह्यतम है, रहस्यों का रहस्य है, सत्य अथवा ब्रह्म का प्रकाशक है, आनन्द एवं ज्ञान का प्रदाता है और यही मनीषियों का मुकुट-मणि है। यदि साधक में श्रद्धा, रुचि और नैष्ठिक अभ्यास की लगन हो तो यह बड़ी सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। अविश्वासियों पर उनका अद्भुत प्रभाव पड़ता है। स्वर के अन्तर्गत वेद और शास्त्र आते हैं। यह स्वर ब्रह्म का प्रतिरूप है। स्वर से बढ़ कर गूढ़तम ज्ञान, स्वर से बढ़ कर उपयोगी सम्पदा न आज तक कोई देखी गयी और न सुनी गयी। स्वर-शक्ति से मित्र बनाये जा सकते हैं।

शरीर के अन्दर अनेक आकार-प्रकार की नाड़ियाँ हैं। ज्ञानी को इन सबका ज्ञान होना चाहिए। साधकों को ज्ञान-प्राप्ति के लिए इन नाड़ियों का ज्ञान आवश्यक है। नाभि-कन्द से निकल कर ये नाड़ियाँ शरीर में ७२,००० शाखाओं में फैल जाती हैं। मूलाधार-चक्र में कुण्डलिनी-शक्ति सर्पवत् सोयी पड़ी है। उससे १० नाड़ियाँ ऊर्ध्व भाग में और १० नाड़ियाँ अधोभाग में निकलती हैं। इन सभी में तीन नाड़ियाँ—इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना प्रमुख हैं।

इड़ा मेरुदण्ड के बायीं ओर, पिङ्गला दायीं ओर तथा सुषुम्ना मध्य में है। इन सभी नाड़ियों से हो कर ही प्राण-शक्ति शरीर के विभिन्न भागों में सञ्चरित होती है। इड़ा बायें नासाछिद्र से, पिङ्गला दायें नासाछिद्र से और सुषुम्ना दोनों नासाछिद्रों से चलती है। इड़ा चन्द्रनाड़ी है, पिङ्गला सूर्यनाड़ी है। जीव **सोऽहं**-मन्त्र का निरन्तर जप करता रहता है। श्वासों पर ध्यान दीजिए। आप देखेंगे कि उच्छ्वास के समय **'सो'** का और निःश्वास के समय **'हम्'** का उच्चारण होता है। इड़ा और पिङ्गला की गति ध्यान से देखिए। प्राण तथा मन को शान्त रखिए। जो व्यक्ति सूर्य-चन्द्र नाड़ियों को ठीक स्थिति में रखते हैं उनके लिए भूत तथा भविष्य का ज्ञान हस्तामलकवत् बन जाता है।

इड़ा में श्वास अमृत-रूप में है। यह विश्व का पोषण करता है। दक्षिण से विश्व की सृष्टि होती है। मध्य में सुषुम्ना चलती है। चन्द्रनाड़ी के चलते शान्त और सूर्यनाड़ी के समय कठोर क्रिया करें। सुषुम्ना के चलते समय चैतसिक क्रियाएँ, योग और मुक्ति की साधना करें।

चन्द्र तथा सूर्य नाड़ियों में से प्रत्येक की अवधि पाँच घटिकाएँ हैं। दिन की ६० घटिकाओं में ये क्रमशः चलती रहती हैं। प्रत्येक घटिका में पाँच तत्त्व चलते हैं। दिन प्रतिपदा के आरम्भ से आरम्भ होते हैं। जब क्रम बदलता है तब उसका परिणाम भी बदलता है। शुक्ल पक्ष में बायीं नाड़ी और कृष्ण पक्ष में दायीं नाड़ी प्रबल होती है। प्रातः इड़ा आरम्भ हो कर दिन-भर चलती रहे और सन्ध्या को पिङ्गला आरम्भ हो कर रात-भर बनी रहे तो इसका फल बहुत उत्तम होता है।

सूर्योदय से सूर्यास्त तक दिन-भर इड़ा बायीं नासिका से और सूर्यास्त से सूर्योदय तक सारी रात पिङ्गला दायीं नासिका से श्वास चले। यह स्वर-साधना है। इसकी साधना करने वाला व्यक्ति महान् योगी है। इसका अभ्यास कीजिए। यह अमृत पान करने को तैयार हो जाओ, उठो। तमोगुण से निद्रा, आलस्य और प्रमाद के गुण तजो। व्यर्थ की बकवास, गपशप तथा परदोष-दर्शन का बुरा स्वभाव छोड़ो। कुछ उपयोगी कार्य करो। कुछ काम की बात करो।

अनुपयुक्त स्वर ही अनेक रोगों का कारण है। उपर्युक्त क्रम से सम्यक् स्वर का अभ्यास करने से स्वास्थ्य-लाभ होता है तथा दीर्घ जीवन की प्राप्ति होती है। निश्चय ही इससे आश्चर्यजनक लाभ होते हैं।

स्वर को कैसे बदलें

निम्नाङ्कित अभ्यास दिये जा रहे हैं जिनसे इड़ा से पिङ्गला में स्वर को बदला जा सकता है। अपने अनुकूल किसी भी विधि को चुन लीजिए। पिङ्गला से इड़ा में बदलने के लिए उसी अभ्यास को दूसरी ओर से करें।

(१) बायीं नासिका को महीन वस्त्र अथवा रुई से कुछ मिनट के लिए बन्द कर दीजिए।

(२) बायीं करवट दश मिनट लेट जाइए।

(३) सीधा बैठिए। बायें घुटने को ऊपर उठाइए और बायें नितम्ब के पास रखिए। बायीं काँख को घुटने से दबाइए। कुछ क्षणों में पिङ्गला चलने लगेगी।

(४) दोनों एड़ियों को परस्पर मिला कर दाहिने ऊपरी नितम्ब के पास रखिए। दाहिनी एड़ी बायीं एड़ी के ऊपर होनी चाहिए। बायीं हथेली को एक फुट की दूरी पर भूमि पर रखिए। आपके शरीर का भार बायें हाथ पर पड़ना चाहिए। शिर को भी बायीं ओर मोड़ लीजिए। दाहिने हाथ से बायें टखने को पकड़ लीजिए। यह प्रभावशाली विधि है।

(५) नौलि-क्रिया द्वारा भी स्वर-परिवर्तन किया जा सकता है।

(६) योगदण्ड (लगभग २ फीट लम्बे लकड़ी के दण्ड) के अँगरेजी के यू (U) अक्षर के आकार के सिरे को बायीं काँख के नीचे रखिए तथा उस पर भार दे कर बायीं ओर झुकिए।

(७) खेचरी-मुद्रा द्वारा स्वर के परिवर्तन में सर्वाधिक प्रभावशाली तथा तात्कालिक प्रभाव होता है। योगी जिह्वा को भीतर मोड़ कर जिह्वा के अग्रभाग से नासिका-रन्ध्र को बन्द कर देता है।

४. कुण्डलिनी-जागरण

कुण्डलिनी वह सर्पाकार शक्ति अथवा रहस्यमयी अग्नि है जो मूलाधार-चक्र में प्रसुप्त रहती है। यह गुप्त विद्युत्-शक्ति अथवा महान् आद्यशक्ति है जो सभी जड़ तथा चेतन पदार्थों के मूल में है। चक्र आध्यात्मिक शक्ति के केन्द्र हैं जो लिङ्ग शरीर में स्थित हैं। स्थूल शरीर में भी उन चक्रों के केन्द्र हैं जैसे बुद्धि जो लिङ्ग शरीर में है, स्थूल शरीर में मस्तिष्क उसका स्थान है।

राजयोगी लोग एकाग्रता तथा वृत्ति-निरोध से, भक्त लोग गुरुकृपा तथा भक्ति से, ज्ञानयोगी लोग आत्मविश्लेषण से तथा मन्त्रयोगी लोग मन्त्र से इसका उत्थान करते हैं।

जागते ही यह मूलाधार-चक्र का भेदन करती है। इसे विभिन्न चक्रों से सहस्रार में ले जाना चाहिए। कुण्डलिनी के जगते ही योगी मानसिक रूप से स्वर्ण-ज्योति के विशाल पिण्ड को देखता है जो उसके शरीर को आच्छादित कर लेता है मानो उसे नष्ट कर डालेगा। उसे किञ्चित् भी भयभीत नहीं होना चाहिए। योगी विभिन्न चक्रों पर विविध कोटि के आनन्द तथा सिद्धियाँ अनुभव करता है। परम निर्भयता, सूक्ष्म दर्शन, मानसिक दर्शन, विज्ञान-दर्शन, सिद्धियाँ तथा आध्यात्मिक आनन्द कुण्डलिनी-जागरण के लक्षण हैं। कुण्डलिनीयोग की साधना सावधानीपूर्वक करनी चाहिए। स्थानाभाव के कारण इस पुस्तक में विविध नाड़ियों तथा चक्रों का विस्तृत विवरण नहीं दिया गया है। पाठक कृपया मेरी पुस्तक 'कुण्डलिनीयोग' पढ़ें।

५. लययोग

धारणा मन की उस गम्भीर और परिपूर्ण एकाग्रता का नाम है जो किसी आन्तरिक वस्तु की, बाह्य विषय की, अनाहतनाद जैसी श्राव्य ध्वनि की अथवा किसी सूक्ष्म विचार-विशेष की की जाती है और जिसके साथ समस्त प्रापञ्चिक विषयों से, बाह्य जगत् से इन्द्रियों का पूर्ण निरोध अर्थात् प्रत्याहार किया जाता है। लययोग में धारणा परमावश्यक है।

पद्मासन या सिद्धासन पर बैठिए। अँगूठों से कान बन्द कर के योनिमुद्रा का अभ्यास कीजिए। दाहिने कान से अन्दर की ध्वनि को सुनिए। जो ध्वनि आप सुनेंगे वह आपको सभी बाह्य ध्वनियों के प्रति बधिर बना देगी। आप लययोग की साधना से पन्दरह दिन में सभी बाधाओं को पार करते हुए तुरीयावस्था में पहुँचेंगे। साधना की प्राथमिक अवस्था में आप अनेक ऊँची आवाजें सुनेंगे। फिर वे धीरे-धीरे नीचे उतरती जायेंगी तथा सतत अभ्यास के अनन्तर वे अधिकाधिक सूक्ष्म होने लगेंगी। आपको उनका सूक्ष्मातिसूक्ष्म पृथक्करण करने का प्रयत्न करना चाहिए। आप अपनी धारणा स्थूल से सूक्ष्म की ओर कीजिए, चाहे सूक्ष्म से स्थूल की ओर; परन्तु उसके अतिरिक्त किन्हीं अन्य बाह्य विषयों की ओर अपने मन को जाने नहीं देना चाहिए।

चित्त को पहले जब किसी एक ध्वनि में एकाग्र करते हैं तो वह उसमें दृढ़ता से स्थिर हो जाता है और तद्रूप बनता है। चित्त बाह्य संस्कारों के प्रति असंवेदनशील हो जाता है, दूध में जल के समान उस नाद में घुल-मिल जाता है और चिदाकाश में अविलम्ब लीन हो जाता है। समस्त विषयों से अनासक्त रहते हुए, भावनाओं को नियन्त्रित करते हुए, आपको सतत अभ्यास द्वारा उस ध्वनि पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए जो मनोनाश कर डालती है। विचार मात्र का त्याग करके, सभी कर्मों से मुक्त हो कर नाद की उपासना सतत करते रहनी चाहिए; इससे चित्त उसमें लीन हो जाता है। जिस प्रकार भ्रमर मधुसञ्चय करते समय उसकी गन्ध की उपेक्षा कर देता है, उसी प्रकार जब चित्त नाद में सतत लवलीन हो जाता है तब वह समस्त भोग-साधनों और कामना-विषयों से विरत हो जाता है और विक्षेपकारी चञ्चलता का अपना स्वभाव छोड़ देता है। चित्त-सर्प नाद-श्रवण करते-करते अन्य विषयों से व्यावृत हो जाता है और उसी नाद में तन्मय हो जाता है। वासना-विषयों के सुखोपवन में स्वच्छन्द भ्रमण करने वाले मदोन्मत्त चित्त-गज को अधिकार में रखने वाले तीक्ष्ण अंकुश का काम यह नाद करता है। यह नाद चित्त-रूपी मृग को फँसाने वाले पाश का काम करता है। यह चित्तरूपी सागर की उत्तुङ्ग तरङ्गों को रोकने वाले कूल का भी काम करता है।

अनाहत-ध्वनि दश प्रकार की है। पहली 'चिनि' है (जो चिनि शब्द के उच्चारण के रूप में होती है); दूसरी 'चिनी-चिनि' है; तीसरी घण्टानाद की है; चौथी शङ्खनाद की; पाँचवीं तन्त्रीनाद की; छठी तालरूप; सातवीं मुरली की; आठवीं भेरीनाद की; नवीं मृदङ्ग की और दशवीं मेघगर्जन की ध्वनि है। गुरु-दीक्षा से, प्रारम्भ के नौ प्रकार की ध्वनि सुने बिना सीधे दशवीं ध्वनि आप सुन सकते हैं।

ब्रह्म-रूपी प्रणव से निःसृत होने वाला यह नाद ज्योतिस्वरूप है। मन उसमें लीन हो जाता है। वह विष्णु का परम धाम है। जब तक नाद है तब तक चित्त वहाँ रहता है; परन्तु उसके रुक जाने पर तुरीयावस्था रह जाती है। वह नाद ब्रह्म में लीन होता है और वह अशब्दावस्था परम धाम है। निरन्तर नादोपासना से जब प्राणों के साथ मन के कर्मों के संस्कार जल जाते हैं तब मन निर्विकार ब्रह्म में लीन हो जाता है। इसमें संशय नहीं है। सभी विचारों से और सभी अवस्थाओं से मुक्त हो कर मनुष्य की देह मृतवत् अथवा काष्ठवत् हो जाती है, उसे शीत-उष्ण का, सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता है। जब आत्मिक दृष्टि दृश्यान्तरित हो कर स्थिर हो जाती है, प्राण क्रिया-शून्य हो कर स्तब्ध हो जाता है और चित्त सर्वथा निरालम्ब हो कर दृढ़ हो जाता है तब मनुष्य ब्रह्म बन जाता है। जब मन का नाश होता है, पाप-पुण्य विदग्ध हो जाते हैं तब मनुष्य ज्योतिर्मय, निष्कलङ्क, विशुद्ध, नित्य, शुद्ध ब्रह्म बनता है। तब वह मुक्त होता है।

६. आत्म-संसूचन

प्रत्येक व्यक्ति को आत्म-संसूचन की कला जान लेनी चाहिए और इसका अभ्यास करना चाहिए; क्योंकि इसके आश्चर्यजनक लाभ हैं। औषधोपचार कुछ भी करें, किन्तु यह चैतसिक प्रक्रिया मनुष्य को रोगमुक्त होने में, आश्चर्यजनक स्वास्थ्य, शक्ति, तेज और ओज प्राप्त करने में बड़ी सहायक होती है। इसका अभ्यास वेदान्त-साधना की एक शाखा है। यह भारत के लिए नया नहीं है। आत्म-संसूचन शब्द मात्र एक नया रङ्ग है, नया आवरण है। यह दृढ़कथन है। वह मन्त्र यह है : "मैं प्रतिदिन हर प्रकार अच्छे-से-अच्छा बनता जा रहा हूँ।"

इस मन्त्र को मन-ही-मन निरन्तर दोहराते रहें। सदा इसी विचार में लीन रहें। जैसा सोचोगे वैसा बनोगे। सोचो कि तुम बलवान् हो, बलवान् बनोगे। सोचो कि तुम दुर्बल हो, दुर्बल बनोगे। सोचो कि तुम पापी हो पापी बनोगे। सोचो कि तुम ब्रह्म हो, ब्रह्म बनोगे। मन स्वर्ग को नरक बनाता है, नरक को स्वर्ग। **"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः**—मन ही मनुष्य के बन्धन और

मोक्ष का कारण है, दुष्ट और नकारात्मक विचारों को कभी न आने दो। उन्हें दूर भगा दो। तत्काल उन्हें समाप्त कर दो।

तुम भले ही निर्धन से निर्धन हो, मूर्ख से मूर्ख हो; परन्तु अपने निज-स्वरूप से तिल-भर भी न डिगो। **'तत्त्वमसि'**—तुम वह हो, तुम ब्रह्म हो, तुम सूर्य हो। सारा ब्रह्माण्ड तुम्हारे चारों ओर घूमता है। इस संसार में तुमसे श्रेष्ठ कोई नहीं है। अथक प्रयत्न करते रहो। दृढ़ रहो। अद्भुत शक्ति और बल प्राप्त करोगे।

मान लो कि तुम किसी रोग से मुक्ति चाहते हो तो निम्नांकित चार विधियों में से किसी एक विधि का अनुसरण करें :

(१) उस रोग को एक व्यक्ति के रूप में देखो। दृढ़ता से आदेश दो : 'हे रोग! मेरे शरीर से चले जाओ।' रोग मर जायेगा। आन्तरिक जीवन-शक्ति जाग्रत हो कर सुधार करेगी और नव-शक्ति लायेगी। इस उपाय के लिए बड़ी इच्छा-शक्ति चाहिए।

(२) उपेक्षा कर दो और उस रोग के विषय में सोचो ही नहीं। शरीरगत विचार उठें तो मन को दूसरी ओर मोड़ दो। इसे बार-बार करो। रोग नष्ट हो जायेगा। बच्चे खेलते समय शीत या उष्ण अनुभव नहीं करते। तुम भी मन लगा कर जब चलचित्र देखते हो तो नींद गायब हो जाती है। किसी सङ्गीत-गोष्ठी में बैठो तो भूख लगती ही नहीं। ऐसा क्यों? क्योंकि मन को दूसरी ओर मोड़ लिया है और दूसरे काम में लगा दिया है। यह बड़ा सरल उपाय है। पहले को और इस उपाय को मिला लो। इन दोनों का मेल उत्तम है।

(३) रोग के अस्तित्व से ही इनकार करो। यह वेदान्तियों के अजातिवाद जैसा है।

(४) सन्धि-पद्धति। रोग के साथ मैत्री करो, उसे अपने पक्ष में मिला लो। रोग की प्रशंसा करो : 'भाई रोग, तुम शक्ति हो। तुम ब्रह्म की महाशक्ति हो। तुम मुझे काफी कष्ट दे चुके हो, अब बस करो। मैं तुम्हारे पराक्रम को जानता हूँ। कृपा करके मुझे छोड़ दो।' इससे रोग दूर हो जायेगा। शरीर के अन्दर जो टूट-फूट हुई होगी उसे तुम्हारी अन्तःशक्ति ठीक करेगी और ताजा शक्ति और प्राण भर देगी। यह भी सरल उपाय है। साँप का विष उतारने वाले मन्त्रवादी लोग सर्पराज की स्तुति करते हैं और रोगी ठीक हो जाता है।

दो ही दिन में लाभ नहीं देख पाओगे। कुछ अधिक समय तक शान्ति से प्रतीक्षा करनी होगी। जब तक आदत न पड़ जाये तब तक सतत अभ्यास किये जाओ। फिर अवचेतन मन स्वयं तुम्हारा काम कर देगा।

इच्छा-शक्ति बढ़ाने का सहज और शक्तिशाली साधन यह आत्म-संसूचन है। इससे सभी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त हो सकती है। निराशाजनक परिस्थिति पर काबू पा सकते हो। विपरीत वातावरण में हँस सकते हो। इस शब्द-मूर्ति को सदा सामने रखो—शक्ति, बल, वीर्य।

एकादश अध्याय

ज्ञानयोग

१. वेदान्त के सिद्धान्त

वेदान्त-दर्शन के समान अन्य कोई भी दर्शन निर्भीक तथा उदात्त नहीं है। एकमात्र वेदान्त ही मानव के कष्टों का पूर्णतया उन्मूलन कर सकता है तथा चिरन्तन शान्ति तथा सुख ला सकता है। इस उत्कृष्ट दर्शन का थोड़ा-सा भी ज्ञान तथा अभ्यास व्यक्ति को ब्रह्म के, भागवतीय चेतना के उच्च शिखर पर पहुँचा सकता और इस सांसारिक जीवन के सभी प्रकार के भयों, चिन्ताओं तथा परेशानियों को दूर कर सकता है। कुछ पाश्चात्य दार्शनिक भी अब कहने लगे हैं : "जन्म से हम ईसाई हैं, किन्तु विश्वास से हम वेदान्ती हैं; किन्तु हमारी आत्मा जिस विशुद्ध सान्त्वना तथा सच्ची शान्ति के लिए लालायित रहती है वह पूर्व के उपनिषदों में ही उपलब्ध है। वेदान्त-दर्शन को धन्यवाद तथा औपनिषदिक ऋषियों को नमस्कार।"

जीवन का लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार है जो अमरत्व, परम आनन्द, असीमित ज्ञान तथा चरम शान्ति प्रदान करता है। मन को मूल स्रोत अथवा अन्तरात्मा पर स्थिर करना तथा उसे उसमें तल्लीन कर देना ही सर्वश्रेष्ठ यज्ञ, सर्वश्रेष्ठ दान, सर्वश्रेष्ठ कर्म, सर्वश्रेष्ठ भक्ति, सर्वश्रेष्ठ योग अथवा सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है। अब क्षुद्र स्वायत्तीकरण की प्रकृति विलीन हो जाती है। जिस भाँति सरिता सागर में मिल जाती है उसी भाँति जीव आनन्द-सागर में मिल कर एक हो जाता है। क्षुद्र भ्रामक अहं के तिरोभाव होने के साथ ही 'मेरा', 'तेरा', 'यह', 'वह', दिक्काल, कारण-कार्य, द्वन्द्व, जीव-ईश्वर, प्रकृति आदि का भाव भी तिरोहित हो जाता है। सम्पूर्ण जगत् अपने को आत्मा के रूप में प्रस्तुत करता है। यह भव्य दर्शन, यह उत्कृष्ट समाधि आत्मदर्शन अथवा परम सत्ता का दर्शन है। यह अवर्णनीय है। अनेक लोगों ने यह दर्शन प्राप्त किया है। अन्य सब लोग भी उनकी भाँति ही इस चरम स्थिति की अनुभूति कर सकते हैं।

आत्मा ब्रह्म, निरपेक्ष, असीम अथवा परम सत्ता है। वह सत्, चित् तथा आनन्द है। वह शाश्वत, पूर्ण, शुद्ध तथा स्वयं-प्रकाश है। वह आत्मसुख तथा आत्मज्ञान है। वह अशरीरी तथा निराकार है। वह सर्वव्यापक, परिपूर्ण तथा अविनाशी है। वह अनादि तथा अनन्त है। वह त्रिकाल—भूत, वर्तमान तथा भविष्य—में स्थित रहता है। वह स्वयम्भू है। वह शरीर, मन, प्राण, इन्द्रियों, वेदों तथा ब्रह्माण्ड का मूल कारण है। उसका कोई निषेध नहीं कर सकता; क्योंकि वह सभी प्राणियों का अन्तरात्मा है।

आत्मज्ञान जीव तथा ब्रह्म में अभेद की अनुभूति है। यह यूनानियों का गूढ़ ज्ञान है। यह विवेक, वैराग्य, आत्मसंयम तथा **'तत्त्वमसि'** महावाक्य के अर्थ पर सतत निदिध्यासन द्वारा प्राप्त होता है।

हम इस संसार में पाठ सीखने तथा विभिन्न अनुभव उठाने के लिए आये हैं। यह संसार एक विशाल पाठशाला है। मनुष्य खनिज-जगत् से वनस्पति-जगत्, वनस्पति-जगत् से प्राणि-जगत् और प्राणि-जगत् से मानव-जगत् में विकास करता है। चार वर्ग है। मानवता इस विशाल जगत्-रूपी पाठशाला में अन्तिम वर्ग है। यदि व्यक्ति कठोर प्रशिक्षण, अनुशासन तथा साधना द्वारा इस वर्ग में सफलता प्राप्त करता है तो वह सिद्ध योगी या ज्ञानी बनता है। वह शाश्वत जीवन तथा अमरता प्राप्त करता है।

जड़भरत, वामदेव, शङ्कराचार्य, मदालसा, याज्ञवल्क्य, श्वेतकेतु—सभी ने पूर्णता तथा मोक्ष प्राप्त किया। उनके समकक्ष पहुँचने की सम्भावना उन सबके लिए लभ्य है जो धैर्य, अध्यवसाय, लौह निश्चय तथा प्रबल सङ्कल्प-शक्ति के साथ प्रयत्न करने को तैयार हैं। सामान्य स्थिति में व्यक्ति को पूर्णता अथवा आत्मज्ञान-प्राप्ति से पूर्व असंख्य जन्म लेने पड़ते हैं। यदि व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक साधना में सत्यशील है तो वह अपनी आध्यात्मिक प्रगति जिसे करने में कई सहस्र वर्ष लग जाते, शीघ्र कुछ जन्मों में कर सकता है। यदि वह पूर्ण ब्रह्मचर्य तथा आध्यात्मिक सुसंस्कारों से सम्पन्न प्रथम श्रेणी का साधक है तो वह उग्र साधना, महान् आत्मसंयम तथा दृढ़ प्रयास से एक जीवन में पलक मारते ही आत्मसाक्षात्कार कर सकता है।

जैसे पुष्पमाला के सभी पुष्पों में एक ही धागा अनुस्यूत है वैसे ही इन सभी प्राणियों में एक ही आत्मा व्याप्त है। सभी में इस एक आत्मा का दर्शन कीजिए। विविधता का भाव त्याग दीजिए। सबसे प्रेम कीजिए। सबके प्रति सदय रहिए। सबकी सेवा कीजिए। आप ब्रह्म में प्रतिष्ठित होंगे। जब सभी में एक ही आत्मा निवास करता है तो आप दूसरों से घृणा क्यों करते हैं? आप दूसरों की हँसी क्यों उड़ाते हैं, अप्रसन्नता क्यों प्रकट करते हैं? आप कटु शब्द क्यों प्रयोग करते हैं? आप दूसरों पर शासन करने, धौंस जमाने का प्रयास क्यों करते हैं? आप दूसरों का शोषण क्यों करते हैं? आप असहिष्णु क्यों हैं? क्या यह कोरा अज्ञान नहीं है?

एकमात्र ज्ञान ही शाश्वत है। वह आदि, मध्य तथा अन्त ही है। प्रलय के अनन्तर ज्ञान ही बचा रहता है। ज्ञान अमर है, एक है, आनन्द है, परम शान्ति है, आत्मा अथवा ब्रह्म है तथा सच्चा सार पदार्थ है।

अविद्या, मूल प्रकृति अथवा अज्ञान से मनुष्य का कारण शरीर बनता है। जैसे आप सबसे अन्दर बनियाइन, उसके ऊपर रेशमी कमीज और उसके ऊपर एक मोटा कोट पहनते हैं, वैसे ही आत्मा के तीन आवरक अथवा शरीर हैं—सबसे अन्दर कारण-शरीर, उसके ऊपर लिङ्ग-शरीर और उसके ऊपर स्थूल-शरीर।

जिस प्रकार स्थूल-शरीर की मृत्यु होती है उसी प्रकार लिङ्ग-शरीर तथा कारण-शरीर की भी मृत्यु होती है। अहं-भाव, विचारों, वासनाओं, राग-द्वेष आदि के विनाश से मनोनाश होता है। अज्ञान के विनाश से कारण-शरीर की मृत्यु होती है।

विविधता अथवा भिन्नता, जो आप इस संसार में देखते हैं, मन की रचना है। जब सङ्कल्पों, वासनाओं तथा अहं-भाव के विनाश से मनोनाश हो जाता है तो सब विविधताएँ लुप्त हो जाती हैं। एकमात्र ज्ञान ही रह जाता है। ज्ञान ही निरालम्ब अवस्था में अपनी मूल महिमा में विभासित होता है।

"यह आत्मा सत्य, तप, सम्यक् ज्ञान और ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जिसे निर्दोष योगिजन देखते हैं वह ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा शरीर के भीतर रहता है।" [२]

यह शरीर क्षुद्र उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नहीं है। यह इस लोक में कठोर तपस्या तथा परलोक में अपरिमित सुख के लिए है। यह मानव-जीवन के लक्ष्य अर्थात् ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का साधन है। यह संसार-सागर को पार कर आनन्द, शान्ति तथा अमरत्व के दूसरे तट पर पहुँचने के लिए नौका का कार्य करता है।

२. आवश्यक योग्यताएँ

दुःख का कारण सुख है। विषय-सुख उतना ही बुरा है जितना कि दुःख। इससे निर्ममतापूर्वक बचना चाहिए। एक आना सुख में पन्दरह आने दुःख मिश्रित है। जिस सुख में दुःख, भय, चिन्ता, परेशानी, पाप तथा श्रम मिश्रित हों वह सुख सुख नहीं है। उपभोग से कामना की तृप्ति नहीं होती। जैसे घृत को अग्नि में डालने से वह उसे और प्रज्वलित करता है वैसे ही उपभोग कामना को और अधिक उद्दीप्त करता है और लालसा के द्वारा मन को और अधिक अशान्त बनाता है। विषय-सुख अनित्य, अस्थायी अथवा क्षणभङ्गुर है। गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर आप देखेंगे कि विषय-सुख कोई सुख नहीं है। यह भ्रान्ति-सुख है। यह केवल मानसिक कल्पना है। यह केवल स्नायुओं की गुदगुदाहट है। यह केवल स्नायुओं अथवा इन्द्रियों की खुजलाहट है। जिस प्रकार खुजली वाले अङ्ग को खुजलाने से कुछ क्षणिक संवेदन

२. मुण्डकोपनिषद्: ३-१-५

होता है उसी प्रकार जिह्वा पर कुछ जलेबी अथवा सन्तरा रखने से कुछ स्नायविक संवेदन होता है।

एक गम्भीर चिन्तक, एक विवेकी पुरुष अथवा विचारवान् व्यक्ति के लिए विषय-पदार्थों में कोई सुख नहीं है। यह सब दुःख ही है—**"सर्वं दुःखं विवेकिनः।"** संसार अग्नि का गोला है। अन्तःकरण के अन्दर भी एक अग्नि का गोला है। ईर्ष्या, काम-वासना, घृणा, क्रोध आदि आपको प्रतिक्षण विदग्ध कर रहे हैं। माया-मोह-जाल के कारण सांसारिक जन दुःख को सुख समझते हैं।

कभी भी ऐसा न कहें : "मेरा शरीर, मेरा पुत्र, मेरी पत्नी, मेरा घर।" आसक्ति ही इस संसार के सभी दुःखों तथा कठिनाइयों का मूल कारण है। मन को सावधानीपूर्वक अनुशासित कीजिए। पुरानी आदतें अलक्षित रूप से प्रवेश करेंगी। उन्हें आमूल नष्ट कर डालिए। मानसिक अनासक्ति का जीवन-यापन कीजिए। यह ब्राह्मिक आनन्द के राज्य का द्वार खोलने की सर्वकुञ्जी है। अनासक्ति विषय-सुखों से विरक्ति अथवा उदासीनता को कहते हैं।

जो साधन-चतुष्टय अर्थात् विवेक, वैराग्य, षट्-सम्पत् (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा तथा समाधान) तथा मुमुक्षुत्व से सम्पन्न है, जो श्रुतियों तथा उपनिषदों में निपुण है, जो गुणवान् है, निष्कपट है, सभी प्राणियों के कल्याण के लिए दृढ़ सङ्कल्प है, करुणासागर है, जिसमें ब्रह्मचर्य का सद्गुण है वह आत्मज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी है। वह अपने हाथों में भेंट ले कर गुरु के पास जाये, आज्ञाकारिता तथा विनम्रता से उनकी सेवा करे तथा उपनिषदों, वेदान्त-सूत्रों और महावाक्यों को श्रवण करे।

वह व्यक्ति ज्ञानमार्ग पर चलने के योग्य है जिसने सांसारिक दोषों से अपना पीछा छुड़ा लिया हो, जिसने सांसारिक तथा सभी प्रकार की सांसारिक आसक्तियों को दूर कर दिया है। उसकी प्रकृति पवित्र तथा जीवन निर्मल भी होना चाहिए।

३. ज्ञानयोग-साधना

आपको श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करना चाहिए। श्रुतियों को सुनना श्रवण है। मनन विचार तथा चिन्तन करने को कहते हैं। निरन्तर तथा गम्भीर ध्यान निदिध्यासन है। तब आत्मसाक्षात्कार की बारी आती है।

आत्मसाक्षात्कार ब्रह्मानुभव अथवा अपरोक्षानुभूति के नाम से भी ज्ञात है। तब सभी सन्देह तथा भ्रम विलीन हो जाते हैं, हृदय-ग्रन्थि छिन्न-भिन्न हो जाती है तथा सभी कर्म (सञ्चित तथा प्रारब्ध) नष्ट हो जाते हैं। ज्ञानी सच्चिदानन्दावस्था को प्राप्त

कर लेता है तथा वह जन्म-मृत्यु-रूपी संसार-चक्र तथा उसके सहवर्ती अनिष्टों से मुक्त हो जाता है।

ज्ञानयोग-पथ का साधक **ॐ, सोऽहम्, शिवोऽहम्, अहं ब्रह्मास्मि** अथवा **ॐ तत्सत्** का जप करता है तथा उसके साथ शुद्धता, पूर्णता, असीमता, शाश्वत्व, अमरत्व, सत्-चित्-आनन्द के भाव संयुक्त करता है।

वेदान्त के नये साधक को आत्मबोध, दृक्दृश्यविवेक, तत्त्वबोध, शङ्कराचार्य के चयन किये हुए ग्रन्थ, लघुवासुदेवमनन, पञ्चीकरण तथा विवेकचूडामणि का अध्ययन करना चाहिए। इनके अँगरेजी अनुवाद प्राप्य हैं। उसे वेदान्त की प्रक्रियाओं का व्यापक ज्ञान होना चाहिए। उसे तीनों शरीरों, पञ्चकोषों तथा उनके धर्मों, चेतना की तीनों अवस्थाओं—जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति—का पूर्णरूपेण बौद्धिक ज्ञान होना चाहिए। उसे विविध युक्तियों तथा अन्वयव्यतिरेक, अध्यारोप-अपवाद, नेति-नेति, लयचिन्तन, भाग-त्याग लक्षण आदि को जानना चाहिए। उसे विवर्तवाद, केवलाद्वैतवाद, दृष्टि-सृष्टिवाद, स्वप्रकाशवाद, अजातिवाद आदि की स्पष्ट जानकारी होनी चाहिए।

उन्नत साधकों को उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र, पञ्चदशी, विचार-सागर, नैष्कर्म्यसिद्धि, चित्सुखी, खण्डनखण्डखाद्यम्, अद्वैतसिद्धि; वेदान्त के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए। उन्नत ग्रन्थों को ब्रह्मश्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु के अधीन पढ़ना चाहिए। साधक को प्रतिदिन न्यूनातिन्यून २१,६०० बार प्रणव (ॐ) जप करना चाहिए। उसे प्रातः चार बजे अपनी साधना, जप तथा निराकार ध्यान आरम्भ करना चाहिए। उसे साधन-चतुष्टय से सम्पन्न होना चाहिए।

भले ही आपके पास खाने के लिए कुछ न हो, भले ही आपके पास पहनने के लिए वस्त्र न हो, पर स्मरण रखें कि आप तत्त्वतः जीवन्त सत् हैं। दासता की मनोवृत्ति नष्ट कर डालें। ॐ, ॐ, ॐ, राम, राम, राम की गर्जना कीजिए और मांस-पिञ्जर से बाहर निकल आइए। हे सत्यकाम ! अपने अधिकार की घोषणा कीजिए, दृढ़तापूर्वक कहिए, पहचानिए तथा सत्य का साक्षात्कार कीजिए।

स्वार्थपरता आध्यात्मिक प्रगति में बाधक होती है। यदि कोई अपनी स्वार्थपरता को नष्ट कर डाले तो उसकी आध्यात्मिक साधना पूर्ण हो जाती है। इस अवाञ्छनीय दुर्गुण के उन्मूलन के बिना कोई भी समाधि अथवा ध्यान सम्भव नहीं है। साधकों को दीर्घकालिक निस्स्वार्थ, निस्स्पृह सेवा द्वारा इस भीषण रोग के उन्मूलन की दिशा में अपना सम्पूर्ण अवधान निर्दिष्ट करना चाहिए।

'अहन्ता' तथा 'ममता' मन-रूपी सर्प के दो विष-दन्त हैं। इन दोनों दन्तों को निष्कासित कर दें तो सर्प-रूपी मन सौम्य बन जाता है। तब कोई बन्धन नहीं रहता। मन ही 'अहन्ता' तथा 'ममता' की सृष्टि करता है। मन ही जीव को शरीर के साथ संयुक्त करता है और उत्कट देहाध्यास उत्पन्न करता है और व्यक्ति सोचता है, "मैं शरीर हूँ।" मन ही पत्नी, बच्चों तथा सम्पत्ति से आसक्ति उत्पन्न करता है। यदि मन की बन्धनकारी कड़ी नष्ट कर दी जाये तो आप जहाँ चाहें वहाँ रह सकते हैं। आप कमल-पत्र पर जल-बिन्दु के समान अनासक्त रह कर संसार के किसी भी भाग में शान्तिपूर्वक विचरण कर सकते हैं। आपको कोई भी बन्धन में नहीं डाल सकता। सारा अनिष्ट मन की करतूत है। मनुष्य एक विशाल साम्राज्य पर शासन करते हुए भी अनासक्त रह सकता है।

मिथ्याभिमान, धूर्तता, कुटिलता, उद्धतपन ईर्ष्या, क्षुद्र मनोवृत्ति, लड़ाकू स्वभाव, डींग मारने, शेखी बघारने, स्वाभिमान, अपने को अधिक महत्त्व देने, दूसरों की निन्दा करने, दूसरों का अनादर करने के पुराने संस्कार आपके मन में अभी भी छुपे हुए हो सकते हैं। जब तक इन्हें पूर्णतया विदूरित नहीं करते तब तक आप चमक नहीं सकते। निम्न-प्रकृति के इन अवाञ्छनीय दुर्गुणों के उन्मूलन के बिना निदिध्यासन में सफलता प्राप्त करना असम्भव है।

'मैं कौन हूँ' का परिप्रश्न, **ॐ, सोऽहम्, शिवोऽहम्** पर ध्यान अथवा महावाक्यों के अर्थ एक ही हैं। ये सब ही ब्रह्माभ्यास अथवा ज्ञानयोग-साधना हैं।

प्रारम्भ में छः महीने तक (१) नीले विस्तृत आकाश, सर्वव्यापी वायु, प्रकाश, हिमालय अथवा अनन्त महासागर पर; (२) अमूर्त गुणों यथा करुणा, धैर्य, उदारता आदि पर; (३) अमूर्त विचार यथा अखण्ड अपरिच्छिन्न सत्ता, ज्ञान, आनन्द, सत्य, शाश्वत्व, अनन्तता, अमरता, शुद्धता आदि पर ध्यान करें। यह मन को सूक्ष्म तथा तीव्र बनायेगा और उसे आत्मा पर गम्भीर अमूर्त ध्यान के लिए तैयार करेगा।

जब आप स्त्रियों की सङ्गति में हों तो अपने अन्दर कहें और अनुभव करें : "इन सभी नाम और रूपों में एक ही सच्चिदानन्द आत्मा है। नाम तथा रूप मिथ्या हैं। उनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। उनका अधिष्ठान सच्चिदानन्द आत्मा है।" काम-वासना लुप्त हो जायेगी। काम-भावना अदृश्य हो जायेगी। काम-भावना तथा कामुक प्रकृति के उन्मूलन के लिए यह सर्वोत्कृष्ट साधना है। अभ्यास करें, जानें तथा ऊपर के कथन की सत्यता का प्रत्यक्ष अनुभव करें।

हे सौम्य! प्रिय अमर आत्मन्! आपके पास खाने के लिए कुछ भी न हो, आप चिथड़े पहने हों, फिर भी निर्भीक तथा प्रफुल्ल रहें। आपका मूलभूत स्वरूप सच्चिदानन्द है। ऊपरी लबादा, यह मर्त्य अन्नमय-कोश भ्रामक है, माया की उपज है। मुस्करायें, सीटी बजायें, हँसें, कूदें तथा आनन्दातिरेक से नाचें। ॐ का गान करें। आप यह नश्वर शरीर नहीं हैं। आप अमर आत्मा हैं। आप स्त्री-पुरुष-जाति रहित आत्मा हैं। आप राजाओं के राजा, सम्राटों के सम्राट्, उपनिषदों के ब्रह्म, अपने हृदय-प्रकोष्ठ में निवास करने वाला आत्मा हैं। ऐसा अनुभव करें। अपने जन्मसिद्ध अधिकार का कल से नहीं, परसों से नहीं, अभी, इसी क्षण से दावा करें। **"तत्त्वमसि**—आप वही (ब्रह्म) हैं।" जानें। दृढ़तापूर्वक कहें। पहचानें। अनुभव करें।

संयम तथा ध्यानमय जीवन यापन करें। यह संसार कुछ नहीं है। इस संसार के सारे पदार्थ असार हैं; क्योंकि वे अनित्य, क्षणभङ्गुर तथा नश्वर हैं। ब्रह्म के स्वरूप को जानें।

जिस व्यक्ति में प्रखर देहाभिमान है उस व्यक्ति के लिए आत्मज्ञान प्राप्त करना अथवा जीव की एकता का अनुभव करना असम्भव है। शरीर, पत्नी, बच्चों, पदार्थों आदि से अपने को अभिन्न न समझिए। स्वामित्व के सभी विचार त्याग दीजिए। कभी भी किसी वस्तु को ऐसा न कहिए : "यह मेरी है।" इस एक विचार में प्रतिष्ठित हो जाइए : "एकमात्र ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है, उसी की सत्ता है। मैं ब्रह्म हूँ।" जीवन्मुक्त बनें। निःश्रेयस का आनन्द भोगें।

४. आपका वास्तविक स्वरूप

आपका वास्तविक स्वरूप सच्चिदानन्द, सत्य, चैतन्य तथा आनन्द है। आप ब्रह्म से अनन्य तथा अभिन्न हैं। यह न भूलिए कि आप वही (ब्रह्म) है—**"तत्त्वमसि।"** आप इस संसार के विधायक हैं। प्रकृति के स्वामी हैं। सम्पूर्ण विश्व आपका हस्तकौशल है। सूर्य, चन्द्र तथा तारे—ये सब आपकी महिमा का वर्णन करते हैं। इस विषय में सन्देह की गुञ्जाइश नहीं है। इच्छा, दुर्बलता, पीड़ा, क्रोध, अशक्यता आदि उपाधि-धर्म हैं। अविद्या या अज्ञानवशात् ये संस्कार आरोपित हैं। उपाधि-धर्म धर्मी के अपने नहीं हुआ करते हैं। आप अनन्त, शाश्वत, अविकारी, सर्वव्यापक सत्ता हैं, आनन्दमय हैं सत्-चित्-आनन्दमय हैं। आप चिन्मय, तन्मय, ज्ञानमय और तेजोमय हैं। आप सत्य हैं, परिपूर्ण हैं। आप अखण्ड एकरस परिपूर्ण सच्चिदानन्द परब्रह्म हैं। आप कैवल्य, केवल, तुरीय, दृक्, सन्मात्र तथा चिन्मात्र हैं। आप नित्य, शुद्ध, सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त हैं। आप निरञ्जन हैं, चैतन्य हैं। आप शान्त, शिव, शुभ, सुन्दर तथा कान्त हैं।

आप अखण्ड, अपरिच्छिन्न, अद्वितीय ब्रह्म हैं। आप असङ्ग, अकर्ता, अभोक्ता, असक्त तथा निर्लिप्त हैं। आप सभी वस्तुओं के स्रोत, वेदों के स्रोत तथा सभी

ज्ञान के स्रोत हैं। आप साक्षी, मायावी, प्रकाशक, परम पुरुष, पुरुषोत्तम, शिव, विष्णु और ब्रह्मा हैं।

मोक्ष कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसे आपको प्राप्त करना है; क्योंकि आप पहले से ही मुक्त हैं। आप नित्य मुक्त हैं। आपने मुक्ति पहले से ही प्राप्त कर रखी है। प्रत्येक प्राणी ब्रह्म से अभिन्न है, वास्तव में ब्रह्म ही है। जो प्राप्त करना है, वह है पार्थक्य की भावना का विनाश और यह निष्पन्न होने पर मोक्ष सहज ही उपलब्ध हो जाता है। जैसे दुग्ध को दुग्ध में, तैल को तैल में अथवा जल को जल में डाला जाये तो दोनों मिल जाते हैं और एक बन जाते हैं वैसे ही साक्षात्कार के अनन्तर आप ब्रह्म से एकाकार हो जाते हैं। बन्धन और मोक्ष तो माया के इन्द्रजाल हैं। इनकी सत्ता ब्रह्म में वैसे ही नहीं है, जैसे रज्जु में सर्प का आभास तथा सत्ता नहीं होती। उसमें कोई विकार नहीं होता। न तो जन्म है न मृत्यु, न बन्धन है न मोक्ष के लिए प्रयत्न, न तो मुमुक्षु है न मुक्त—यही चरम सत्य है।

अपने वास्तविक स्वरूप से अविद्या का आवरण हटा दीजिए। अहङ्कार, द्वैत भाव तथा पार्थक्य भाव को नष्ट कर डालिए। आप अपनी महिमा में विभासित होंगे। आप सच्चिदानन्द अवस्था में निवास करेंगे। प्रिय पाठक! **"तत्त्वमसि।"**

५. अविद्या का अवशेष

लेशाविद्या ही जीवन्मुक्त को जीवित रखती है। मुक्त आत्माओं के शरीर का मिथ्या आभास तथा प्रवृत्तियों को अविद्या के एक अंश को स्वीकार करने से ही स्पष्ट किया जाता है जो ज्ञानोपलब्धि के पश्चात् भी किञ्चित् काल तक बना रहता है। जब प्रारब्ध कर्म का प्रभाव समाप्त हो जाता है तो आभास का भी अन्त हो जाता है और मुक्त ज्ञानी शुद्ध सच्चिदानन्द के असीम सागर में सदा के लिए विलीन हो जाता है। पहली अवस्था को जीवन्मुक्ति अर्थात् जीवितावस्था में मुक्ति और दूसरी अवस्था को विदेह-मुक्ति अर्थात् शरीरपात के अनन्तर मुक्ति कहते हैं। इन दोनों का भेद नाममात्र का है, वस्तुतः इन दोनों में कोई भेद नहीं है; क्योंकि जीवात्मा का परमात्मा से तादात्म्य, जो सभी भेदों से परे है, दोनों ही अवस्थाओं में सुस्पष्ट प्रव्यक्त है। जीवन्मुक्त ज्ञानी की दृष्टि में शरीर तथा उसकी प्रवृत्तियों को बनाये रखने वाले प्रारब्ध कर्म का भी ब्रह्म से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है। इसीलिए विद्यारण्य स्वामी ने दोनों प्रकार की मुक्तियों में कोई भेद नहीं माना है।

(१) कुछ लोगों का अभिमत है कि मूलाज्ञान आवरण तथा विक्षेप—इन दो शक्तियों से सम्पन्न है। यह प्रारब्ध कर्म की विद्यमानता के कारण ज्ञानोदय के पश्चात् अपनी विक्षेप-शक्ति का कुछ अंश बनाये रखता है। मूलाज्ञान की विक्षेप-शक्ति का यह अंश ही जीवितावस्था में मुक्ति की सम्भावना का स्पष्ट कारण है।

(२) दूसरों का कथन है कि अविद्या के नष्ट होने पर भी अविद्या के संस्कार बने रहते हैं, वे ही जीवन्मुक्ति को बनाये रखते हैं। वस्तु के अपनयन के पश्चात् भी उसके संस्कार की विद्यमानता की सम्भावना इस बात से सिद्ध होती है कि पात्र को भलीभाँति परिमार्जित करने पर भी उससे लहसुन की बास आती रहती है।

(३) तीसरा मत यह है कि मूलाविद्या ही, जो दग्धपट की भाँति निष्प्राण रूप में स्थित रहती है, जीवन्मुक्ति का कारण है।

(४) सर्वज्ञात्म मुनि ने जीवन्मुक्ति में सन्देह प्रकट कर जीवन्मुक्ति को बनाये रखने वाले अज्ञान के अंश के स्वरूप की व्याख्या के भार से अपना पीछा छुड़ा लिया। उनका मत है कि जिस क्षण ज्ञान की तात्त्विक एकता का बोध हो गया उस क्षण उक्त ज्ञानी की दृष्टि में शरीर तथा उसकी प्रवृत्तियों सहित इस संसार की सत्ता जाती रहती है। ज्ञानी अब शब्द के सामान्य अर्थ में जीवित नहीं रहता है। वह पूर्ण सत्ता तथा पूर्ण आनन्द बन जाता है। इस भाँति एक ही प्रकार का मोक्ष है जिसमें सभी कुछ ब्रह्म में परिवर्तित हो जाता है। —*सिद्धान्तलेश*

६. पञ्चकोश

वेदान्त के अनुसार पाँच कोश माने जाते हैं : अन्नमय-कोश, प्राणमय-कोश, मनोमय-कोश, विज्ञानमय-कोश तथा आनन्दमय-कोश।

अन्नमय-कोश स्थूल शरीर में है। प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय-कोश सूक्ष्म-शरीर में हैं। आनन्दमय-कोश कारण-शरीर में है। यह वेदान्त के अनुसार है।

श्री अरविन्द घोष अन्नमय तथा प्राणमय-कोशों को स्थूल शरीर में, मनोमय-कोश को मनोमय-शरीर में तथा विज्ञानमय और आनन्दमय-कोशों को कारण-शरीर में मानते हैं। वेदान्त के अनुसार तीन शरीर तथा पाँच कोश हैं। यह विचार अधिक प्रचलित है।

थियोसोफिस्ट (ब्रह्मविद्यावादी) लिङ्ग-शरीर तथा सूक्ष्म-शरीर में भेद करते हैं। उनके यहाँ जितने लोक हैं उतने ही शरीर मानते हैं। स्थूल-शरीर का एक छाया-शरीर होता है जो मृत्यु के पश्चात् स्थूल-शरीर से अलग हो जाता है और जब दिवङ्गत आत्मा उच्चतर लोकों की यात्रा करना आरम्भ करता है तब यह छाया-शरीर भी मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

स्वामी विवेकानन्द ने शरीर का स्थूल तथा सूक्ष्म—इन दो शरीरों में वर्गीकरण किया है। पाश्चात्यों के बीच प्रवचन करते हुए उन्हें सुविधापूर्वक समझाने तथा उलझन से बचाने के विचार से उन्होंने कारण-शरीर की उपेक्षा की है।

अन्नमय-कोश के छः विकार होते हैं : अस्ति, जायते, वर्धते, परिणमते, अपक्षीयते और विनश्यति। इस कोश में बाह्य करणों की व्यवस्था है। ये करण इन्द्रियाँ नहीं हैं जिनसे जीवात्मा कार्य करता है। प्राणमय-कोश श्वासोच्छ्वासों का वहन करता है। यह करणों को कार्य के लिए प्रेरित करता है। इससे क्षुत्पिपासा की अनुभूति होती है। क्षुत्पिपासा प्राणमय-कोश के न कि आत्मा के संवेदन हैं। मनोमय-कोश में सङ्कल्प-विकल्प उठते हैं। विज्ञानमय-कोश सोचता, चिन्तन करता, पक्ष तथा विपक्ष को विचारता, तर्क करता, साम्य तथा वैषम्य दिखाता, निगमन करता, अनुमान करता, निश्चय करता, निर्धारित करता, निष्कर्ष निकालता तथा निर्णय करता है। इसका कार्यक्षेत्र विशाल है। आनन्दमय-कोश प्रिय, मोद तथा प्रमोद की वृत्तियों के द्वारा आनन्द तथा सुख उत्पन्न करता है। ये तीनों आनन्दमय-कोश के गुण हैं। जब आप एक सुन्दर आम देखते हैं तो आपके मन में इच्छा उत्पन्न होती है। यह प्रिय है। आप आम को क्रय करके अपने अधिकार में रखते हैं। यह मोद है। आप जी-भर कर खाते हैं। यह प्रमोद है। इन सब प्रक्रमों का, कार्य और भोग का जो प्रभाव चित्त में अङ्कित रह जाता है, वह है संस्कार। इस सुख की पुनरावृत्ति की इच्छा को तृष्णा कहते हैं। इस इच्छा की सूक्ष्म पूर्वावस्था को वासना कहते हैं। वासना और इच्छा में अन्तर यह है कि वासना सूक्ष्म है और इच्छा स्थूल।

अन्नमय-कोश पाँचों भूतों के पञ्चीकृत तत्त्वों से बना है। प्राणमय-कोश में पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच प्राण आते हैं। मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मिल कर मनोमय-कोश बनाते हैं। ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ बुद्धि के साथ मिल कर विज्ञानमय-कोश का रूप लेती हैं। आनन्दमय-कोश प्रकृति, अविद्या अथवा अव्यक्त से बना है। मन में चित्त और बुद्धि में अहङ्कार समाहित हैं। सांख्यदर्शनकार प्राणों को नहीं मानते। उनकी मान्यता है कि मन, बुद्धि, अहङ्कार और इन्द्रियों के अनुषङ्गी कार्यकलाप ही प्राण हैं।

पातञ्जल योगदर्शन के प्रथम पाद के छठे सूत्र में वर्णित **"प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः"** पाँच प्रकार की योगवृत्तियाँ पञ्चकोशों के समरूप हैं।

प्रमाण अन्नमय-कोश के, विपर्यय प्राणमय-कोश के, विकल्प मनोमय-कोश के, निद्रा आनन्दमय-कोश के और स्मृति विज्ञानमय-कोश के समरूप है।

प्रत्येक कोश एक लोक, उसके पदार्थों तथा प्राणियों से दोलायमान होता है और उनके सम्पर्क में रहता है। एक लोक के पदार्थ तथा प्राणी अपने समरूप कोश पर निरन्तर आक्रमण करते तथा उस पर अपने कम्पन प्रवाहित करते हैं। अन्नमय-कोश का भूलोक से, प्राणमय-कोश का भुवर्लोक से, मनोमय-कोश का स्वर्गलोक से, विज्ञानमय-कोश का महर्लोक और जनलोक से तथा आनन्दमय-कोश का तपोलोक और सत्यलोक से सम्पर्क है।

अन्नमय-कोश का भौतिक चेतना में अन्नमय पुरुष, प्राणमय-कोश की स्नायविक चेतना में प्राणमय पुरुष, मनोमय-कोश की मानसिक चेतना में मनोमय पुरुष, विज्ञानमय-कोश की अधिमानसिक चेतना में विज्ञानमय पुरुष तथा आनन्दमय-कोश की विश्वजनीन परमानन्द की चेतना में आनन्दमय पुरुष रहता है।

पञ्चकोश से परे : आत्मा पञ्चकोशों से परे है। वह पाँचों कोशों और शरीर-त्रय से विलक्षण है। आत्मा अवस्था-त्रय का साक्षी है।

७. सुप्तावस्था में जीव

कूटस्थ ब्रह्म का बिम्बरूप जीवात्मा और मन अपृथक्करणीय रूप से सदा एक साथ रहते हैं। मन में वृत्ति के व्यक्त होने के पश्चात् ही मानव-प्राणी को जीवात्मा नाम दिया जाता है। वृत्ति के उद्भव से पूर्व जीव नहीं होता। मन बिम्ब से अवगुण्ठित, परिवेष्टित तथा सम्पूरित रहता है। जीव तथा मन दोनों ही वासनावश विषय-पदार्थों में विचरण करते हैं। मन के अभाव में जीव नहीं रहता है।

सुषुप्ति-काल में जीवात्मा मन के साथ प्रकृति या कारण-शरीर में विश्राम करता है। सुषुप्ति में अनेक मानसिक दोलन उत्पन्न करने वाली विक्षेप-शक्ति जीव में क्रियाशील नहीं होती; किन्तु फिर भी मन आवरण की परतों से अवगुण्ठित रहता है। इस समय वह विक्षेप-शक्ति रहित होने से शान्ति में रहता है। वह उस चीनी व्यक्ति की भाँति इधर-उधर नहीं खिंचा फिरता जिसको उसकी पाँच पत्नियाँ इधर-उधर खींचती रहती हैं। कारण-शरीर आनन्दमय-कोश है। अतएव जीव निद्रा में आनन्द भोगता है। वह आनन्दमय पुरुष है। वह प्राज्ञ है। वह एक विचार है।

सुषुप्ति-काल में मन बिम्ब से पृथक् हो जाता है। वह हृद्धमनी में, हृद्धमनी से हृदयावरण में, हृदयावरण से हृदय के आभ्यन्तर में प्रवेश करता है और अन्त में मुख्य प्राण में विश्राम करता है। जीवात्मा हृदयाकाश में प्रवेश करता है तथा कूटस्थ ब्रह्म में विश्राम करता है। जैसे व्यक्ति ऋषिकेश में त्रिवेणी में गङ्गा में गोता लगाता है वैसे ही जीवात्मा ब्रह्म में, आनन्द में गोता लगाता है। जैसे श्रान्त पथिक पवित्र प्रयाग में डुबकी लगा कर आनन्द लेता है वैसे ही जीवात्मा ब्रह्म में, अपने सामान्य सच्चिदानन्द स्वरूप में सुन्दर आनन्दप्रद डुबकी लगाता है। यह दूसरा विचार है।

यह प्रश्न सहज ही उठता है कि सुषुप्ति के समय कौन-सा तत्त्व जाग्रत था जिसने बाद में जीव में यह स्मृति उत्पन्न की कि वह गम्भीर निद्रा में था। इसका सीधा-सा उत्तर यह है कि वह कूटस्थ चैतन्य था जिसे साक्षी आत्मा कहते हैं। यहाँ यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि कूटस्थ के निद्रा-काल के आनन्द की स्मृति जीव के आनन्द की स्मृति का कारण नहीं बता सकती। वह अधिक-से-अधिक तीनों अवस्थाओं को पहले देखने वाले साक्षी में स्मृति को न्यायसङ्गत ठहरा सकती है। इस आपत्ति का इस आधार पर उत्तर दिया जा सकता है कि कूटस्थ चैतन्य और जीव में परस्पराध्यास है। तदनुसार कूटस्थ चैतन्य के अनुभवों को जीव स्मरण करता है।

आप जब सो कर उठते हैं, तो कहते हैं : "रात बड़ी अच्छी नींद आयी। मैं जी-भर सोया। शीतल-मन्द वायु चल रही थी। मैंने कुछ नहीं जाना।" वह कौन-सा तत्त्व है जो कहता है : "मैं कुछ नहीं जानता।" एक विचारधारा के अनुसार अविद्या-वृत्ति कहती है : "मैं कुछ नहीं जानता।"

शारीरिक उपनिषद् के अनुसार जाग्रतावस्था में पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँचों कर्मेन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण-चतुष्टय—ये कुल चौदह विद्यमान होते हैं। स्वप्न में अन्तःकरण-चतुष्टय, सुषुप्ति में चित्त और तुरीय में केवल जीव विद्यमान रहता है। सुषुप्ति में चित्त रहता है। यह तत्त्व (चित्त) जिसमें सब संस्कार सन्निहित रहते हैं, सुषुप्ति में भी सूक्ष्म रूप से क्रियाशील रहता है। अतएव चित्त ही वह तत्त्व है जो निद्रावस्था के आनन्द को स्मरण करता है। सुषुप्ति के सुख का स्मृति-ज्ञान इस तत्त्व, चित्त पर आरोप्य है जो गम्भीर निद्रावस्था में भी निरन्तर क्रियाशील रहता है। यह तृतीय विचार है।

८. सत्-चित्-आनन्द—तीन नहीं, वरन् एक हैं

सत्-चित्-आनन्द—ये तीनों निर्गुण ब्रह्म के सर्वोच्च गुण हैं जिनकी मानव-बुद्धि कल्पना कर सकती है। जल में तीन सारभूत गुण हैं—द्रवता, मधुर स्वाद तथा चमकदार रङ्ग। ये तीनों गुण एक-साथ समाहित हैं, अलग-अलग नहीं प्रतीत होते। मोमबत्ती की अग्निशिखा में आप उष्णता, दीप्ति तथा अरुणिमा पायेंगे। ये तीनों गुण अग्निशिखा में सहवर्ती हैं। वे भिन्न अथवा अलग नहीं हैं। वैसे ही सत्-चित्-आनन्द तीन गुण न हो कर एक ही हैं। वे ब्रह्म में सहवर्ती हैं। वे ब्रह्म के स्वरूप हैं। वे हस्त-पाणि-कर की भाँति हैं—जो हाथ के पर्याय शब्द हैं। वे सभी हाथ के द्योतक हैं। इस प्रातिभासिक जगत् में असत्, जड़ तथा दुःख हैं। अनात्मा के इन तीन ऋणात्मक गुणों में भेद करने के लिए ही आत्मा में तीन धनात्मक गुणों को प्रस्तुत किया गया है। सत् चित् है। चित् सत् है। चित् आनन्द है। सत् आनन्द है। चित् ही सत् हो सकता

है जो भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् तीनों कालों में वर्तमान रहता है तथा जो आद्यन्त-रहित है। चित् स्वयं-प्रकाश तथा स्वयं-ज्योति है। इसके साथ ही वह प्रत्येक वस्तु को प्रकाशित करता है। सभी उसके प्रकाशित होने पर ही प्रकाशित होते हैं **"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**—वह सबका प्रकाशक है, सबके ज्ञान का स्रोत है। जैसे अनावृत जल सूर्य से उष्णता ग्रहण करता है वैसे ही बुद्धि, मन तथा इन्द्रियाँ ब्रह्म से अपना प्रकाश ग्रहण करते हैं।"[३]

९. स्वरूप-ज्ञान

ब्रह्म से भिन्न जगत् का अस्तित्व ही नहीं है। ईश्वर, जीव तथा जगत् ब्रह्म के तीन भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। स्वरूप ईश्वर है। स्वरूप जगत् है। स्वरूप जीव है। स्वरूप मौन अथवा ज्ञान है। ज्ञानोपलब्धि वह अवस्था है जिसमें ज्ञानी अथवा जीवन्मुक्त यह अनुभव करता है कि ब्रह्म, ईश्वर, जीव तथा जगत् एक हैं। वह वेदान्त के इन चार प्रतिष्ठित प्रवर्गों में ऐक्य पाता है। ब्रह्म से बाहर कुछ भी नहीं है। जगत् को इस अर्थ में मिथ्या कहते हैं कि वह प्रातिभासिक है। यह आपेक्षिक रूप से सत्य भी है। असीम ब्रह्म की तुलना में जगत् कुछ भी नहीं रहता। जगत् उतना सत्य नहीं है जितना कि अपरिवर्तनशील ब्रह्म। लोकोत्तर अथवा अति-लौकिक दृष्टिकोण से जगत् की सत्ता नहीं है। परम तत्त्व की तुलना में जगत् बछड़े के पदचिह्न के समान है। यह वसिष्ठ जी का उनके प्रख्यात ग्रन्थ योगवासिष्ठ में मत है। अनन्त अपरिमेय ब्रह्म की तुलना में जगत् एक बिन्दु मात्र, सूई की नोकवत्, राई के दाने के बराबर, जल-बुद्बुद तथा सरिता के प्रवाह में पड़े तृण की भाँति है। श्री शङ्कराचार्य का भी मत है कि जगत् की प्रातिभासिक सत्ता है। यह ध्वनि उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ विवेकचूड़ामणि में आद्योपान्त गूँजती मिलती है।

१०. मोक्ष का स्वरूप

कोई व्यक्ति यह तर्क प्रस्तुत कर सकता है कि यदि अविद्या की निवृत्ति अनवरत न हो कर एक क्षणिक अवस्था है तो मोक्ष जीवन का चिरस्थायी अवसान नहीं होगा। दूसरे शब्दों में, अविद्या के अभाव में ही मोक्ष है और यह अभाव शाश्वत होना चाहिए, अन्यथा मोक्ष ऐहिक जीवन से शाश्वत मोक्ष न होगा।

यह श्री शङ्कराचार्य के एक अनुलोम शिष्य पद्मपाद का आधारभूत सिद्धान्त था। उन्होंने मोक्ष के स्वरूप के विषय में अपने लम्बे तर्क का उपसंहार इस वाक्य से किया : **"तस्मात् मिथ्याज्ञाननिवृत्तिमात्रः मोक्षः**—मोक्ष मिथ्याज्ञान के नाश में है।"

३ कठोपनिषद्: २-२-१५

इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि स्वयं अविद्या की निवृत्ति जीवन का मुख्य लक्ष्य नहीं हो सकती; क्योंकि इसमें न तो दुःख का अभाव है और न आनन्द की उपलब्धि। जीवन का मुख्य उद्देश्य तो वह होना चाहिए जिसमें सांसारिक दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति तथा परमानन्द की शाश्वत प्राप्ति हो। अविद्या की निवृत्ति वहाँ तक लाभदायक है जहाँ तक उसका परिणाम दुःख का अभाव तथा परमानन्द की प्राप्ति है।

चित्सुखाचार्य इससे भी एक पग आगे जाते हैं। उनके मत में अविद्या की निवृत्ति ही नहीं अपितु सभी दुःखों का अभाव भी जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता । परमार्थ तो परमानन्द की प्राप्ति है जो कि आत्मानन्द का पर्याय है। दुःखों की निवृत्ति तो निरपवाद रूप से आत्मानन्द की अभिव्यक्ति की पूर्वावस्था है जैसे अविद्या की निवृत्ति निरपवाद रूप से सकल दुःखों की निवृत्ति की पूर्वावस्था है। वह अपना मत निम्नाङ्कित तर्क पर स्थापित करते हैं।

मानव के सभी प्रकार के कार्यकलाप केवल एक ही लक्ष्य अर्थात् सुख की प्राप्ति की ओर निर्दिष्ट होते हैं। सुख आत्मा का मूलभूत स्वरूप ही है, किन्तु अविद्या के परिणामस्वरूप यह दुःख से आवृत है। अज्ञान की निवृत्ति के पश्चात् आने वाले दुःख की निवृत्ति का अर्थ है उस चीज की निवृत्ति जो आत्मा के सत्त्व-रूप सुख की अभिव्यक्ति में बाधा डालता है। इस भाँति दुःख की निवृत्ति की अभिलाषा की जाती है; क्योंकि वह परमानन्द की अभिव्यक्ति का कारण बनती है। दूसरे शब्दों में दुःख की निवृत्ति सुख से गौण है; क्योंकि इसकी आकांक्षा इसके लिए नहीं वरन् सुख की प्राप्ति के लिए की जाती है।

चित्सुखाचार्य के सिद्धान्त का विपर्याय कि दुःख की निवृत्ति की अभिलाषा दुःख की निवृत्ति के लिए ही की जाती है और सुख की प्राप्ति उससे गौण है, अतर्कसङ्गत है। यदि दुःख की निवृत्ति ही मानव की प्रवृत्तियों का एकमात्र लक्ष्य होता है तो उदाहरणस्वरूप कोई भी सम्भोग की अभिलाषा न करता; क्योंकि यदि यह अभिलाषा अवैध हो तो अनेक चिन्ताओं और परेशानियों से मिश्रित होती है और यदि दुःख की निवृत्ति ही उसकी तुष्टि के लिए प्रवृत्ति का एकमात्र उद्देश्य हो तो कोई भी चिन्ता और परेशानी नहीं झेलेगा। परन्तु चूँकि काम-वासना की तृप्ति से उत्पन्न क्षणिक सुख, यद्यपि अत्यधिक चिन्ताओं से पूर्ण है, फिर भी कुछ पाशविक वृत्ति के व्यक्ति इसे परम उत्कण्ठा तथा प्रगाढ़ता से चाहते हैं, अतः इससे यह परिणाम निकलता है कि उन्होंने अपनी दृष्टि के सम्मुख अपनी प्रवृत्तियों का लक्ष्य केवल दुःख की निवृत्ति ही नहीं, वरन् आनन्द की प्राप्ति स्थिर कर रखी है।

इस सुख की क्षणिकता रञ्चमात्र भी चित्सुखाचार्य द्वारा प्रस्तावित लक्ष्य का बेतुकापन प्रदर्शित नहीं करती; क्योंकि सुख एक धनात्मक विचार है और वृद्धि तथा

ह्रास आस्पद है। अतः व्यक्ति सुखमय अवस्था की प्राप्ति के लिए अनेक चिन्ताओं को स्वेच्छा से सहन कर सकता है। पापी व्यक्ति क्षणिक सुख को बहुत महत्त्व देता है, अतः वह स्वेच्छा से सभी प्रकार के कष्टों को सहता है। यदि दुःख की निवृत्ति मानव की प्रवृत्तियों का लक्ष्य हो तो दुःखों की विविधता को स्वेच्छा से स्वीकार नहीं किया जायेगा; क्योंकि अन्तिम दुःख की निवृत्ति पूर्ववर्ती दुःख से उत्कृष्ट नहीं हो सकती।

तथापि ऐसा नहीं मान लेना चाहिए कि वेदान्त वैध अथवा अवैध इन्द्रिय-सुख को मानव-जीवन का प्रमुख लक्ष्य ठहराता है। क्योंकि यह बौद्धिक सुखों को भी, जो इन्द्रिय-सुख से सूक्ष्मतर हैं, आत्मा के अपरिमेय सुख की तुलना में निकम्मा मानता है। चारित्रिक कमजोरी ही तात्कालिक लाभ को अयथार्थ आँकती है; अतएव काम्य पदार्थ तथा उसे प्राप्त करने के लिए उपयोग किये जाने वाले साधनों में एक अनुपात की आवश्यकता आवश्यक है। उपनिषद् इस विचार से पूर्ण हैं कि ब्रह्मलोक में प्राप्य चरम सुख आत्मसाक्षात्कार-प्राप्त आत्माएँ जिस आत्मानन्द के सागर में सन्तरण करती हैं उस सुख की तुलना में बूँदमात्र है। सुख के आदर्श को उन्नत बनाने के लिए ही वेदान्त साधकों की नैतिक संस्कृति पर इतना अधिक बल देता है। आत्मा का आनन्द अज्ञेय-तत्त्व है, उसकी कोई सीमा नहीं है।

इस भाँति अविद्या की निवृत्ति की भाँति ही सांसारिक दुःख की निवृत्ति मानव-जीवन का मुख्य लक्ष्य नहीं हो सकती। शुद्ध आत्मानन्द की प्राप्ति ही हमारे कार्यकलाप का निर्देशक तत्त्व है और होना चाहिए। —*सिद्धान्तलेश*

मोक्ष का स्वरूप क्या है? सर्वदुःखनिवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति। सर्वदुःखनिवृत्ति क्या है? सभी प्रकार की पीड़ाओं का, अविद्या तथा उसके कार्यों का, जन्म-मृत्यु आदि का निराकरण। परमानन्द-प्राप्ति क्या है? नित्य, निरुपाधिक निरतिशय आनन्द।

११. विश्वात्म-चैतन्य

चार प्रकार की मुक्ति, भक्तों की भाव-समाधि, राजयोगी की निम्न समाधियाँ तथा निम्न सविकल्प-समाधियाँ—ये सब विश्वात्म-चैतन्य के अनुभव की ओर ले जाने वाली हैं। मार्ग विभिन्न हो सकते हैं, किन्तु फल एक ही है। अनुभव सर्व-सामान्य हैं। अन्तर्ज्ञान, प्रकटीकरण, प्रेरणा, भावसमाधि—ये पर्यायवाची शब्द हैं।

विश्वात्म-चैतन्य की अवस्था भव्य तथा महान् है। यह मनुष्य में विस्मय, परमानन्द तथा पीड़ा, भय तथा शोक से मुक्त निरतिशय विशुद्ध सुख उत्पन्न करती है। यह अवस्था परम विश्वात्म-चैतन्य की अवस्था (निर्गुण ब्रह्म की चैतन्यावस्था) से निम्न है जिसमें द्रष्टा, दृष्टि तथा दृश्य अथवा ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान अथवा विषयी और विषय

एक बन जाते हैं। विश्वात्म-चैतन्य में अभी भी द्रष्टा एवं दृश्य रहते हैं। निस्सन्देह यह बहुत ही सूक्ष्म अनुभव है। यह दिव्य अनुभव है। यह कारण-जगत् का अनुभव है। ब्रह्मचैतन्य महाकारण जगत् का अनुभव है जहाँ न दिक्काल है और न कार्यकारण। यह अप्रतिबन्ध, अनिर्वचनीय अवस्था है। श्रुति इसे '**नेति-नेति**—यह नहीं, यह नहीं' कह कर वर्णन करती है। **"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कदाचन**—मन के सहित वाणी आदि इन्द्रियाँ उसे न पा कर लौट आती हैं, उस ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला ज्ञानी पुरुष कभी भय नहीं करता" (तैत्तिरीय : २-४-१)।

साधक को शुद्ध ब्रह्म-चैतन्य का स्वयं ही अनुभव करना होगा। इसका वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता। भाषा अपूर्ण है। विश्वात्म-चैतन्य ब्रह्म के लोक का अनुभव है। यह हिरण्यगर्भ का चैतन्य है। जो विश्वात्म-चैतन्य का अनुभव करता है, वह अनेक सिद्धियाँ प्राप्त करता है।

विश्वात्म-चैतन्य की, शरीर से ऊपर उठने की अवस्था की सत्यता को पाश्चात्य लोग भी स्वीकार करने लग गये हैं। कुछ ने तो इस अवस्था का आस्वादन तथा अनुभव भी किया है। फ्रान्स में प्रोफेसर बर्गसाँ ने ऐसे अन्तर्ज्ञान का प्रचार किया है जो विवेक का अतिक्रमण करता है, किन्तु उसका खण्डन नहीं करता। बूके विश्वात्म-चैतन्य का निम्नलिखित प्रकार से वर्णन करता है—"विश्वात्म-चैतन्य, जैसा कि इसका नाम ही बतलाता है, इस जगत् का जीवन तथा विधान है। विश्वात्म-चैतन्य के साथ-साथ बौद्धिक उद्बोधन होता है जो व्यक्ति को सत्ता के नये स्तर पर संस्थापित करता है। इसके साथ-साथ नैतिक उत्थान की अवस्था, सुख एवं हर्ष का अनिर्वचनीय अनुभव, नैतिक भाव की सूक्ष्मता की प्राप्ति होती है जो व्यक्ति तथा मानव-जाति दोनों के लिए ही विकसित बौद्धिक शक्ति की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली तथा महत्त्वपूर्ण होती है। इसके साथ ही अमरत्व के भान का उदय होता है, नित्य जीवन की चेतना जगती है—केवल आस्था के रूप में नहीं कि वह उसे प्राप्त करेगा, वरन् इस अनुभव-रूप में कि वह चेतना उसे पहले से ही प्राप्त है।" योग में अधिक प्रगति कर लेने पर योगी दिव्य दृष्टि प्राप्त करता है; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के लिए दिव्य दृष्टि प्राप्त करना सम्भव नहीं है; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति योगी नहीं बन सकता।

यह जगत् मानसिक सृष्टि है। यह विचार मात्र है। सुषुप्ति में कोई संसार नहीं होता है। आप तर्क कर सकते हैं कि यह जगत् जाग्रत लोगों के लिए सत्ता रखता है। हाँ, यह बिलकुल ठीक है। यदि मन है तो जगत् भी है। परन्तु मन है क्या? यह संस्कारों, वृत्तियों तथा आदतों का गट्ठर मात्र है। राग-द्वेष के दो प्रवाह मन के जीवन को बनाये रखते हैं। यदि इन दोनों प्रवाहों को नष्ट कर दिया जाये तो मन मर जाता है। इसे मनोनाश कहते हैं। जिस योगी को मनोनाश की प्राप्ति है वह जगत् का अनुभव नहीं कर सकता। यदि आप समाधि द्वारा मन को ज्ञानपूर्वक नष्ट कर दें तो इस जगत् का तिरोभाव हो जायेगा। जिस प्रकार आप सर्प की भ्रान्ति के विलीन होने पर रज्जु को देखते हैं उसी प्रकार आत्मज्ञान द्वारा जगत् तथा शरीर की भ्रान्ति के विलुप्त होने पर आप ब्रह्म को ही देखेंगे।

हो सकता है कि वैज्ञानिक तथा विज्ञान के छात्र मेरा विश्वास न करें। इसका अभ्यास अभी से करें। अपने को एक सप्ताह तक एक कमरे में बन्द रखें। सारे सम्बन्धों को तोड़ डालें। पूर्ण मौन का पालन भी करें। तब अनुभव करें कि आपके मन में जगत् के संस्कार कितनी दूर तक रहते हैं। आप अनुभव करेंगे कि जगत् स्वप्न है। यदि आप चिरकाल तक अभ्यास करेंगे तो आप मेरे कथन की सत्यता का अनुभव करेंगे। यह जगत् उस व्यक्ति के लिए ठोस सत्य है जो कामुक तथा लोभी है, विषयी है तथा जिसका मन अपरिष्कृत है। विश्वात्म-चेतना प्राप्त योगी के लिए जगत् है ही नहीं।

विश्वात्म-चैतन्य चैतन्य समाधि के परिणामस्वरूप प्राप्त होता है जिसमें योगी ज्ञान और अन्तर्ज्ञान के अतीन्द्रिय लोक का पूर्ण अनुभव रखता है। वह अपने अस्तित्व का अनुभव करता है—"**अहमस्मि**—मैं हूँ।" हठयोगी को जड़ समाधि द्वारा इस अतिचैतन्यावस्था की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह प्रगाढ़ सुषुप्ति के समान ही है। इस अवस्था में दिव्य ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है। श्वास पूर्णतः बन्द हो जाती है। प्राण मूलाधार-चक्र में ही कहीं स्थित हो जाता है। यदि उसके पैर को काटा जाये तो वह पीड़ा का अनुभव नहीं करेगा। रक्त-स्राव भी नहीं होगा। परन्तु संस्कार और वासनाएँ विदग्ध नहीं होतीं; किन्तु ब्रह्म-चैतन्य में वासनाएँ तथा संस्कार पूर्णतः दग्ध हो जाते हैं। जड़ समाधि मुक्ति नहीं दे सकती है। बिना किसी नैतिक पूर्णता के ही जड़ समाधि में प्रवेश किया जा सकता है; परन्तु विश्वात्म-चैतन्य बिना नैतिक पूर्णता के प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इस बात को अच्छी तरह स्मरण रखें।

परम निर्भयता, निष्कामता, वृत्तिहीनता, अक्रोध, मुख पर ब्रह्मतैजस्, सुख-दुःख से विमुक्ति—ये ही कुछ लक्षण हैं जिनसे परिलक्षित होता है कि मनुष्य ने अतिचैतन्यावस्था को प्राप्त कर लिया है। वह सदा पूर्णानन्द की अवस्था में रहता है। आप कभी भी उसके मुख पर क्रोध, अवसाद, शोक नहीं देख सकते। आप उसकी उपस्थिति में उत्थान, आनन्द तथा शान्ति प्राप्त करेंगे।

जिस प्रकार मदिरोन्मत्त व्यक्ति को यह चेतना नहीं रहती कि उसके शरीर पर वस्त्र है अथवा नहीं; ठीक उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्मचैतन्य का अनुभव प्राप्त योगी अपने शरीर की चेतना नहीं रखता।

जिस प्रकार भुलक्कड़ व्यक्ति कभी-कभी यह सन्देह कर बैठता है कि उसका पुराना फटा हुआ जूता उसके पैर में है अथवा नहीं; ठीक उसी प्रकार जीवन्मुक्त भी सन्देह करता है कि यह शरीर पुराने फटे जूते की तरह उससे लगा हुआ है या नहीं। वह संन्यासी या अवधूत अपने कौपीन तक का पूर्णतः त्याग कर सकता है जो ब्रह्म में पूर्णतः स्थित है जिसमें स्त्री-पुरुष के भेद का रञ्चमात्र भी विचार नहीं है। कौपीन उसके अनजाने में ही उसके शरीर से स्वतः ही गिर पड़ेगा।

जो नङ्गा है उसे आश्रम, शहर या गाँव में नहीं रहना चाहिए। उसे भोजन की चिन्ता न करते हुए अज्ञात रूप से विचरण करना चाहिए और अपने शरीर को कूड़े के घूर अथवा जीर्ण-शीर्ण घर में पड़ी हुई निर्मोक की तरह छोड़ देना चाहिए। आश्रम में नङ्गे रहना, परन्तु सभी प्रकार की सुख-सुविधाएँ रखना, शिष्य रखना तथा आश्रम के विकास में रुचि लेना शोभा नहीं देता। कम-से-कम जनता का एक वर्ग इसे अच्छा नहीं समझता। जो संन्यासी अथवा महात्मा आश्रम में अपने शरीर के लिए कुछ रखना चाहता है, वह अपने कौपीन के साथ-साथ छोटा वस्त्र भी पहन सकता है। यह उसके साक्षात्कार, वैराग्य अथवा त्याग के विपरीत नहीं होगा। केवल शारीरिक नग्नता ही वास्तविक त्याग नहीं हुआ करता। कुछ व्यक्ति योगवासिष्ठ में सप्तम भूमिका के ज्ञानी की दशा का विवरण पढ़ते हैं तथा बिना किसी आन्तरिक विकास अथवा उन्नत चैतन्यावस्था की प्राप्ति के ही उसकी बाह्यावस्था का अनुकरण करने लगते हैं। यह भूल है। यह पाखण्ड है। कुछ संन्यासी झूठमूठ ही जीवन्मुक्तावस्था की अवस्था धारण कर लेते हैं।

हरिद्वार के कुम्भ मेले में आप नवयुवक नागा साधुओं को नग्नावस्था में जुलूस में चलते हुए पायेंगे। क्या ये लड़के जितेन्द्रिय हैं जिन्हें अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण तथा विश्वात्म-चैतन्य की भावना प्राप्त है?

योगी रामचरक अपनी पुस्तक राजयोग में विश्वात्म-चैतन्य के विषय में लिखते हैं:

"विश्वात्म-चैतन्य का वर्णन जीवन की एकता के अनुभव के रूप में किया जाता है अर्थात् संसार एक जीवन से ओतप्रोत है। दूसरे शब्दों में इसकी वास्तविक अनुभूति कि यह विश्व जीवन, गति तथा मन से ओतप्रोत है तथा कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो अन्धी शक्ति तथा जड़ पदार्थ के रूप में हो वरन् सभी वस्तुएँ सजीव, सचेतन तथा स्पन्दनयुक्त हैं। यही वह वास्तविक जगत् है जो पदार्थ, शक्ति और मन के जगत् का सार तथा अधिष्ठान है। वास्तव में, जिन्हें इस अवस्था की झाँकी प्राप्त हुई है उनके वर्णन से यह प्रतीत होता है कि वे समस्त विश्व को सर्वमन—अन्ततोगत्वा सब मन ही है—के रूप में देखते हैं। इस चेतना का अनुभव यत्र-तत्र कुछ लोगों ने अपने ज्ञानालोक के उन समयों में किया है जो अल्पस्थायी रह कर स्मृति-चिह्नों को छोड़ पुनः विलीन हो जाते हैं। ज्ञानालोक के क्षण में सार्वभौमिक ज्ञान तथा जीवन के साथ 'संस्पर्शता' की चेतना का अवर्णनीय अनुभव होता है तथा उसके साथ ही अबोधगम्य आनन्द की प्राप्ति होती है।"

जो अतिविश्वात्म-चैतन्य को प्राप्त करता है उसको आप्तकाम (जिसने सभी काम्य पदार्थों को प्राप्त कर लिया है) की भावना होती है। वह अनुभव करता है कि 'अब मेरे लिए कोई ज्ञेय वस्तु नहीं रही।'

जब विश्वात्म-चैतन्य की अवस्था प्राप्त होती है तो नानात्व रूप-दर्शन का स्रष्टा विलुप्त हो जाता है। सारे अवरोध, द्वैत के भाव, भेद तथा पार्थक्य अदृश्य हो जाते हैं। दिक्काल का विचार नहीं रह जाता। शाश्वत मात्र ही रहता है। जीव ब्रह्म के साथ एकता का साक्षात्कार कर लेता है। जाति, वर्ण एवं मत के विचार अब विनष्ट हो जाते हैं। यह जगत् उसके लिए पूर्णतः विलुप्त हो जाता है।

मेरी पुस्तक 'राजयोग' में 'समाधि' विषय पर विस्तृत विचार किया गया है। अतः मैं इस पुस्तक के कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों की ओर आगे बढ़ता हूँ।

१२. सर्वज्ञता

सामान्य अवस्था में निर्विकल्प चेतना बहुत ही दुर्लभ अवस्था है। आप कुछ समय तक निर्विकल्प-समाधि में रह सकते हैं; किन्तु लोक-व्यवहार में इस चेतना को सदा बनाये रखना बहुत ही दुष्कर है। विशेष ईश्वर-कला-सम्पन्न श्री शङ्कराचार्य तथा श्री दत्तात्रेय जैसे व्यक्ति ही पूर्ण सामान्य निर्गुण चेतना को बनाये रख सके।

ब्रह्म सर्वज्ञ है। वह सभी ज्ञानों का प्रवर्तक है। वह संसार के सभी पदार्थों पर प्रकाश विकीर्ण करता है। उसकी ज्योति से सभी ज्योतिष्मान् हो रहे हैं। ब्रह्म सामान्य अर्थ में ज्ञाता नहीं है। वह सर्वज्ञ नहीं, सर्वज्ञानमय है। वह सर्व-शक्तिमान् नहीं वरन् शक्ति-स्वरूप है। सच्चिदानन्द उसका स्वरूप है, पट के नीलेपन की भाँति उसका विनाशशील गुण नहीं। आनन्द उसका शरीर है। ज्ञान उसका शरीर है। ब्रह्म सर्वस्व है। न तो उसके आकार है और न इन्द्रियाँ ही। सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमत्ता उसका स्वरूप ही है।

"सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥

—वह सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषय को मानने वाला है, फिर भी सब इन्द्रियों से रहित है। वह आसक्ति-रहित, सबको धारण करने वाला, गुणों से अतीत तथा गुणों को भोगने वाला है" (गीता : १३-१४)।

ब्रह्म का शिर सर्वानन्द है, धड़ सर्वसुख है, दक्षिण कर सर्वतुष्टि है, वाम कर सर्वसन्तोष है। उसके कान देख सकते हैं, उसके नेत्र सुन सकते हैं, उसके पैर खा सकते हैं, उसके नख बोल सकते तथा भाषण दे सकते हैं; क्योंकि ज्ञान उसका स्वरूप है।

ज्ञानी संसार को वैसा नहीं देखता है जैसा आप देखते हैं। वह विविध पदार्थों को अपने से बाहर अवलोकन नहीं करता। वह सभी पदार्थों को अपने में ही अवलोकन करता है। ज्ञानी ज्ञान के द्वारा अपरोक्ष सर्वज्ञता का उपयोग करता है तथा पूर्ण विश्वात्म-चैतन्य रखता है।

दूसरी विधि यह है कि ज्ञानी माया के संस्कार से सर्वज्ञ होता है। समष्टि जीवों के मनों की सूक्ष्म वृत्तियाँ माया में व्याप्त होती हैं और ज्ञानी मन मायिक संस्कारों में प्रवेश की क्षमता रखता है। अतः ज्ञानी सर्वज्ञ है। वह समष्टि जीवों की विचार-वीथियों से परिचित होता है।

१३. अजातिवाद

श्री शङ्कराचार्य के मतानुसार माया अनिर्वचनीय है। वह न सत् है, न असत्। वह न तो ब्रह्ममय है और न ब्रह्म से अभिन्न। आज के बहुत से वेदान्ती इस सिद्धान्त का बहुत ही अशुद्ध अर्थ लगाते हैं। वे कहते हैं कि संसार है ही नहीं और अपने तर्क के समर्थन में शश-विषाण, बन्ध्यापुत्र तथा गगनारविन्द का दृष्टान्त देते हैं। अजातिवाद का सिद्धान्त, बन्ध्यापुत्र के समान संसार का अत्यन्त अनस्तित्व पूर्णतः अतर्कसङ्गत है। इसका दार्शनिक क्षेत्र में कोई स्थान नहीं है। इस सिद्धान्त को किसी दार्शनिक ने स्वीकार नहीं किया है। संसार सुस्थापित निश्चित विधि-विधानों से चलता है। एक ईश्वर है जो जीवों को नियन्त्रित करता तथा उनके कर्मानुसार फल देता है। एक निश्चित बुद्धिसङ्गत दर्शन है जो सभी ब्रह्माण्डीय, मनोवैज्ञानिक, ईश्वरपरक तथा युगान्तविषयक समस्याओं का तर्कसङ्गत ढङ्ग से प्रतिपादन करता है। यदि आप अजातिवाद को स्वीकार करते हैं तो ये सब समाप्त हो जायेंगे। इस सिद्धान्त ने भारत में बहुत अनर्थ किया है। बहुत ही अल्पसंख्यक लोग, अल्पांश लोग ही ज्ञानयोग के अधिकारी हैं। अधिकांश लोगों के लिए या तो केवल कर्मयोग अथवा कर्मज्ञानसमुच्चययोग ही सहायक तथा उपयुक्त है।

इस अजातिवाद के सिद्धान्त ने तो हमारे कितने ही युवकों को अकर्मण्य बना कर ध्यानमय जीवन के लिए जङ्गल भेज दिया है। इन्होंने न तो वेदान्त-दर्शन को ठीक से समझा-बूझा और न ध्यान की विधि ही सीखी। इन्होंने इस संसार को सर्वथा सत्ताहीन समझ कर इसकी पूर्ण उपेक्षा की। इन्होंने भौतिक शरीर के यथोचित अनुरक्षण में भी

उदासीनता बरती है। ध्यान तो बड़ी कठिन प्रक्रिया है। जो चौबीस घण्टे ध्यान करने में समर्थ हैं वे ही दीर्घ काल तक पूर्ण एकान्तवास अपना सकते हैं। एक नया साधक एकान्तवास-काल में अपने मन को पूर्णतः व्यस्त नहीं रख सकता है। वह जानता ही नहीं कि मन से किस तरह काम लेना चाहिए और उसे लक्ष्य पर अच्छी तरह कैसे टिकाना चाहिए। शरीर की उपेक्षा से शनैः-शनैः कमजोरी आ घेरती है। विवेकहीन एकान्तवास के परिणाम-स्वरूप अन्त में कमजोरी तथा मानसिक अकर्मण्यता के कारण अनेक संन्यासी तामसिक बन जाते हैं जिसे भूल से वे सत्त्व समझ लेते हैं (जबकि सत्त्व प्रचण्ड सक्रियता है)। वे लोग अपने लिए या संसार के लिए सर्वथा अनुपयोगी बन कर रह जाते हैं। शरीर को स्वस्थ दशा में रखने के लिए सभी सम्भव उपाय करने चाहिए। साधक को सांसारिक व्यक्ति से अधिक परवाह करनी चाहिए; क्योंकि यही वह आलम्बन है जिससे उसे लक्ष्य तक पहुँचना है। तथापि उसे शरीर से सर्वथा अनासक्त रहना चाहिए और उसे त्याग बैठने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए। यही उचित आदर्श है। कुछ वर्षों तक एकान्तवास करके भी यदि साधक को उन्नति दृष्टिगोचर न हो रही हो और ऐसा लगता हो कि वह धीरे-धीरे तमस् में जा रहा है तो अच्छा हो कि वह समाज में वापस आ जाये तथा अनुकूल कर्म करते हुए ध्यान भी करे। वह कर्म द्वारा उन्नति कर सकता है। तामसिक अवस्था में तो उसकी सारी आध्यात्मिक उन्नति चौपट हो जायेगी। ब्रह्म दृश्य-प्रपञ्च से किञ्चिन्मात्र प्रभावित न होते हुए अपने अन्दर इस संसार को 'विचारों की गति' अथवा 'सत्ता' के प्रकार के रूप में रखता है। आप एक अकिञ्चन क्षुद्र जीव के रूप में अपने अन्दर दृश्य-प्रपञ्च का स्वप्न-जगत् रखते हैं और इन विकारों से रञ्चमात्र भी प्रभावित नहीं होते। जब आपके विषय में ऐसी बात है तो सर्वशक्तिमान् ब्रह्म अपने अन्दर यह दृश्य-प्रपञ्च क्यों नहीं रख सकता है? ब्रह्म सर्वशक्तिमान् है। वह जो चाहे कर सकता है। वह निर्विकल्प हो सकता है। वह सविकल्प भी हो सकता है। वह निराकार हो सकता है। वह साकार भी हो सकता है। वह निर्गुण हो सकता है। वह सगुण भी हो सकता है। आप दिक्काल तथा कार्य-कारण से सीमित स्थूल बुद्धि से सर्वातिशायी विषयों को नहीं समझ सकते हैं। यही कठिनाई है। आप इस सिद्धान्त को सम्यक् रूप से नहीं समझ सकते हैं : "चित्त की वृत्तियों का साक्षी रहना और उसके साथ ही मन तथा शरीर को सभी सांसारिक प्रवृत्तियों के निष्पादन के लिए साधन के रूप में उपयोग करना।" क्यों? क्योंकि सांसारिक आसक्तियों तथा क्षोभों के कारण आपकी बुद्धि अशुचि है। यदि आप साक्षी होने के साथ-ही-साथ कार्यों से किञ्चिन्मात्र प्रभावित न हो कर कर्ता बनने में असमर्थ हैं तो आप अपने मानवतारोपी दृष्टिकोण से ब्रह्म को अपने स्तर पर नीचे लाते हैं और तर्क करते हैं कि ब्रह्म भी साक्षी होने के साथ-साथ

कर्ता नहीं हो सकता है। आप सोचते हैं कि आपके लिए जो असम्भव है वह ब्रह्म के लिए भी असम्भव है। यह केवल बचकाना तथा मानवतारोपी है। ब्रह्म सर्व-साक्षी है। वह सबका द्रष्टा है। वह सभी शरीरों में कार्य करता है।

१४. ब्रह्माकार-वृत्ति

विवेकादि साधन-चतुष्टय की प्राप्ति के अनन्तर शिष्य अपने गुरु-मुख से तत्त्वमस्यादि महावाक्यों के सुनने का अधिकारी होता है। इनके श्रवणान्तर, उसके सात्त्विक अन्तःकरण से ब्रह्माकार-वृत्ति का उदय होता है। इसे सात्त्विक अन्तःकरण का परिणाम भी कहते हैं। वेदान्त के शब्दों में ब्रह्माकार-वृत्ति महावाक्यजन्य, सत्त्वगुण कार्य अथवा अन्तःकरण परिणाम है। यह श्रुतियों के श्रवण से उत्पन्न होती है। यह सत्त्वगुण का कार्य है। यह अन्तःकरण का विकार है। इस ब्रह्माकार-वृत्ति के अन्य नाम हैं : अखण्डाकार-वृत्ति, तदाकार-वृत्ति, आत्माकार-वृत्ति, स्वरूपाकार-वृत्ति। इस वृत्ति के उदय होने पर विषयाकार-वृत्ति रुक जाती है। साधना का प्रयोजन यही है कि विषयाकार-वृत्ति को न उठने दिया जाये तथा मन को ब्रह्म में स्थिर करने के द्वारा ब्रह्माकार-वृत्ति को बनाये रखा जाये। ब्रह्माकार-वृत्ति-स्थिति ज्ञानी की समाधि है। निरन्तर निदिध्यासन के फलस्वरूप यह स्थिति प्राप्त होती है। यह ब्रह्माकार-वृत्ति ही मूल अज्ञान को नष्ट करती है।

विषयाकार-वृत्ति को ब्रह्माकार-वृत्ति में परिणत कर दीजिए। निर्गुण ध्यान की अवस्था में जब निरन्तर मानसिक प्रणवजपपूर्वक ब्रह्म की अनन्त सच्चिदानन्दमयता में तन्मय होते हैं, तब यह ब्रह्माकार-वृत्ति उत्पन्न होती है।

१५. ब्रह्माकार-वृत्ति का भविष्य

वेदान्त-वाक्यों के श्रवण से उत्पन्न यह ब्रह्माकार-वृत्ति चित्त की अन्तिम वृत्ति है। **'तत्त्वमसि'** अथवा **'अहं ब्रह्मास्मि'** से प्रथम मूलाज्ञान का और तदुपरान्त उसके द्वारा समस्त दृश्य-जगत् का नाश होता है। यह ब्रह्माकार-वृत्ति अथवा दूसरे शब्दों में ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान भी ब्रह्म को अपने सहज अद्वैत स्वरूप में भासमान होने देने के लिए शान्त हो जाना चाहिए। तब इस ब्रह्माकार-वृत्ति के विनाश का कारण क्या है?

कुछ लोग इस प्रश्न का उत्तर निम्न प्रकार से देते हैं : जैसे कतक नामक फल का चूर्ण समल जल में डालने पर उसके सब मल को नीचे ले जाता है और साथ ही वह स्वयं पात्र के अधोभाग में बैठ जाता है; वैसे ही ब्रह्मज्ञान सम्पूर्ण दृश्य-जगत् का नाश करने के साथ अपना भी नाश कर लेता है।

अन्य लोग इस आपत्ति को निम्न दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं : अग्नितप्त लोहपिण्ड पर एक बूँद जल छिड़का जाये तो वह बूँद कुछ सीमा तक लोहे को ठण्ढा कर देती है

और फिर स्वयं भी लुप्त हो जाती है। वैसे ही ब्रह्मज्ञान समस्त संसार का नाश करने के साथ-साथ अपने स्वरूप का नाश कर लेता है (यहाँ संसार से तात्पर्य भौतिक संसार से नहीं वरन् अभौतिक संसार से है)।

इस समस्या के समाधान में अन्य लोग इसी से मिलता-जुलता अन्य दृष्टान्त देते हैं। जैसे अग्नि तृण-समूह को जलाने के पश्चात् स्वयं बुझ जाती है, वैसे ही ब्रह्मज्ञान समस्त संसार को नष्ट करके स्वयं को भी नष्ट कर लेता है।

पूर्वगामी सभी विचारों में, जिस सिद्धान्त पर ब्रह्मज्ञान का विनाश घटित होता है, वह एक ही है अर्थात् वह अपने ही विनाश का कारण बनता है। इस आत्म-विनाश के सिद्धान्त को स्थापित करने वाले तर्कों के विस्तार में जाना प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय-क्षेत्र के बाहर होगा।

एक अन्य विचार यह है कि ब्रह्माकार-वृत्ति के रूप में ब्रह्मज्ञान मूलाज्ञान तथा उसके परिणामों का विनाशक नहीं है; क्योंकि अज्ञान ज्ञान के प्रकाश से ही नष्ट हो सकता है। चित्त की वृत्ति स्वयं ज्ञानरहित होने से उस अज्ञान को नष्ट नहीं कर सकती। वृत्ति का ज्ञान-रूप इसके मूलभूत ज्ञान-स्वरूप होने के कारण नहीं है, वरन् शुद्ध आत्म-चैतन्य से उसे उपलब्ध है जो कि सभी पदार्थों की परासत्ता है। अतएव आत्म-चैतन्य जो अपने सामान्य रूप में अज्ञान का विरोधी नहीं है, जैसा कि इसकी सत्ता से सिद्ध होता है, ब्रह्माकार-वृत्ति पर आरूढ़ हो कर उसका विनाशक बनता है। इस तथ्य को सूर्य-रश्मि के दृष्टान्त से स्पष्ट किया जा सकता है। सूर्य-रश्मियाँ जो अपने सामान्य गुण से तृण आदि को प्रकाशित करती हैं सूर्यकान्त-मणि के द्वारा प्रतिबिम्बित हो कर उन्हें वस्तुतः जला डालती हैं। अन्यच्च जैसे छोटी झाड़ी में लग कर अग्नि झाड़ी-सहित सम्पूर्ण वन को जला डालती है वैसे ही वृत्ति-आरूढ़ चैतन्य ब्रह्मज्ञान नामक ब्रह्माकार-वृत्ति-सहित सम्पूर्ण दृश्य-जगत् को नष्ट कर डालती है।

पूर्ववर्ती अन्तिम विचार में ब्रह्मज्ञान के विनाश का कारण वृत्ति-आरूढ़ चैतन्य का प्रकाश माना गया था। पाँचवाँ विचार यह है कि ब्रह्मज्ञान नामक ब्रह्माकार-वृत्ति अज्ञान के नाश के अनन्तर नष्ट हो जाती है। दूसरे शब्दों में अपरोक्ष का विनाश पूर्वोक्त के विनाश का कारण बनता है। ज्ञान अज्ञान को नष्ट करता है। यह अज्ञान का विनाश मन की वृत्ति का विनाश करता है।

यह नियम है कि ज्ञान तथा अज्ञान में ही साक्षात् विरोध है, ज्ञान तथा प्रपञ्च में नहीं; किन्तु प्रपञ्च के उपादान, अज्ञान के नाश होने पर प्रपञ्च का अस्तित्व नहीं रह सकता। चित्त की वृत्ति के रूप में ब्रह्मज्ञान प्रपञ्च के अन्तर्गत है और अज्ञान के नाश होने के पश्चात् नष्ट हो जाता है।

ज्ञान से संसार के नष्ट न होने से यह (संसार) सत्य नहीं बन जाता। सभी पदार्थ, जो ज्ञान द्वारा नष्ट नहीं होते, सत्य हैं और संसार ज्ञान द्वारा नष्ट नहीं होता, अतः वह सत्य है। यह निष्कर्ष तर्कसङ्गत नहीं है; क्योंकि संसार का विनाश अप्रत्यक्ष रूप से ज्ञान के कारण होता है। ब्रह्मज्ञान विश्व-विस्तार-कल्पना को निरुत्तर कर देता है। उस कल्पना के विनाश से प्रपञ्च का विनाश हो जाता है। इस भाँति संसार के विनाश का कम-से-कम अप्रत्यक्ष कारण होने से संसार निश्चय ही असत्य है।

इस नियम को कि केवल ज्ञान और अज्ञान में ही अपरोक्ष विरोध है, स्वीकार कर लेने में एक लाभ है। यदि ब्रह्मज्ञान को अज्ञान तथा उसके परिणाम दोनों का विनाशक स्वीकार किया जाये तो जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त अव्याख्येय हो जायेगा। विरोधी सिद्धान्त में पूर्ण ज्ञानी अपने शरीर तथा मन से पूर्णतः अनभिज्ञ रहेगा, क्योंकि वे ज्ञान द्वारा नष्ट हो चुके हैं। किन्तु जब ज्ञान केवल अज्ञान का प्रत्यक्ष विरोधी है तो जीवन्मुक्त आत्मा को कर्म के भोगों की विद्यमानता के कारण, जो कि अपनी समाप्ति तक उसके शरीर को बनाये रखते हैं, शरीर आदि आभास-रूप में प्रतीत होगा। वेदान्त में जीवन्मुक्त की दशा का वर्णन समृद्ध रूपकों में दिया गया है। अग्नि वस्त्र को जला डालती है जो कुछ काल तक आभास-रूप में बना रहता है। इसी भाँति जीवन्मुक्त व्यक्ति कर्मभोगों की समाप्ति पर मर्त्य शरीर में रखा हुआ-सा प्रतीत होता है।

१६. जीवन्मुक्त का स्वरूप

आइए, ऐसे व्यक्ति की कल्पना करें जिसने वेदान्त के व्यावहारिक पथ पर चल कर जीवन की यह आदर्श अवस्था प्राप्त की हो। हम अपनी बौद्धिक अवस्था द्वारा अपने ऊपर आरोपित परिसीमाओं से बँधे होने के कारण उसकी निरुपाधिक अवस्था की थाह लेने की स्थिति में नहीं हैं। फिर भी जैसे पक्षी-शावक जो अपने पङ्खों से प्रयास करके भी, अपने माता-पिता की तरह ऊँची उड़ानें नहीं भर सकता है, विस्तृत आकाश के विषय में दूर की कल्पना तो कर ही सकता है जहाँ उसके माता-पिता आनन्दपूर्वक स्वच्छन्द विहार करते हैं। जीवन्मुक्ति की दशा की अपरोक्षानुभूति के अभाव में हम श्रुति तथा गुरु इन दो पङ्खों का सम्बल ले कर उस अवस्था के विषय में अपनी धारणा बनाने का प्रयास करेंगे, भले ही यह धारणा तथ्य से कितनी ही दूर क्यों न हो।

केवल दो ही सम्भावित विकल्प हैं : या तो जीवन्मुक्त अपने व्यक्तित्व से अनभिज्ञ रह कर ब्रह्म में पूर्णतः तल्लीन हो जाता है या सोपाधिक ब्रह्म से एक हो जाता है तथा सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता आदि को प्राप्त करता है। यह स्मरण रहे कि द्वितीय विकल्प

में मुक्तात्मा सभी दैवी शक्तियों से सम्पन्न होते हुए भी ब्रह्म के साथ अपनी मूलभूत एकता से अनभिज्ञ नहीं रहता।

ब्रह्मसूत्र के चतुर्थ अध्याय में मुक्तात्मा के स्वरूप की गवेषणा की गयी है। जैमिनि का दृढ़तापूर्वक कथन है कि जीवन्मुक्त पुरुष परब्रह्म से पूर्ण तादात्म्य प्राप्त कर लेता है; अतएव वह पाप, जरा, मृत्यु, शोक, क्षुधा, पिपासा से मुक्त होता है तथा सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प आदि सभी दैवी गुणों का भागी बनता है। इसके विपरीत औडुलोमि का मत है कि आत्मा, जिसका मूल स्वरूप सच्चिदानन्द है, द्वैत भावना से सर्वथा मुक्त हो शुद्ध चैतन्य में पूर्णतः लीन हो जाता है। अन्तिम तथा शुद्ध मत इन दोनों पूर्वगामी मतों के मध्य का मार्ग है। जहाँ तक जीवन्मुक्त का मूल स्वरूप से अभिन्न होने, शुद्ध ब्रह्म के साथ एक होने और आदि में सोपाधिक ब्रह्म में लीन होने तथा सभी दिव्य शक्तियों से सम्पन्न होने की बात है, दोनों ही पूर्वगामी विचार ठीक हैं। इस मध्य मार्ग का बादरायण ने अपने नाम से अनुमोदन किया है। शङ्कराचार्य भी सूत्रकार से सहमत हैं; क्योंकि उन्होंने बादरायण के इस सिद्धान्त के विरुद्ध एक भी आपत्ति नहीं उठायी है। भामती तथा अन्य व्याख्याकारों ने भाष्य की इसी भावना से व्याख्या की है। उन्होंने कहीं भी अपनी असहमति नहीं प्रकट की है।

जो जीव तथा ब्रह्म के अभेद को जानता है उसके लिए न आवागमन है और न मोक्ष; क्योंकि वह पहले से ही मुक्त हो चुका है। जगत् तथा अपने शरीर की सतत सत्ता उसे भ्रान्त प्रतीत होती है। उसकी प्रतीति को वह हटा तो नहीं सकता, पर उसे वह और धोखा नहीं दे सकती। अपने शरीर के मृत्यूपरान्त वह इधर-उधर विचरण नहीं करता, वह जहाँ पर है और जो है वहाँ पर जैसा कि वह है और जैसा शाश्वत काल से था वैसा ही—सभी का आद्य तत्त्व, मूल, नित्य, शुद्ध , मुक्त ब्रह्म बना रहता है।

१७. ज्ञानी कौन है ?

पूर्ण ज्ञानी का दृष्टिकोण भिन्न होता है। उसके नेत्र भिन्न होते हैं। वह प्रत्येक वस्तु को सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण से देखता है। जैसे हरा चश्मा पहनने वाला व्यक्ति सर्वत्र हरे पदार्थ देखता है वैसे ही ज्ञानी अपने ज्ञान-नेत्र से सर्वत्र आत्मा के दर्शन करता है। उसमें कुछ भी वैयक्तिक तत्त्व नहीं होता। उसमें रञ्चमात्र भी स्वार्थ-भावना नहीं होती। निम्न आत्मा पूर्णतः नष्ट हो गयी होती है। वह दूसरों की सेवा के लिए ही जीता है। वह संसार को अपनी आत्मा ही अनुभव करता है। वह वस्तुतः अनुभव करता है कि सब-कुछ वह ही है। उसमें अपने क्षुद्र वैयक्तिक अहं के लिए एक भी विचार अथवा भाव नहीं होता। उसका दृष्टिकोण सार्वभौम तथा भावना सार्वभौम होती है। जैसे

सरिता सागर में मिलती है वैसे ही सच्चिदानन्द-सागर में वह मिल चुका है। वह दूसरों के लिए सोचता, अनुभव करता तथा कार्य करता है।

ज्ञानी सभी परिस्थितियों तथा अवस्थाओं में चिन्ताओं, कठिनाइयों, कष्टों, मुसीबतों, शोक तथा परेशानियों से मुक्त रहता है। वह सदा प्रसन्न तथा सुखी रहता है। वह विभिन्न वृत्तियों का दास अथवा शिकार नहीं होता। वह शोक, विषाद तथा उत्पीड़न से रञ्चमात्र भी प्रभावित नहीं होता।

ज्ञानी का सर्वतोमुखी विकास होता है। उसका चरित्र निष्कलङ्क होता है। सभी सात्त्विक गुण उसमें विभासित होते हैं। वह करुणा, सहानुभूति, प्रेम, धैर्य, शान्ति आदि का मूर्तरूप होता है। उसमें सभी विषयों तथा सभी गुणों का उत्कर्ष होता है, सम्पूर्ण प्रकृति पूर्णतः उद्घाटित होती है। सभी दिव्य गुण उसमें पूर्णतया जाग्रत होते हैं।

जीवन्मुक्त की महिमा अनिर्वचनीय है। वह स्वयं ब्रह्म है। आठों सिद्धियाँ और नवों ऋद्धियाँ उसके चरणों के तले लोटती हैं। वह अपने सत्सङ्कल्प से आश्चर्यजनक कार्य कर सकता है। ऐसे जीवन्मुक्तों की जय हो जो इस भूतल पर वरदानस्वरूप हैं। उनका आशीर्वाद आप सब पर हो !

१८. वेदान्तिक ध्यान

मैं सब-कुछ हूँ	ॐ ॐ ॐ
मैं सर्वस्व हूँ	ॐ ॐ ॐ
मैं सबके अन्दर अमर आत्मा हूँ	ॐ ॐ ॐ
मैं अक्षय सत्य हूँ	ॐ ॐ ॐ
मैं अक्षय सत्ता हूँ	ॐ ॐ ॐ
मैं अवस्थात्रय का साक्षी हूँ	ॐ ॐ ॐ
मैं निराकार ज्योतिस्वरूप हूँ	ॐ ॐ ॐ
मैं सूर्यों का सूर्य हूँ	ॐ ॐ ॐ
मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ	ॐ ॐ ॐ

अद्वैतवादियों के निराकार वेदान्तिक ध्यान में भी साधना के प्रारम्भ में एक अमूर्त मानसिक भावना तो रहेगी ही। यह अन्ततः लुप्त हो जायेगी। जब आप ध्यान करते हैं तो शरीरत्रय को अस्वीकार करें और अन्तर्वासी तत्त्व से अपना तादात्म्य अनुभव करें। नामों तथा रूपों का निषेध करें। इस स्थूल शरीर, मन, प्राण, बुद्धि अथवा इन्द्रियों को शुद्ध, नित्य आत्मा समझने की भूल न करें। श्रेष्ठतम आत्मा इन भ्रामक माध्यमों अथवा माया के परिणामों से पूर्णतया भिन्न है। इस बात को अच्छी तरह स्मरण रखें। आप उपर्युक्त विचारों पर ध्यान करें और कार्यकाल में भी वही भाव लायें। आप

उपर्युक्त सूत्रों में से अपनी रुचि के अनुसार कोई भी सूत्र ले सकते हैं। यदि मन भ्रमण करता है तो मन को उसी विषय पर पुनः-पुनः लायें। यदि मन भागता है तो आप मन को एक सूत्र से दूसरे सूत्र पर घुमायें और अन्त में जब मन शान्त हो जाये तो उसे केवल एक सूत्र में स्थिर करें। अब मन निर्वात दीपशिखा की भाँति स्थिर हो जायेगा। यह सूत्र भी स्वयं छूट जायेगा। आप अपने स्वरूप में, शुद्ध आनन्द की निर्विचारावस्था में विश्राम करेंगे। अब समाधि की अवस्था आयेगी। आत्मानन्द का सुख भोगें। अमर अन्तरात्मा में आनन्दित हों।

१९. सविकल्प तथा निर्विकल्प-समाधि

समाधि अतिचैतन्यावस्था है। यह ब्रह्म के साथ योग है। यह दो प्रकार की है अर्थात् सविकल्प तथा निर्विकल्प। जब मन त्रिपुटी अर्थात् ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान के साथ ब्रह्म में स्थिर होता है तो यह सविकल्प-समाधि है। इस समाधि में विषय तथा विषयी का अभिज्ञान रहता है।

निर्विकल्प-समाधि में मन अद्वितीय ब्रह्म में स्थिर रहता है; ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय की त्रिपुटी नहीं रहती तथा विषयी और विषय का अभिज्ञान भी नहीं रहता। सविकल्प-समाधि लक्ष्य निर्विकल्प-समाधि का साधन है। निर्विकल्प-समाधि सविकल्प-समाधि का फल अथवा परिणाम है।

यद्यपि सविकल्प-समाधि में द्वैत का भान रहता है, क्योंकि इसमें विषय तथा विषयी का स्पष्ट अभिज्ञान रहता है; किन्तु यह अद्वैत ब्रह्म के ज्ञान में सहायक है। जिस प्रकार मृत्तिका का बोध होता है चाहे पात्र का आभास हो, उसी प्रकार अद्वैत ब्रह्म का बोध होता है चाहे द्वैत का आभास क्यों न हो।

निर्विकल्प का अर्थ है जो सभी प्रकार के विकल्पों से मुक्त हो, जिसमें मन की वृत्ति अथवा कल्पना न हो। योगी तथा वेदान्ती की निर्विकल्प अवस्थाओं में अन्तर होता है। योगी की दशा का सम्बन्ध मन और वेदान्ती की दशा का सम्बन्ध आत्मा अथवा ब्रह्म से होता है।

यदि आप अपने मन को किसी विशेष वस्तु अथवा मूर्ति पर दश सेकेण्ड तक स्थिरता से एकाग्र करें तो यह धारणा होती है। ऐसी दश धारणाओं को ध्यान कहते हैं। ऐसे दश ध्यान से समाधि बनती है। यह हठयोग के अनुसार है।

छाती में प्राण-वायु और गुदा में अपान-वायु चलती है। बन्ध की यौगिक क्रिया द्वारा ये दोनों वायु मिल जाती हैं और मेरुदण्ड की सुषुम्ना-नाड़ी में प्रवेश करती हैं। प्राण अपने साथ-साथ मन को भी सुषुम्ना-नाड़ी के अन्दर खींच लेता है। जब योगी का मन सुषुम्ना के अन्दर रहता है तो उसे सांसारिक विषय का ज्ञान नहीं रहता । वह

संसार के लिए मृत-प्राय हो जाता है और चिदाकाश में ही नाना प्रकार के दृश्य देखता और गमन करता है।

आत्ममय जीवन विनाश नहीं है। समाधि शिला के समान जड़ दशा नहीं है, जैसा कि अनेक ज्ञानी लोग समझते हैं। जब तक जीव भौतिक बन्धनों से घिरा रहता है तब तक उसकी शक्तियाँ पूर्णरूप से विकसित नहीं होतीं और जब वह इन भौतिक सत्ता के बन्धनों से परे हो जाता है तब उसका विश्व-जीवन गम्भीर और आत्मा समृद्ध हो जाती है। उसके आन्तरिक जीवन में वृद्धि होती है तथा उसका विश्व-जीवन और अतिविश्व-जीवन भी विशाल हो जाता है।

जब सारी वृत्तियाँ मर जाती हैं तो संस्कार और मन का ढाँचा रह जाता है। संस्कार केवल सर्वोच्च निर्विकल्प-समाधि द्वारा भस्म किये जा सकते हैं।

सविकल्प-समाधि की तुलना चलती हुई गाड़ी से की जा सकती है। जब गाड़ी रुक जाये तो निर्विकल्प-समाधि समझनी चाहिए और बैलों को खोल दिया जाये तो सहजावस्था हो गयी।

विषय-रूप संसार के मकान की निचली मंजिल विषयी जीवन है। पहली मंजिल सविकल्प-समाधि का प्रतीक है, दूसरी मंजिल निर्विकल्प-समाधि के तुल्य है और तीसरी मंजिल जीवन्मुक्त की सहजावस्था है।

सविकल्प-समाधि में त्रिपुटी रहती है; पर निर्विकल्प-समाधि में यह त्रिपुटी नहीं रहती है। मन ब्रह्म में पूर्णतया लीन हो जाता है। सविकल्प-समाधि में जो आनन्द प्राप्त होता है उसे रसास्वाद कहते हैं। यह भी आध्यात्मिक अग्रगति में एक प्रतिबन्ध है। यह आपको उसी स्थान पर रोक देता है। यह आपको मोक्ष नहीं दे सकता है। आपको और भी अग्रसर होना चाहिए और उच्चतम निर्विकल्प-समाधि प्राप्त करनी चाहिए जिससे आपकी मुक्ति हो।

हठयोगी सारे शरीर से प्राण को खींच कर शिर के ऊपरी भाग सहस्रार-चक्र में ले जाता है। तब वह समाधि में प्रवेश करता है। इसलिए केवल उसका शरीर हिला कर उसे सामान्य विषयगत चेतना में लाना बहुत कठिन है। हठयोगी समाधि में कई वर्षों तक पृथ्वी के अन्दर दबे रहते हैं। वे खेचरी-मुद्रा के द्वारा अपनी लम्बी जिह्वा से तालु के अन्दर पश्च नासारन्ध्र को बन्द कर देते हैं।

आप राजयोगी या भक्त या ज्ञानयोगी को केवल उसका शरीर हिला कर या शङ्ख बजा कर समाधि से सामान्य विषयनिष्ठ चेतना में ला सकते हैं। रानी चुडाला ने अपने पति राजा शिखिध्वज को उसका शरीर हिला कर ही समाधि से सामान्य चेतना में उतारा था। भगवान् हरि ने शङ्ख-ध्वनि द्वारा भक्त प्रह्लाद को समाधि से उतारा था।

भक्त को भगवत्प्रेम द्वारा भाव-समाधि, राजयोगी को चित्त-वृत्ति-निरोध द्वारा निरोध-समाधि तथा वेदान्ती को निदिध्यासन द्वारा निर्विकल्प-समाधि हो जाती है।

अन्तःप्रज्ञा आध्यात्मिक अनुभव होता है। यह समाधि में सत्य का अपरोक्ष ज्ञान है। प्रोफेसर बर्गसाँ ने फ्रांस में अन्तःप्रज्ञा का प्रचार किया जिससे कि लोग समझ जायें कि बुद्धि के अतिरिक्त भी ज्ञान का अन्य उच्च स्रोत है। अन्तःप्रज्ञा में तर्कविधि नहीं होती। यह प्रत्यक्ष होता है। अन्तःप्रज्ञा विवेक से अतीत होती है; परन्तु इसका खण्डन नहीं करती। बुद्धि मनुष्य को अन्तःप्रज्ञा की ड्योढ़ी तक पहुँचा कर लौट जाती है। अन्तःप्रज्ञा दिव्य दृष्टि या ज्ञान-चक्षु है। अन्तःप्रज्ञा के द्वारा सत्य की कौंध तथा झलक आया करती है। प्रेरणा, प्रकटन और आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि—ये सब अन्तःप्रज्ञा द्वारा प्राप्त होते हैं।

द्वादश अध्याय

रहस्यमय अनुभव

१. अनाहत-नाद

अनाहत-नाद वह ध्वनि है, वह रहस्यमय गूँज है जो योगी ध्यान-प्रक्रिया की आरम्भावस्था में सुनता है। इस विषय का नाम है नाद-अनुसन्धान अथवा रहस्यमय ध्वनि का अन्वीक्षण। यह प्राणायाम के अभ्यास द्वारा नाड़ियों की शुद्धि का लक्षण है। यह ध्वनि अजपा गायत्री मन्त्र—**"हंसः सोऽहम्"** का एक लाख जप करने से सुनी जा सकती है। यह ध्वनि दाहिने कान से—कान चाहे खुला रहे या बन्द—सुनायी देती है। बन्द कानों से सुनने पर ध्वनि स्पष्ट सुनायी देती है। योनि-मुद्रा द्वारा दोनों अँगूठों से कान बन्द कर सकते हैं। पद्मासन अथवा सिद्धासन में बैठिए। दायें-बायें अँगूठों से कानों को बन्द कीजिए और खूब ध्यान से यह ध्वनि सुनिए। कभी-कभी आप इस ध्वनि को बायें कान से भी सुन सकते हैं। केवल दाहिने कान से सुनने का अभ्यास कीजिए। दायें कान से ही क्यों सुनायी पड़ती है अथवा दायें कान से ही क्यों स्पष्ट सुनायी देती है? इसलिए कि इस ओर सूर्य-नाड़ी, पिङ्गला का प्रभाव है। अनाहत-नाद को ओङ्कार-ध्वनि भी कहते हैं। हृदय-प्रदेश में प्राण-स्पन्दन के कारण यह ध्वनि होती है।

२. चित्त-सञ्चार

ध्यान का किञ्चित् अभ्यास करने के पश्चात् आप अनुभव करेंगे कि अपनी रुचि अथवा प्रकृति के अनुकूल पद्मासन, सिद्धासन अथवा सुखासन पर बैठते ही पन्दरह या बीस मिनट में आपका शरीर लघु (हलका) हो गया है। हो सकता है, शरीर तथा परिसर का थोड़ा-थोड़ा भान बना रहे या बिलकुल ही मिट जाये। इस ध्यानावस्था का आनन्द महान् है। यह ध्यानावस्था के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाला आनन्द विषयोपभोग से प्राप्त होने वाले आनन्द से सर्वथा भिन्न है। सतत ध्यानाभ्यास से आपको अपनी बुद्धि इतनी सूक्ष्म करनी चाहिए कि आप उससे उन दोनों आनन्दों में विभेद कर सकें। धारणा तथा ध्यान में बुद्धि को तीक्ष्ण बनाने की शक्ति है। सुप्रशिक्षित बुद्धि सूक्ष्म दार्शनिक और दुरूह समस्याओं को सुचारु रूप से ग्रहण कर सकती है। जो बुद्धि अनुशासित है, ध्यानानन्द तथा विषयानन्द का ठीक-ठीक विश्लेषण कर सकती है, वह सहज ही ध्यान से प्राप्त इस नये आनन्द का आस्वादन

करने के लिए प्रतिदिन दौड़ती रहेगी। ऐसा मन ऐन्द्रिय सुख की ओर आँख उठा कर भी नहीं देखेगा। सांसारिक विषयों के प्रति सर्वथा अलिप्त तथा निःस्पृह रहेगा। यह स्वाभाविक ही है; क्योंकि इस प्रकार का आनन्द अधिक स्थायी है, सुस्थिर है, स्वायत्त है और अपनी ही आत्मा से निःसृत है। आप स्पष्ट देख सकते हैं कि आपका चित्त चलने लगा है, मस्तिष्क को छोड़ कर यथा-स्थान अपने मूल-स्थान पर जाने लगा है। वह अपनी पुरानी लकीरों को छोड़ चुका है और नये मार्ग में चलने का प्रयास कर रहा है। ध्यान के परिणामस्वरूप मस्तिष्क में नये मार्ग, नयी धाराएँ बन रही हैं, नये मस्तिष्क-कोशाणु निर्मित हो रहे हैं। सर्वथा परिवर्तित मानस बन रहा है। आपका मस्तिष्क नया हो गया है, हृदय नया हो गया है, भावनाएँ नयी बन गयी हैं, अनुभूति, संवेदना और प्रेरणा सब नयी बन गयी हैं।

३. शरीर से पृथक् होने की अनुभूति

ध्यान-काल में एक दिन अनुभव होगा कि आप शरीर से पृथक् हो गये हैं। आपको भयमिश्रित अपरिमित आनन्द की अनुभूति होगी। आनन्द इसलिए कि सूक्ष्म शरीर, नया प्रकाश प्राप्त हुआ है, भय इसलिए कि अज्ञात तथा अपरिचित भूमिका में प्रवेश हुआ है। प्रारम्भ में यह नयी अनुभूति उतनी ही अल्प विकसित तथा अपरिचित लगेगी जितना जन्म के आठवें या दशवें दिन आँख खोलने वाले पिल्ले को यह भौतिक जगत् दीखेगा। आपको लगेगा कि आपका शरीर भारहीन वायवीय हो गया है तथा आप सूक्ष्म जगत् का परिभ्रमणशील, स्पन्दनयुक्त सीमित वातावरण देखेंगे जहाँ स्वर्णमय आलोक, स्वर्णमय पदार्थ, स्वर्णमय प्राणी आदि सब-कुछ स्वर्णमय है। यह भी अनुभव आ सकता है कि आप अन्तराल में उड़ रहे या तैर रहे हैं और इसीलिए आपको गिरने का भय हो रहा है।

आप कभी नहीं गिरेंगे, परन्तु सूक्ष्मता की इस नयी अनुभूति के कारण प्रारम्भ में विचित्र भाव तथा उत्तेजना प्रतीत होगी। प्रारम्भ में, आप समझ नहीं पायेंगे कि शरीर कैसे छूट रहा है। अकस्मात् आपको आश्चर्य होता है कि आप शरीर से सर्वथा पृथक् हो गये हैं और जब आप नये लोक में प्रवेश करेंगे तब कभी चारों ओर नील वर्ण का आवरण पायेंगे, कभी-कभी अन्धकारमिश्रित प्रकाश का अंश पायेंगे और कभी तो उज्ज्वल पीत स्वर्णमय प्रकाश देखेंगे। वह जो अपूर्व आनन्द होगा वह अनिर्वचनीय है, शब्दों में उसका वर्णन नहीं हो सकता। वह तो **स्वानुभवैकवेद्य** है। आप समझ नहीं पाते हैं कि आपने शरीर को कैसे छोड़ दिया, किन्तु आप यह अच्छी तरह जानेंगे कि आप शरीर में वापस लौट रहे हैं। आपको ऐसा लगेगा कि आप सूक्ष्म शरीर से, वायुवत् भारहीन शरीर से बारीक छिद्र में या पतली नली में से गुजर रहे हैं। अपने

को वायवीय, आकाशमय देखेंगे। खिड़की के छिद्र से वायु जिस प्रकार प्रवेश करती है, उसी प्रकार आप नये सूक्ष्म शरीर के साथ इस भौतिक शरीर में पुनः प्रवेश करेंगे।

मैं समझता हूँ कि मैं बात स्पष्ट कर सका हूँ। जब आप इस देह में आ जायेंगे तब अनुभव करेंगे कि स्थूल तथा सूक्ष्म लोकों में क्या अन्तर है। यह इच्छा अत्यन्त प्रबल हो उठेगी कि उस नवीन चेतना का पुनः अनुभव लिया जाये और उसी स्थिति में सदा रहा जाये। आप उसी नये लोक में ५ से १० मिनट से अधिक समय तक नहीं रह पायेंगे। अपरञ्च, प्रारम्भ में केवल इच्छामात्र से ही यह देह त्यागना सम्भव नहीं हो सकता। साधना की अवस्था में बड़े प्रयत्न के बाद, संयोग से महीने में एक बार देह से पृथक् होना सम्भव होता है। यदि दृढ़ता से, धैर्य और शान्ति से प्रयत्न करते रहें, सतत अभ्यास जारी रखें तो स्वेच्छा से कभी भी देह से अलग होना और नये सूक्ष्म शरीर से उस नये लोक में अधिक समय तक टिके रहना सम्भव होगा। अब आप देहाध्यास से सर्वथा सुरक्षित हैं। इस प्रकार आप यदि स्वेच्छा से देह छोड़ सकें और उस नये लोक में दो-तीन घण्टे टिके रह सकें तभी माना जायेगा कि आपने देहाध्यास पर विजय प्राप्त की है और उस स्थिति में आप सुरक्षित हैं। इस अवस्था की प्राप्ति के लिए मौन तथा स्थिर नियमित ध्यान की साधना अत्यावश्यक है। सतत कठोर साधना करने से देह से बार-बार पृथक् होने की शक्ति आपमें आ जायेगी। ज्यों-ही आप विचारों को मौन कर देंगे, मन को शान्त बना देंगे, त्यों-ही मन का स्थूल शरीर से अलग होने का स्वभाव स्वतः ही अकस्मात् आ उपस्थित होगा। तब कोई कठिनाई नहीं रहेगी।

४. मूर्तरूप धारण

सर्वप्रथम आप अपने को शरीर से पृथक् कर लीजिए और फिर चित्त से तादात्म्य स्थापित कीजिए; तब आप इस सूक्ष्म शरीर के साथ मनोजगत् में वैसा ही विचरण करेंगे जैसा आप इस भौतिक धरातल पर करते हैं। एकाग्रता की साधना द्वारा देहभाव से ऊपर उठते हैं, ध्यान की साधना द्वारा मन से ऊपर उठते हैं और अन्त में समाधि के द्वारा ब्रह्मरूप बनते हैं। अन्तिम सिद्धि, कैवल्य प्राप्त करने में ये तीन महत्त्वपूर्ण अन्तरङ्ग साधन हैं।

५. सूक्ष्म शरीर से यात्रा

केवल इच्छामात्र से आप जब चाहें सूक्ष्म शरीर धारण कर कहीं भी विचरण कर सकते हैं और अस्मिता से अथवा सार्वभौम निधि से, तन्मात्राओं के सागर से आवश्यक सामग्री प्राप्त कर अपनी स्थूल आकृति धारण कर सकते हैं। उस प्रक्रिया के मूलाधार को, विविध कार्यव्यापारों की विस्तृत प्रविधि में निष्णात तान्त्रिकों तथा

योगियों के लिए यह प्रक्रिया नितान्त सरल तथा सहज है जबकि विविधि कामनाओं, आसक्तियों और भावनाओं से जकड़े हुए बेचारे सांसारिक मनुष्यों को यह परम असाधारण लगता है। सूक्ष्म शरीर धारण करने की क्षमता रखने वाले दूसरे के विचारों को जान लेते तथा विचारों का संक्रमण आदि भी बड़ी सरलता से कर सकते हैं। एकाग्रीकृत मन की किरणें अभेद्य दीवारों को भी भेद कर निकल सकती हैं जैसे क्षररश्मि अपार्य शरीर के भीतर प्रवेश करती है। यह सिद्धियों में से एक है। सिद्धियाँ जीवन का लक्ष्य नहीं हैं। इन सिद्धियों में आप उलझें नहीं। ये आपकी आध्यात्मिक प्रगति में बाधक हैं। इनकी सर्वथा उपेक्षा कीजिए। अपनी साधना जारी रखें और लक्ष्य प्राप्त होने तक रुकें नहीं।

६. ध्यानावस्था में आलोक-दर्शन

ध्यानावस्था में एकाग्रता के कारण कई प्रकार के प्रकाश दिखायी देने लगते हैं। प्रारम्भ में त्रिकुटी या भ्रूमध्य भाग—जो स्थूल रूप से आज्ञा-चक्र का तत्स्थानीय है—में सूई की नोंक के बराबर स्वच्छ धवल आलोक दीख पड़ता है। आप देखते होंगे कि जब आप नेत्र बन्द कर लेते हैं तब श्वेत, पीत, रक्त, नील, धुँधला, हरित तथा विद्युत् कौंध, अग्नि, जलता कोयला, जुगनू, सूर्य, चन्द्र और तारे चित्र-विचित्र प्रकाश के समान चमकते हैं। ये प्रकाश मनोभूमि में, चिदाकाश में दीखते हैं। ये सब तन्मात्रिक प्रकाश हैं। प्रत्येक तन्मात्रा का अपना विशिष्ट वर्ण है। पृथ्वी-तन्मात्रा का वर्ण पीत है, जल-तन्मात्रा का वर्ण श्वेत है, अग्नि-तन्मात्रा का वर्ण रक्त है, वायु-तन्मात्रा का वर्ण धूमिल है तथा आकाश-तन्मात्रा का वर्ण नील है। पीत और श्वेत वर्ण प्रायः दृष्टिगोचर होते हैं। रक्त और नील वर्ण क्वचित ही दृष्टिगोचर होते हैं। प्रायः श्वेत तथा पीत प्रकाश मिले-जुले होते हैं। प्रारम्भ में मनश्चक्षुओं के समक्ष श्वेत प्रकाश के छोटे-छोटे गोले तैरने लगते लगते हैं। जब ये दीखने लगें तो आप आश्वस्त हो जायें कि आपका चित्त स्थिर होने लगा है और एकाग्रता में आप प्रगति करने लगे हैं। कुछ महीनों के पश्चात् उस प्रकाश का आकार बढ़ जायेगा और इतना बड़ा दीखने लगेगा कि सूर्य भी उससे छोटा हो जायेगा। प्रारम्भ में ये प्रकाश स्थिर नहीं रहते, गोचर होते हैं और तुरन्त लुप्त हो जाते हैं। मस्तक के ऊर्ध्व भाग से और फिर पार्श्व भाग से चमकते हैं। उनके कारण एक विलक्षण सुख तथा सन्तोष का अनुभव होने लगता है और उन्हें बराबर देखते रहने की इच्छा होती है। इसका अभ्यास नियमित रूप से निरन्तर दो-तीन घण्टे करते रहें तो इसका दर्शन पहले से अधिक शीघ्र होने लगेगा और अधिक समय तक स्थिर भी रहेगा। साधना में इस प्रकार का दीखना बड़ा उत्साहवर्द्धक होता है। इससे ध्यान को निरन्तर जारी रखने को प्रोत्साहन मिलता है। इससे अधिभौतिक तत्त्वों के प्रति श्रद्धा भी सुदृढ़ होती है। इनके दर्शन से यह प्रकट

होता है कि आप स्थूल चेतनावस्था से ऊपर उठ रहे हैं। प्रकाश-दर्शन की स्थिति में आप अर्धचेतनावस्था की स्थिति में पहुँचते हैं, दो धरातलों के मध्य में रहते हैं। जब ये प्रकाश दृष्टिगोचर हों तो शरीर को हिलाना नहीं चाहिए। अपने आसन में सुस्थिर रहना चाहिए। अत्यन्त मन्द गति से श्वास लेना चाहिए।

जो साधक संयत आहार ग्रहण करता है, जिसने क्रोध को जीत लिया है, जिसने सांसारिक मोह त्याग दिया है, जिसने काम-वासना का दमन कर लिया है, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों को वश में कर लिया है, अहङ्कार-शून्य हो गया है, वह व्यक्ति ध्यानावस्था में त्रिकोणात्मक प्रकाश का दर्शन करता है।

ध्यानावस्था में कभी-कभी अति-उज्ज्वल प्रकाश दृष्टिगोचर होता है। उस ओर दृष्टि डालना कठिन हो जाता है। उससे मनश्चक्षु को हटा लेने को विवश होना पड़ता है। यह सुषुम्ना से निकला हुआ चौंधियाने वाला प्रकाश है।

इस प्रकाश में कुछ रूप दृष्टिगोचर होंगे। इसके दो प्रकार हैं—एक देवताओं का उज्जवल रूप, दूसरा भौतिक रूप। इसमें इष्टदेवता के दर्शन होंगे जो सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित और चारों हाथों में विविध अस्त्र धारण किये हुए हैं। आपको प्रोत्साहित करने के लिए सिद्ध, ऋषि तथा अन्य देवता आपके समक्ष प्रकट होंगे। अपने हाथ में वाद्यों को लिये हुए देवताओं तथा अप्सराओं की बहुत बड़ी भीड़ आपको दिखायी पड़ेगी। आप सुन्दर पुष्पवाटिका, भव्य राजप्रासाद, सरिताएँ, स्वर्ण-मन्दिर, मनोरम दृश्य आदि के दर्शन करेंगे जिनका वर्णन ठीक-ठीक नहीं हो सकता।

ये अनुभव प्रत्येक व्यक्ति के भिन्न-भिन्न होते हैं। एक व्यक्ति जो देखेगा, दूसरे को वही दिखायी नहीं देगा। कुछ लोग यह सब देख कर भ्रम में पड़ जाते हैं और मानने लगते हैं कि उन्हें आत्मदर्शन हो गया और वे साधना को बन्द करके संसार में चले जाते हैं और लोक-संग्रह के नाम पर नये सम्प्रदाय तथा धर्म का उपदेश करने लगते हैं। यह बहुत बड़ी भूल है। यह निश्चित ही आत्मदर्शन नहीं है। यह आपके इष्टदेव का आपको उच्चतर आध्यात्मिक जीवन का आश्वासन मात्र है और आपको अधिक लगन तथा उत्साह के साथ अपने ध्यानाभ्यास में व्यवस्था, स्थिरता और सातत्य लाना है। इनकी उपेक्षा करनी चाहिए और इनका त्याग करना चाहिए। प्रकाश के अनुभव पर तनिक भी ध्यान नहीं देना चाहिए, अपने लक्ष्य पर, ब्रह्मरूप ध्येय पर दृष्टि रखनी चाहिए। ये सिद्धियाँ कुछ लोगों को कुछ ही दिनों में गोचर हो जाती हैं और कुछ लोगों को छः या नौ महीने में दिखती हैं। यह चित्त की अवस्था तथा एकाग्रता पर निर्भर है।

७. चौंधियाने वाला प्रकाश

ध्यान-प्रक्रिया के बीच कभी-कभी सूर्य से भी अधिक प्रकाशमान, बड़ा और अत्यन्त तेजोमय प्रकाश दृष्टिगोचर होता है। वह शुभ्र होता है। प्रारम्भ में वह आता है और शीघ्र ही लुप्त हो जाता है। आगे चल कर वह स्थिर होता है और जिस मात्रा में एकाग्रता की सिद्धि हुई होती है उसी अनुपात में दश से पन्दरह मिनट तक टिका रहता है। जो लोग त्रिकुटी में ध्यान केन्द्रित करते हैं उन्हें मस्तक-प्रदेश में यह प्रकाश प्रकट होता है जबकि अन्य लोग जो सहस्रार-चक्र में ध्यान केन्द्रित करते हैं उन्हें यह प्रकाश शिर के ऊपरी भाग में प्रकट होता है। कभी-कभी यह प्रकाश इतना प्रखर तथा चौंधियाने वाला होता है कि आपको दृष्टि हटानी पड़ जायेगी और ध्यान भङ्ग हो जायेगा। कुछ लोग इससे घबड़ा जाते हैं और समझ नहीं पाते कि क्या किया जाये और कैसे आगे बढ़ा जाये। वे मेरे पास परामर्श करने आते हैं। मैं उन्हें समझाता हूँ कि यह एक अपूर्व अनुभव उनको हुआ है। निरन्तर अभ्यास से, एकाग्रता में संलग्न मन इसका अभ्यस्त हो जायेगा और भय जाता रहेगा। मैं उन्हें साधना जारी रखने का परामर्श देता हूँ। कुछ लोग हृदय-प्रदेश पर, कुछ लोग त्रिकुटी में और कुछ सहस्रार-चक्र पर ध्यान करते हैं। यह प्रत्येक की अपनी-अपनी रुचि के अनुसार है। त्रिकुटी पर ध्यान करने से मन सहज में वश में किया जा सकता है। यदि आप त्रिकुटी पर ध्यान केन्द्रित करने के अभ्यस्त हो चले हैं तो उसी पर स्थिर रखिए, सदा वहीं ध्यान कीजिए। बारम्बार स्थान-परिवर्तन नहीं कीजिए। स्थिरता अत्यन्त आवश्यक है। ध्यान की प्राथमिक अवस्था में जिन प्राणियों तथा वस्तुओं के सम्पर्क में आप आते हैं, वे सब स्थूल जगत् के हैं। वे सब मनुष्य के समान ही हैं, केवल देह-रूपी कवच नहीं है। मानव-प्राणी के समान ही उनमें भी इच्छाएँ, कामनाएँ, प्रेम, घृणा आदि गुण हैं। वे मुक्त रूप से सञ्चार कर सकते हैं। वे स्थूल रूप ले सकते हैं, स्थूल रूप विसर्जित कर सकते हैं, अनन्त रूप धारण कर सकते हैं और निम्न कोटि के परोक्षदर्शी भी हो सकते हैं। ये द्युतिमान् रूप मनोलोक अथवा सूक्ष्म लोक के उत्कृष्ट देवता हैं जो आपको दर्शन देने और प्रोत्साहित करने के लिए नीचे आते हैं। विभिन्न शक्तियाँ इन ज्योति-रूपों में प्रकट होती हैं। उनको प्रणाम कीजिए, वन्दन कीजिए। उनके दर्शन होते ही मानसिक पूजा कीजिए। देवदूत उच्च लोक के या मनोलोक के निवासी हैं। वे भी अन्तश्चक्षुओं को गोचर होते हैं।

जब आप इस स्थूल शरीर से सूक्ष्म लोक में प्रवेश करेंगे, तब आप एक प्रकार की अदृश्य सहायता सम्भवतः अपने इष्टदेवता की ओर से अनुभव करेंगे। यह अदृश्य शक्ति आपको शरीर से पृथक् होने में और देह-भाव से परे होने में अवलम्ब देती है। इन सब प्रक्रियाओं की ओर आपको सूक्ष्मता से ध्यान देना चाहिए।

इन सब दृश्यों को देखने में व्यर्थ समय नष्ट नहीं कीजिए। ये सब मात्र कुतूहल हैं। ये सब आपको यह विश्वास दिलाने के लिए प्रोत्साहन हैं कि अतिभौतिक जीवन का, अधिदैविक तथ्यों का और ब्रह्म का ठोस अस्तित्व है। इन सब दृश्यों को दूर कीजिए। अपने लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित कीजिए। आगे बढ़िए। गम्भीरता के साथ पूरी शक्ति से ध्यान में प्रगति कीजिए।

ज्यों-ही आप निद्रा के वश में होने लगेंगे, त्यों-ही ये सारे प्रकाश अपने-आप ही आपके नेत्रों के समक्ष प्रत्यक्ष होने लगेंगे। ज्यों-ही स्थूल चेतना मिटने लगेगी, नींद की झपकी आने लगेगी, तब ये प्रकाश आपके कुछ भी प्रयास किये बिना प्रकट होंगे। प्रातःकाल सो कर उठने से पूर्व जब आप अर्द्ध-निद्रा तथा अर्द्ध-जाग्रत की अन्तर्वर्ती अवस्था में होंगे तब ये प्रकाश अनायास ही आपको पुनः दृष्टिगोचर होंगे।

कभी-कभी ध्यान-प्रक्रिया के मध्य आप अनन्त नीले आकाश को देखेंगे। उस नीले आकाश में आप अपने को एक काले बिन्दु के रूप में पायेंगे। कभी-कभी इस प्रकाश के मध्य में आप अपने को देखेंगे। फिर कभी देखेंगे कि प्रकाश के बीच कुछ कण बड़ी तीव्र गति से चक्कर काट रहे हैं। स्थूल रूप, मानव रूप, बच्चे, स्त्रियाँ, पुरुष, दाढ़ी वाले ऋषि, सिद्ध पुरुष तथा अनेक तेजोमय रूप भी दिखायी देंगे। ये सब न सत्य हैं, न भागवत हैं, बल्कि आपके अपने मन की ही प्रतिक्रियाएँ हैं, सूक्ष्म लोक की वस्तुएँ हैं। इस ब्रह्माण्ड में अनेक लोक हैं जो घनता में विभिन्न स्तरों में हैं। विभिन्न अंशों में तन्मात्राओं के लयबद्ध कम्पन के अनुसार ये विभिन्न लोक बनते हैं। प्रत्येक लोक के अपने-अपने प्राणी तथा वस्तुएँ होती हैं। जो दृश्य दिखायी देते हैं वे इन वस्तुओं या प्राणियों के हो सकते हैं। वे पूर्ण काल्पनिक भी हो सकते हैं। आपके ही प्रबल विचारों के मूर्त रूप हो सकते हैं। योगाभ्यास में इन सबका पृथक्करण आपको करना चाहिए। सर्वत्र विवेक और सामान्य परिज्ञान का उपयोग करना चाहिए।

परिशिष्ट

प्रथम परिशिष्ट

प्रश्न तथा उत्तर

प्रश्न : क्या रात्रि में भोजनोपरान्त ध्यान करना उचित है ? संसार में रहते हुए व्यक्ति को घरेलू कार्यों को करने, मित्रों से मिलने आदि में सायङ्काल को व्यस्त रहना होता है ।

उत्तर : भारी भोजन के पश्चात् व्यक्ति प्रायः उनींदापन अनुभव करते हैं । आप ऐसी कल्पना करेंगे कि आप ध्यान कर रहे हैं, किन्तु वास्तव में यह बैठी हुई अवस्था में निद्रा होगी । यदि आप मिताहार के नियम का पालन करें और सायङ्काल को ७ बजे से पूर्व भोजन कर लें तो आप रात्रि में ९ बजे से १० बजे तक बैठ कर ध्यान कर सकते हैं । सायङ्कालीन ध्यान नितान्त आवश्यक है । आपको समय को इस भाँति व्यवस्थित करना चाहिए कि सभी महत्त्वपूर्ण कार्यों को निपटाने के पश्चात् आप सायङ्कालीन प्रार्थना तथा ध्यान के लिए न्यूनातिन्यून एक घण्टा बचा सकें । रात्रि में सोने से पूर्व ध्यान करने से आपको पर्याप्त सुपरिणाम प्राप्त होंगे । आध्यात्मिक संस्कारों की वृद्धि होगी । आपको बुरे स्वप्न नहीं आयेंगे । निद्रावस्था में भी मन में दिव्य विचार बने रहेंगे ।

प्रश्न : क्या ४५ वर्ष की अवस्था में मेरे-जैसा व्यक्ति हठयोगाभ्यास आरम्भ कर सकता है ?

उत्तर : हाँ । आपमें सच्चाई, गम्भीरता, श्रद्धा, उत्साह तथा शक्ति होनी चाहिए । आपको सावधानीपूर्वक धीरे-धीरे आगे बढ़ना चाहिए। अति-आयास से बचना चाहिए। यदि आप मौन तथा मिताहार का पालन करते तथा जप और ध्यान का अभ्यास करते हैं तो आपको योगाभ्यास में सफलता प्राप्त होगी । आसन, प्राणायाम आदि में सफलता शरीर-गठन पर निर्भर करती है । विभिन्न लोगों के लिए विभिन्न प्रकार के व्यायाम हैं ।

प्रश्न : इस अवस्था में मैं पूर्ण ओज तथा शक्ति क्योंकर प्राप्त कर सकता हूँ ?

उत्तर : इस क्षण से ही आप पक्के ब्रह्मचारी बन जायें । मानसिक तथा शारीरिक ब्रह्मचर्य में स्थित हों । सात्त्विक भोजन लें । वैराग्य विकसित करें । मेरी पुस्तक 'ब्रह्मचर्य-साधना' का अध्ययन करें । उसमें आपको ब्रह्मचर्य-पालन के व्यावहारिक अभ्यास प्राप्त होंगे ।

प्रश्न : क्या निर्विकल्प-समाधि में प्रवेश करना तथा सांसारिक कार्यों से मुक्त रहना वास्तव में सम्भव है ?

उत्तर : यह सर्वथा सम्भव है, यदि आपको अपने मन तथा इन्द्रियों पर प्रभुत्व है और यदि आप सांसारिक प्रवृत्तियों के मध्य नियमित तथा सुव्यवस्थित ध्यान करते हैं। आपमें नैतिक पूर्णता होनी चाहिए तथा आपको सभी दैवी गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। वेदान्त-ग्रन्थों का अध्ययन, सद्‌गुरु, सुसंस्कार—ये सभी आवश्यक हैं। आपको संसार में अकर्ता-भाव से रहना चाहिए। आपको जल में कमल-पत्र की भाँति अनासक्त रहना चाहिए।

प्रश्न : पत्नी तथा छोटे बच्चों के होते हुए क्या मैं संन्यास ले सकता हूँ? क्या इन आश्रितों से, जब वे असहायावस्था में हैं, बचना पाप नहीं है?

उत्तर : यदि आपमें विवेक-जनित तीव्र तथा सच्चा वैराग्य है और आपमें प्रबल तितिक्षा तथा मुमुक्षुत्व है तो आप संन्यास ले सकते हैं। श्रुति की घोषणा है—**"यदहरेव विरजेत तदहरेव परिव्रजेत—**जिस दिन वैराग्य हो, उसी दिन संसार को त्याग देना चाहिए।" किन्तु यदि आपमें अपनी पत्नी तथा छोटे बच्चों के लिए मोह है तो आपकी आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती; क्योंकि आपका मन सदा उनका चिन्तन करता रहेगा। अतः प्रथम मोह को नष्ट कीजिए। सच्चे वैराग्य से सम्पन्न बनिए। जब आप संसार में रहें तो प्रचुर मात्रा में जप तथा ध्यान करें। जब आप थोड़ी उन्नति कर लें तो किसी दूर स्थान में चले जायें, एकान्त में रहें और अपने मनोबल को देखें और यह देखें कि क्या अब भी आपके मन में कोई मोह छिपा हुआ है। तब आप संन्यास ले सकते हैं। आपको सफलता प्राप्त होगी। संन्यास लेने से पूर्व अपनी पत्नी तथा छोटे बच्चों के लिए अच्छा प्रबन्ध कर दें, अन्यथा वे आपका निरन्तर चिन्तन करते रहेंगे और आप उनकी मानसिक धारा से आकर्षित होंगे। जब आप अपनी पत्नी के पास रहें तो उसे संन्यास की महिमा बतलायें और उसे जप तथा ध्यान करने के लिए कहें। उसे आध्यात्मिक जीवन-यापन करना चाहिए; तभी वह आपके संन्यास लेने के पश्चात् हस्तक्षेप नहीं करेगी। भर्तृहरि, गौराङ्ग, सदाशिव ब्रह्मेन्द्र तथा अन्य लोगों ने अपनी पत्नियों को त्याग दिया। संन्यास के अनन्तर उन्होंने अपनी पत्नियों के विषय में नहीं सोचा। क्या उन्होंने आत्मसाक्षात्कार नहीं प्राप्त किया? क्या उन्हें किसी पाप अथवा शाप ने स्पर्श किया? यदि आप अपने परिवार की समुचित व्यवस्था नहीं भी करते, किन्तु यदि आपमें सच्चा वैराग्य है तो आप संन्यास ले सकते हैं। अपने परिवार से अपने को वियुक्त कर लें और देखें कि आपके बच्चों की देखभाल होती है अथवा नहीं। रामतीर्थ ने कोई व्यवस्था किये बिना दो बच्चों-सहित अपनी पत्नी को त्याग दिया; किन्तु उनका बड़ा पुत्र इञ्जीनियर तथा दूसरा प्रोफेसर बना। भगवान् में पूर्ण विश्वास रखें।

प्रश्न : जब कभी मैं त्रिकुटी पर धारणा करने का प्रयास करता हूँ तो मुझे थोड़ी शिरोवेदना होने लगती है। क्या इसका कोई उपचार है?

उत्तर : यदि त्रिकुटी पर धारणा से शिरोवेदना होती है तो नासिकाग्र-दृष्टि रखें। इससे आपको आराम मिलेगा। अपने मन के साथ सङ्घर्ष न करें। आधे घण्टे तक विश्राम करें। यदि अब भी आपको शिरोवेदना हो तो अपने नेत्र बन्द कर लीजिए और ध्यान कीजिए।

प्रश्न : क्या पुस्तक पढ़ कर मैं प्राणायाम का अभ्यास कर सकता हूँ?

उत्तर : हाँ। आपको निर्देशों को अनेक बार पढ़ना चाहिए और प्रविधि को पूर्णतया समझ लेना चाहिए। यदि आपको सन्देह हो तो कुछ अनुभवी व्यक्तियों से परामर्श लें और तब अभ्यास करें। यदि आप आशु उन्नति चाहते हैं तो मेरी पुस्तक 'प्राणायाम-साधना' में दिये हुए मेरे निर्देशों का अनुसरण करें। आप धीरे-धीरे कुम्भक का समय दो मिनट तक बढ़ा सकते हैं। अभ्यास की उन्नत अवस्था में गुरु की सहायता लेना अच्छा होगा।

प्रश्न : मेरा मन चञ्चल और स्वभाव कमजोर है। धारणा का प्रयास कभी-कभी सफल होता है, किन्तु प्रायः विफल रहता है। कृपया मेरी सहायता कीजिए।

उत्तर : सर्वप्रथम तो आप अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखें। यथोचित भोजन, योगासनों के हलके व्यायाम तथा प्राणायाम द्वारा अपने को पुष्ट बना लें। ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करें। तत्पश्चात् कामनाएँ, चिन्ताएँ, आकुलताएँ, हवाई किले बनाने तथा दुर्गुणों को नष्ट करें। सन्तुष्ट जीवन व्यतीत करें। व्यवहार को कम करें। हरिद्वार, ऋषिकेश, उत्तरकाशी आदि के आध्यात्मिक वातावरण में रहें। पूरे तीन माह तक मौन रखें। इससे आप मन को सरलता से वश में कर सकते हैं।

प्रश्न : मैं पूरे आधे घण्टे तक शीर्षासन का अभ्यास कर रहा हूँ, पर मैं स्वप्न-दोष का प्रतिकार नहीं कर पा रहा हूँ। मेरी साधना में क्या त्रुटि है? मैं काम-वासना को कैसे नष्ट कर सकता हूँ?

उत्तर : शीर्षासन का दीर्घ काल तक अभ्यास निश्चय ही आपको आपकी काम-वासना नष्ट करने में पर्याप्त सहायता प्रदान करेगा। आपके विचार भी पवित्र होने चाहिए। आपको अपने मन में कामुक विचारों को स्थान नहीं देना चाहिए। सत्सङ्ग कीजिए। सात्त्विक भोजन कीजिए। स्त्रियों की ओर न देखिए। वैराग्य का विकास कीजिए। इन्द्रियों का दमन कीजिए। यदि आप निश्चित सफलता चाहते हैं तो आपको इन सभी निर्देशों का पालन करना चाहिए। यदि आप अपने मन में कामुक विचारों को स्थान देते हैं, यदि आप कामुक व्यक्तियों की सङ्गति में रहते हैं और यदि आप सात्त्विक भोजन नहीं लेते तो आप तीन घण्टे तक शीर्षासन का अभ्यास कर के भी अपनी काम-वासना को कैसे नष्ट कर सकते हैं?

प्रश्न : जीवात्मा तथा परमात्मा में क्या भेद है?

उत्तर : जीवात्मा व्यष्टि आत्मा, अविद्या अथवा अन्तःकरण में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। परमात्मा परमेश्वर, ब्रह्म अथवा आत्मा है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से जीवात्मा ससीम, सोपाधिक सत्ता है; जबकि परमात्मा असीम, शाश्वत, सत्-चित्-आनन्द ब्रह्म है। अविद्या के नष्ट होने पर जीवात्मा तत्त्वतः परमात्मा से अभिन्न है।

प्रश्न : मैं नेत्रों में जलन अनुभव करता हूँ तथा मन अशान्त है। अतः मैं ध्यान नहीं कर पाता हूँ। क्या इसका कोई प्रभावकारी उपाय है?

उत्तर : यह इस बात का लक्षण है कि आपके शरीर में गरमी है। प्रातःकाल पन्द्रह मिनट तक आमला तैल अथवा मक्खन की मालिश करें और तब स्नान करें। सात्त्विक भोजन लें। प्यास लगने पर मिश्री का शरबत पियें। प्रातःकाल तथा रात्रि में सोने से पूर्व एक प्याला गाय का शुद्ध दूध पियें, भोजन को नियन्त्रित करें। दिन में दो बार स्नान करें। यह शरीर को शीतल बनायेगा।

प्रश्न : शान्ति कैसे प्राप्त करूँ?

उत्तर : सभी कामनाओं को नष्ट कर डालें तथा मन और इन्द्रियों का दमन करें। शास्त्राध्ययन तथा गम्भीर ध्यान करें। अखण्ड मौन धारण करें। एकान्तवास करें।

प्रश्न : मैंने हाल में संन्यास लिया है। क्या मैं परिव्राजक-जीवन यापन करूँ या एकान्तवास करूँ?

उत्तर : नये संन्यासी साधक को उग्र साधना के साथ छः वर्ष तक पूर्ण एकान्त में रहना आवश्यक है। यह आपके मन की अवस्था पर निर्भर करता है। परिव्राजक-जीवन में नियमित तथा व्यवस्थित साधना नहीं हो सकती है। सर्वत्र ही चित्त-विक्षेप है। आपको कुछ समय तक विषय-भोगों से दूर रहना चाहिए। पूर्ण एकान्तवास से आपको अत्यधिक लाभ प्राप्त होगा। आप वर्ष में एक बार कुछ दिनों के लिए जलवायु-परिवर्तन के लिए किसी अन्य स्थान में जा सकते हैं। यदि आपको ऐसा लगे कि आप तामसिक बन रहे हैं तो आपको सक्रिय सेवा को अपनी साधना में सम्मिलित करना चाहिए। नये साधकों को दो-तीन वर्ष तक निष्काम-सेवा लाभदायक होगी, तब पूर्ण एकान्त में रहें। आप अपने मनोबल को जाँचने के लिए यदा-कदा कुछ दिनों तक परिव्राजक-जीवन भी यापन कर सकते हैं।

प्रश्न : चित्त से एक वृत्ति उठती है : "संसार का परित्याग करके एकान्त में योगाभ्यास करें।" तत्काल ही दूसरी वृत्ति कहती है : "गृहस्थ के रूप में रह कर जनक की भाँति योगाभ्यास करें।" स्वामी जी ! मैं यह कैसे जानूँ कि यह विशेष वृत्ति आत्मा से अथवा मन से अथवा बुद्धि से आ रही है? मैं किङ्कर्तव्यविमूढ़ हो चला हूँ।

उत्तर : एक सामान्य सांसारिक मनोवृत्ति वाले व्यक्ति के लिए आत्मा की अन्तर्वाणी को सुन पाना कठिन है। उसमें शुद्ध विचार भी नहीं हो सकता है। कोई भी सात्त्विक विचार सात्त्विक बुद्धि से उत्पन्न होता है। सांसारिक व्यक्तियों के सभी विचार

केवल मन से ही उत्पन्न होते हैं। जो दीर्घ काल तक निष्काम कर्मयोग करता है तथा जिसका चित्त शुद्ध है, वह भगवान्-सम्बन्धी विचारों को प्रश्रय देता है। मन प्रायः अनेक प्रकार के विलक्षण, ऊटपटाँग विचार उत्पन्न करता है। वह सबको धोखा देता है। वह विचार करने का ढोंग करता है। जब व्यावहारिक जीवन की बात आती है तब यह कुछ भी नहीं करेगा। यदि धारणा तथा ध्यान करने का आपमें दृढ़ निश्चय है और यदि आप लगातार कई महीनों तक इसका वास्तव में अभ्यास करते हैं और यदि भगवद्दर्शन की आकांक्षा तीव्र तथा प्रखर बनती है तभी आप यह समझें कि ये सभी प्रकार के विचार आपकी सात्त्विक बुद्धि से प्रकट हुए हैं। यदि वृत्ति आत्मा से प्रकट होती है तब केवल एक ही निश्चित वृत्ति रहती है। अगले क्षण में कोई विरोधी विचार नहीं उठता।

प्रश्न : मैं सेवा से निवृत्त हो गया हूँ और मैंने अपने पुत्रों को नौकरी में लगा दिया है। एक योगी का जीवन-यापन करने के लिए अब मुझे क्या करना चाहिए?

उत्तर : मोह का उन्मूलन करना बहुत ही कठिन है। यह माया का एक प्रबल अस्त्र है। मोह ही ममता तथा अहंता की भावना उत्पन्न करता है। यह बच्चों के लिए आसक्ति उत्पन्न करता है। आपने अपने हृदय के अन्तर्तम भाग से मोह को नष्ट नहीं किया है। अपनी पत्नी, बच्चों, मित्रों तथा सम्बन्धियों से सभी सम्पर्क विच्छेद कर लें। पत्र न लिखें। तीर्थ-यात्रा के लिए चले जायें और तीर्थों में महात्माओं के दर्शन करें। वैराग्य का विकास करें। आपको अपने अनुभव से ज्ञात हो गया है कि आपको सांसारिक जीवन में परम शान्ति तथा सुख नहीं प्राप्त हो सकता है। यदि आपमें मोह नहीं है और आपमें संन्यासी बनने की प्रबल इच्छा है तो संन्यासी बन जायें। भव्य संन्यास-जीवन यापन करें तथा योगाभ्यास द्वारा आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करें। अपनी यात्रा के अनुभव से मार्ग-दर्शन हेतु एक गुरु चुन लें और उनके आदेशों को निर्विवाद रूप से पालन करें।

प्रश्न : सङ्कल्प-शक्ति द्वारा आध्यात्मिक साधना कैसे आरम्भ की जाये?

उत्तर : आपको कामना से मुक्त हो कर अपने मन और चित्त को शुद्ध करना होगा। यदि कामना पर नियन्त्रण किया जाता है तो वह सङ्कल्प-शक्ति में रूपान्तरित हो जाती है। प्रबल तथा शुद्ध अप्रतिरोध्य सङ्कल्प-शक्ति ब्रह्म का गतिशील रूप है। आपको बार-बार दृढ़ कथन द्वारा अपनी सङ्कल्प-शक्ति का प्रयोग करना होगा। यह शुद्ध वेदान्तिक साधना है। कुम्भक प्राणायाम, आसन आदि की आवश्यकता नहीं है। यह विधि निर्भीक समझ तथा कुशाग्र बुद्धि वाले व्यक्ति के लिए उपयुक्त है। आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करने के लिए अपनी सङ्कल्प-शक्ति का प्रयोग कीजिए।

प्रश्न : आपके सुझाव के अनुसार यदि मैं प्रबल सङ्कल्प-शक्ति से कहूँ : "मैं राजा हूँ" तो क्या मैं राजा बन जाऊँगा? इसी भाँति यदि मैं कहूँ : **"अहं ब्रह्मास्मि"**, तो मैं **कैसे ब्रह्म बन सकता हूँ?**

उत्तर : "मैं राजा हूँ" कहने के अतिरिक्त आपको तैयारी करनी होगी। आपको बहुत बड़ी संख्या में सैनिकों को एकत्र करना होगा तथा युद्ध में विजय प्राप्त करनी होगी। इसी भाँति, यदि आप **"अहं ब्रह्मास्मि"** कहते हैं तो आपको (काम, क्रोध आदि) शत्रुओं को नष्ट करना होगा और आध्यात्मिक साधना करनी होगी। तब आप निःसन्देह ही ब्रह्म बन जायेंगे।

प्रश्न : हम प्रार्थना तथा ध्यान में समय क्यों लगायें? भगवान् हमारी प्रार्थना के इच्छुक नहीं हैं।

उत्तर : जीवन का लक्ष्य भगवत्साक्षात्कार है। एकमात्र भगवत्साक्षात्कार से ही हमारे सभी दुःखों, जन्म, मृत्यु, जरा आदि का अन्त हो सकता है और भगवत्साक्षात्कार गम्भीर ध्यान तथा सच्ची प्रार्थना के द्वारा प्राप्त होता है। इसके लिए अन्य कोई उपाय नहीं है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को ध्यानाभ्यास करना चाहिए। भगवान् हमें प्रार्थना करने के लिए प्रेरित करते हैं; क्योंकि वह हमारे मन के प्रेरक हैं।

प्रश्न : जब मैं स्वर्गाश्रम में था तब आपने मुझसे कहा था कि हमें मुसलमानों के हाथ से भी खाना लेने में हिचकना नहीं चाहिए। किन्तु हमारे शास्त्रों का उपदेश है कि हमें पापियों के हाथ से खाद्य-पदार्थ नहीं स्वीकार करना चाहिए जिनके विचार तथा कर्म बुराइयों से भरे हैं। मुसलमान गौमांस खाते हैं। हम उनके हाथों से खाद्य-पदार्थ क्यों स्वीकार करें?

उत्तर : यदि आप यह सोचते हैं कि एक व्यक्ति पापमय कार्यों से पूर्ण है तो आप उसके हाथों से भोजन न स्वीकार करें भले ही वह जन्म से ब्राह्मण हो। यदि आप यह सोचते हैं कि भगवान् शिव अथवा हरि दुष्टात्मा में, मुसलमान में तथा चाण्डाल में भी निवास करते हैं तो आप किसी के हाथ से भी खा सकते हैं। अभी आपकी दृष्टि बहुत सङ्कीर्ण है। आप आध्यात्मिक पथ में नये हैं। अभी आपका हृदय विशाल नहीं बना है। आपके हृदय में मुसलमान-विरोधी प्रबल भावना है। उसके अति-सन्निकट रहिए। बड़े भक्तिभाव से उसकी सेवा कीजिए। आध्यात्मिक साधना तथा ध्यान कीजिए। आपके मन से शनैः-शनैः सारे भेद दूर हो जायेंगे। तभी आप आध्यात्मिक साधना के उन्नत पाठ के उपयुक्त होंगे। भोजन को पहले भगवान् को अर्पित कीजिए और तब प्रसाद-रूप से स्वयं ग्रहण कीजिए। तब आप किसी प्रकार के अपवित्र भोजन को शुद्ध तथा आध्यात्मिक बना सकते हैं।

प्रश्न : मैंने आपका लेख 'माई मैगज़ीन' में पढ़ा : "स्त्री मल, मूत्र, पीप, रक्त आदि से पूर्ण दुर्गन्ध-युक्त चमड़े का थैला है।" हम स्त्रियों को क्योंकर दोषी ठहरा कर उन्हें तुच्छ समझ सकते हैं? मैं समझता हूँ कि इस विराट् विश्व में कुछ भी अपवित्र नहीं है।

उत्तर : साधना कम तथा अध्ययन अत्यधिक करने से सम्भ्रम उत्पन्न होता है। कामुक व्यक्तियों में वैराग्य उत्पन्न करने के लिए मैं स्त्रियों का ऐसा ऋणात्मक मानसिक चित्र रखता हूँ। स्त्रियाँ तो शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। हाँ, सब पवित्र हैं, सब पावन हैं, सब सुन्दर हैं; पर इसकी अनुभूति अध्यात्म-पथ में उन्नत व्यक्ति ही कर सकते हैं। नये साधक तो सूत्र को तोते की भाँति केवल दोहराते भर हैं। उनकी अनुभूति, दृष्टि तथा साधना-विधि साक्षात्कार-प्राप्त व्यक्तियों की अभिव्यक्ति से सर्वथा भिन्न होती है। नये साधकों को बहुत सावधान रहना चाहिए, अन्यथा वे माया से सहज ही प्रवञ्चित होंगे।

प्रश्न : मैं चिन्ताओं तथा परेशानियों से क्योंकर मुक्त हो सकता हूँ?

उत्तर : यह बहुत ही सरल है। कामना तथा भय को नष्ट कर डालिए। गम्भीर ध्यान कीजिए। हवाई महल बनाना बन्द कर दीजिए। आशा तथा प्रत्याशा न रखिए। अपना कर्तव्य कीजिए और शेष भगवान् पर छोड़ दीजिए।

प्रश्न : यदि मैं ऋषिकेश जाऊँ तो क्या मुझे मानसिक शान्ति प्राप्त हो सकेगी और क्या मैं आध्यात्मिक स्पन्दनों को अनुभव कर सकूँगा?

उत्तर : हाँ। आप कर सकते हैं। जब आप इधर आयें तो अकेले आयें। यदि आप अपनी मित्र-मण्डली के साथ आयेंगे तो आप सभी प्रकार की गपशप से वही सांसारिक वातावरण उत्पन्न करेंगे। आयें और महात्माओं के दर्शन करें। उनके आध्यात्मिक उपदेशों को सुनें। उनके साथ रहें। मौन धारण करें तथा धारणा और ध्यान का अभ्यास करें। तभी आप शान्ति का आनन्द उपभोग कर सकेंगे।

प्रश्न : मैं बाल्यावस्था से ही प्रतिश्याय तथा नासिका के जल-स्राव से पीड़ित हूँ। दो वर्ष पूर्व मेरी नासिका की व्याकुञ्चित पटी के लिए शल्य-चिकित्सा भी की गयी, किन्तु स्थिति में कुछ सुधार नहीं हुआ। क्या आप किसी यौगिक व्यायाम का सुझाव दे सकते हैं?

उत्तर : यदि आप सरल सुखद प्राणायाम का अभ्यास करें तो प्रतिश्याय तथा श्वसन की कठिनाई जाती रहेगी। दीर्घकाल तक शीर्षासन का अभ्यास करें। यह प्रतिश्याय के लिए सर्वोत्तम व्यायाम है। यदा-कदा भस्त्रिका-प्राणायाम करें।

प्रश्न : गत आठ वर्ष मैंने विचार-सागर, पञ्चदशी, गीता, उपनिषद् आदि के अध्ययन में व्यतीत किये हैं और एक तरह से उन पर अधिकार प्राप्त कर लिया है; किन्तु मैं जीवन की एकता का किञ्चित् भी अनुभव नहीं करता। क्या शास्त्र अध्ययन मात्र के लिए ही हैं?

उत्तर : विचार-सागर अथवा पञ्चदशी के अध्ययन मात्र से शुद्ध अद्वैत चेतना की अनुभूति नहीं हो सकती। वेदान्त की गपशप तथा शास्त्रों पर शुष्क परिचर्चा व्यक्ति को जीवन की एकता के अनुभव में सहायता नहीं कर सकते हैं। आपको सभी प्रकार की मलिनताओं, घृणा, ईर्ष्या, असूया, श्रेष्ठता की भावना तथा मनुष्य को मनुष्य से अलग रखने वाले सभी अवरोधों को नष्ट कर डालना चाहिए। वह सम्यक् मनोवृत्ति से मानव-जाति की अविरत निस्स्वार्थ सेवा द्वारा सम्भव होता है। आजकल व्यावहारिक

उत्तर : इस संसार में एक ऐसे सच्चे गुरु को पाना बहुत ही कठिन है जो शिष्य की सद्भावपूर्वक देख-भाल करे। यह बिलकुल सच है; किन्तु एक ऐसे सच्चे शिष्य को पाना, जो गुरु के आदर्शों का सच्चाई से पालन करे, इस संसार में निश्चय ही बहुत कठिन कार्य है। क्या आपने इस विषय पर विचार किया है? गुरु के चुनाव में अपने विवेक का अधिक उपयोग न करें। यदि प्रथम श्रेणी का गुरु पाने में आप असफल रहते हैं तो ऐसे व्यक्ति को खोजने का प्रयत्न करें जो अध्यात्म-पथ पर कुछ वर्षों से चल रहा हो, जिसमें सच्चारित्र्य तथा अन्य सद्गुण हों तथा जिसे शास्त्रों का कुछ ज्ञान हो। जैसे जानपद शल्य-चिकित्सक के उपलब्ध न होने पर उप सहायक शल्य-चिकित्सक रोगी का उपचार कर लेता है उसी प्रकार प्रथम श्रेणी के गुरु के अभाव में द्वितीय श्रेणी का गुरु आपकी बहुत सहायता करेगा।

प्रश्न : क्या आत्मसाक्षात्कार के लिए निष्काम कर्मयोग नितान्त आवश्यक है? यदि हाँ, तो उसे कैसे किया जाये?

उत्तर : यदि आप मन की मलिनता को दूर करने के लिए निष्काम कर्मयोग के अभ्यास की उपेक्षा करते हैं तो आप वेदान्त की भावना तथा उद्देश्य को नहीं समझ पायेंगे। निष्काम कर्मयोग से आपकी चित्तशुद्धि होती है और अन्ततः आत्मा की एकता के साक्षात्कार में पर्यवसित होती है।

भाव-प्रवण प्रेम से, अकर्ता भाव रखते हुए किसी फल, पुरस्कार तथा प्रशंसा की आशा न रख कर प्रत्येक व्यक्ति की सेवा कीजिए। अनुभव कीजिए कि आप भगवान् के हाथों में निमित्त मात्र हैं। निर्धनों तथा रोगियों में भगवान् की पूजा कीजिए। किसी स्थान, व्यक्ति अथवा वस्तु से राग न रखिए। इस संसार के परिवर्तनों के मध्य सफलता-असफलता, लाभ-हानि, सुख-दुःख की चिन्ता किये बिना अपने मन का सन्तुलन बनाये रखिए। प्रवृत्तियों के मध्य मन को आत्मा में बद्धमूल रखिए। तब आप सच्चे कर्मयोगी बन जायेंगे। कर्म, यदि सम्यक् भाव से किया जाये तो मनुष्य का उत्थान करता है। भले ही लोग आपकी हँसी उड़ायें, आपको मारें-पीटें, आप उदासीन बने रहें। अपनी साधना चालू रखें।

प्रश्न : मैंने 'माई मैगज़ीन' में आपका लेख पढ़ा : "सांसारिक मनोवृत्ति वाले व्यक्तियों की सङ्गति से दूर भागें। सांसारिक विषयों की चर्चा करने वाले आपको कलुषित बना डालेंगे। आपका मन डगमगा जायेगा। ऋषिकेश जैसे एकान्त स्थानों में भाग जाइए। आप आध्यात्मिक पथ में सुरक्षित रहेंगे।" क्या मैं आपके पास आ सकता हूँ और संन्यासी-जीवन यापन कर सकता हूँ?

उत्तर : उतावले न बनें। भली-भाँति सोचें। छलाँग लगाने से पहले भली प्रकार देखें। आध्यात्मिक विषय में कोरी भावनाओं से काम नहीं चलता। उपर्युक्त निर्देश उन लोगों के लिए है जो पहले से ही किसी-न-किसी प्रकार की साधना कर रहे हैं। उन्हें

उन्नत साधना के लिए एकान्त में जाना होगा। आप जैसे नये साधकों के लिए रोगियों तथा वृद्ध लोगों की निस्पृह भाव से सेवा करते हुए संसार में तीन वर्ष तक निष्काम कर्मयोग करना अच्छा होगा।

मान लें कि आप एक संन्यासी के रूप में रहते हैं और आपकी भग्न-हृदय माँ आपके सम्मुख फूट-फूट कर रोने लगती है तो क्या उस स्थिति का सामना करने के लिए आपमें जीवट है? यदि आपके पिता आते हैं और आपको धमकाते हैं तो क्या आप इस मार्ग में टिके रहेंगे? यदि एक नवयौवना स्त्री आपको प्रलोभित करती है तो क्या आप अपने मन में अप्रभावित रह सकेंगे? रोग से पीड़ित होने पर क्या आप स्थिर रह सकेंगे? क्या आप सत्य के हेतु अपना यह शरीर तथा जीवन बलिदान करने को तैयार हैं? क्या आपने संन्यास तथा एकान्तवास का वैभव तथा महत्त्व समझ लिया है? संन्यासियों को जीवन में जो कठिनाइयाँ झेलनी होती हैं, उनका क्या आपको अनुमान है? क्या आप भिक्षा पर निर्वाह करने के लिए द्वार-द्वार भिक्षा माँगने को तैयार हैं? एकान्तवास-काल में आप अपना सम्पूर्ण समय क्योंकर व्यतीत करेंगे? मेरे पास आने से पूर्व इन विषयों पर निर्णय ले लें। यदि आपको पक्का विश्वास है कि आप संन्यास के उपयुक्त हैं तो आप यहाँ आ सकते हैं। मैं आपकी अच्छी तरह सेवा तथा सहायता करूँगा। मैं आपके आध्यात्मिक कल्याण की देखभाल करूँगा। मैं आपको राजाओं का राजा बना दूँगा। त्यागमय जीवन से अधिक कुछ भी सुखद नहीं है। यह आशु आत्मसाक्षात्कार के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है। सभी संन्यासियों की जय हो!

प्रश्न : क्या गैरिक वस्त्र पहनना संन्यासी के लिए नितान्त आवश्यक है?

उत्तर : संन्यासी की महिमा तथा स्वतन्त्रता की कल्पना गृहस्थ लोग नहीं कर सकते हैं। यदि अन्दर मन में परिवर्तन है तो बाहर भी परिवर्तन होना चाहिए। जिस व्यक्ति का मन परिवर्तित हो गया है, उसके लिए गैरिक वस्त्र धारण करना परमावश्यक है। जब माया अथवा स्वभाववश इन्द्रियाँ विषय-भोगों की ओर जाती हैं, उस समय यदि धारण किये हुए अपने गैरिक परिधान की ओर व्यक्ति देखता है तो वह उसे स्मरण दिलाता है कि वह संन्यासी है। यह उसको प्रताड़ित करता है और अनैतिक कार्य से उसकी रक्षा करता है। इसकी अपनी ही महिमा और अपने ही लाभ हैं। सच्चा संन्यासी ही सभी सम्बन्धों और बन्धनों का उच्छेदन कर सकता है और मोह से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। उसके मित्र तथा सम्बन्धी उसे कष्ट नहीं देंगे। जब व्यक्ति मञ्च पर उपदेश देने के लिए उपस्थित होता है तो वस्त्र बहुत उपयोगी होते हैं। सामान्य जनता संन्यासियों से विचार ग्रहण करती है।

द्वितीय परिशिष्ट

योग की पुष्पमाला

१. वास्तविक गुरु

सद्‌गुरु के ये लक्षण हैं। यदि आप किसी व्यक्ति में इन लक्षणों को पाते हैं तो आप उसे तत्काल अपना गुरु स्वीकार कर लें। सच्चा गुरु वह है जो ब्रह्मनिष्ठ तथा श्रोत्रिय होता है। उसे आत्मा तथा वेदों का पूर्ण ज्ञान होता है। वह साधकों की शङ्काओं का निवारण कर सकता है। वह राग, द्वेष, हर्ष, शोक, अहङ्कार, क्रोध, काम, लोभ, मोह, मद आदि से मुक्त होता है। वह करुणासागर होता है। उसकी उपस्थिति मात्र से व्यक्ति को शान्ति तथा मनोत्कर्ष की प्राप्ति होती है। उसकी उपस्थिति में साधक की सभी शङ्काएँ विदूरित हो जाती हैं। वह सर्वथा निर्भीक होता है। वह किसी से कुछ भी अपेक्षा नहीं रखता है। उसका चरित्र अनुकरणीय होता है। वह उल्लास तथा आनन्द से परिपूर्ण होता है। वह सच्चे साधकों की खोज में रहता है।

गुरु के चरण-कमलों को नमस्कार ! मुझे सच्चे गुरु में पूर्ण विश्वास है। मेरे लिए गुरु परम आराध्य हैं। मेरा हृदय उनके चरण-कमलों की सेवा करने को सदा लालायित रहता है। मेरा विश्वास है कि मन के मलों का निवारण करने के लिए गुरु की सेवा से अधिक पावनकारी कुछ भी नहीं है। मेरा पूर्ण विश्वास है कि दूसरे तट अमरत्व तक ले जाने के लिए गुरु की निरन्तर सङ्गति ही एकमात्र सुरक्षित नौका है।

भारतवर्ष जो अद्वैत-दर्शन की पवित्र भूमि रहा है, जिसने जीवन की अभिन्नता तथा चेतना की एकता का प्रतिपादन करने वाले श्री शङ्कर, दत्तात्रेय, वामदेव तथा अन्य लोगों को जन्म दिया, वही आज साम्प्रदायिकों से आकीर्ण है। यह क्या ही महान् खेद का विषय है ! आज आप कैसी शोचनीय स्थिति देख रहे हैं ! आप सागर-तट की सिकताकणिकाओं की गणना करने में भले ही सफल हो जायें, किन्तु आज भारत में अभिभावी सम्प्रदायों की संख्या की गणना कर पाना अत्यन्त कठिन है। प्रतिदिन ही एक-न-एक प्रकार का वाद पहले से ही यहाँ वर्तमान फूट को बढ़ावा देने के लिए छत्रप (कुकुरमुत्ते) की भाँति प्रकट हो रहा है। निराशाजनक फूट तथा असामञ्जस्य का सर्वत्र ही बोलबाला है। विभिन्न सम्प्रदायों में सङ्घर्ष चल रहा है। सर्वत्र ही मतभेदों, फूटों, न्यायालयों में वादों, झड़पों, मुठभेड़ों तथा पिशुनता का प्राबल्य है। न तो शान्ति है और न मेलमिलाप। एक गुरु के शिष्य दूसरे गुरु के शिष्यों से सड़कों और चौराहों पर लड़ते-फिरते हैं।

चैतन्य महाप्रभु, गुरुनानक, स्वामी दयानन्द—ये सभी उदारमना उदात्त आत्माएँ थीं। उनकी सभी शिक्षाएँ उदात्त तथा विश्वजनीन थीं। उन्होंने कभी भी अपना पन्थ अथवा सम्प्रदाय स्थापित करना नहीं चाहा। यदि वे जीवित होते तो अपने अनुयायियों की करतूतों पर अश्रुपात करते। अनुयायी ही गम्भीर भूलें तथा प्रमाद करते हैं। उनमें विशाल हृदय नहीं होता। वे सङ्कीर्णमना होते हैं। वे मतभेद, दलगत भावना तथा सभी प्रकार के उपद्रव उत्पन्न करते हैं।

धर्माचार्यों को कभी भी अपना सम्प्रदाय स्थापित नहीं करना चाहिए। उनमें व्यापक अन्तर्दृष्टि होनी चाहिए। सम्प्रदाय की स्थापना करने का अर्थ है विश्व-शान्ति को भङ्ग करने वाले एक युद्ध-केन्द्र का निर्माण। वह देश का हित करने की अपेक्षा हानि ही अधिक करता है। वह सनातन धर्म-सभा की एक शाखा खोल सकता है जिसके सिद्धान्त तथा वाद उदार तथा सार्वजनीन, दूसरे धर्मों तथा वादों के अविरोधी तथा सभी द्वारा सर्वतः स्वीकार्य तथा अनुकरणीय हों।

कुछ लोग यथा जड़भरत, वामदेव, दत्तात्रेय, सदाशिव ब्रह्मेन्द्र परमहंस अथवा अवधूत की भाँति जीवन-यापन किये। उन्होंने कोई आश्रम नहीं बनाया तथा किसी मञ्च पर भाषण नहीं किया, तथापि उन्होंने अपने आदर्श जीवन से लोगों के मन पर ऐसी अमिट छाप छोड़ी है कि उनके नाम कई पीढ़ियों से चले आ रहे हैं तथा वर्तमान पीढ़ी उन्हें आदर्श पुरुष मानती है। वे निश्चय ही असाधारण आध्यात्मिक मानव थे। आत्मसाक्षात्कार-प्राप्त व्यक्ति भले ही हिमालय की किसी सुदूर गुफा में रहता हो, पर उसके स्पन्दन सम्पूर्ण विश्व को पवित्र बनाते हैं। उसका जीवन दूसरों के लिए यह प्रतिभूति है कि वह भगवत्साक्षात्कार कर सकता है। उसका जीवन उपदेशों का मूर्त रूप है। उसको कुछ भी बोलने की आवश्यकता नहीं है। सद्‌गुरु की ऐसी महिमा है।

साधकों को सदा प्रारम्भ में कुछ वर्षों तक किसी सिद्ध गुरु के मार्ग-दर्शन में रहना चाहिए। उन्हें उनके अधीन रहना चाहिए। उन्हें पूर्ण आज्ञाकारिता और नम्रता सीखनी चाहिए। यदि वे अपनी मनमानी करेंगे तो उनमें अहङ्कार और अभिमान आ जायेगा। वे अध्यात्म-मार्ग में तिल-भर भी प्रगति नहीं कर पायेंगे।

साधकों को शिकायत रहती है कि इन दिनों उन्हें अच्छे गुरु नहीं मिलते हैं। क्या कोई रोगी वैद्य के कमरे में प्रवेश करते ही उस वैद्य की योग्यता को माप सकता है। अज्ञानी शिष्य, जो आध्यात्मिक मार्ग का रञ्चमात्र भी अनुभव नहीं रखते, तुरन्त ही अपने गुरु की जाँच-पड़ताल करने लग जाते हैं। इस भाँति वे उनके जीवन के बाह्य रूप तथा गतिविधि को देख कर गलत धारणाएँ बना लेते तथा गलत निर्णय पर पहुँच जाते हैं। परमहंसों की जीवन-विधि में कई प्रकार के रहस्य होते हैं। उनके साथ

अत्यन्त घनिष्ठ सम्पर्क में रहते हुए बारह वर्ष भी बिता दें तब भी उनके हृदय के भावों और ज्ञान की गहराइयों को समझ पाना दुष्कर है। ज्ञान और आध्यात्मिक अनुभव पूर्णतः आन्तरिक अवस्था है।

२. ढोंगी गुरु

ढोंगी गुरुओं से सावधान रहें। इस तरह के गुरु बहुत बड़ी संख्या में इन दिनों मारे-मारे फिर रहे हैं। ये लोग लोगों को आकर्षित करने के लिए एक-दो चमत्कार अथवा हस्तलाघव दिखाते हैं। जो अभिमानी हों, जो शिष्य बनाने और धन एकत्र करने के लिए इधर-उधर घूमते-फिरते हों जो सांसारिक विषयों की वार्ता करते हों, जो असत्यवादी हों, जो वाचाल हों, जो सांसारिक लोगों तथा स्त्रियों की सङ्गति में अधिक रहते हों और जो विलासी हों, समझ जांइए कि वे वञ्चक हैं। उनकी मीठी-मीठी बातों तथा वक्तृताओं से प्रवञ्चित न हों।

एक नवयुवक हारमोनियम का प्रशिक्षण तथा स्वल्प वक्तृत्व-शक्ति प्राप्त कर मञ्च पर चढ़ता है, आचार्य अथवा गुरु होने का ढोंग रचता है, कुछ वर्षों में कुछ अण्ड-बण्ड गानों के प्रपत्र प्रकाशित करता है और अपना एक अलग सम्प्रदाय स्थापित कर बैठता है। भारत में अभी भी गम्भीर मूर्खताओं का प्राचुर्य है, जहाँ कोई भी व्यक्ति अल्पावधि में अपने अनुयायी बना सकता है।

आसनों तथा प्राणायामों का थोड़ा प्रशिक्षण प्राप्त अन्य नवयुवक गुप्त रूप से रखे हुए चालीस दिन तक पर्याप्त होने वाले खाद्य-पदार्थ वाले एक भूमिगत कक्ष में अपने को बन्द कर लेता है। वह कुछ जड़ी-बूटी खा लेता है जो कुछ दिनों तक क्षुधा तथा तृष्णा को नष्ट कर देती है। भगवान् ही जानता है कि वह कक्ष में क्या करता है। वह कक्ष में सोता है। तत्पश्चात् वह मिथ्या समाधि से बाहर आता है। यह तितिक्षा का अल्प अभ्यास मात्र है। उसके संस्कार तथा वासनाएँ नष्ट नहीं होतीं। वह पहले का ही सांसारिक व्यक्ति है। वह धन-संग्रह करने तथा शिष्य बनाने के लिए इधर-उधर मारा-मारा फिरता है। वह गुरु होने का ढोंग रचता है। अज्ञानी सांसारिक जन प्रवञ्चित हो जाते हैं। लोग इस प्रकार अनुत्तरदायी ढोंग रचने वाले नवयुवकों के मूर्खतापूर्ण कार्यों के कारण वास्तविक समाधि में प्रवेश करने वाले सच्चे योगियों में भी श्रद्धा खो बैठेंगे। इन नवयुवकों ने योग तथा आध्यात्मिक जीवन के गुरुत्व को नहीं समझा है। निस्सन्देह समाधि सार्वजनिक सड़कों पर प्रदर्शनार्थ नहीं है। समाधि एक पवित्र कार्य है। यह इन्द्रजाल नहीं है। यह व्यवहार संक्रामक हो चला है। अनेक नवयुवकों ने यह प्रदर्शन या करतूत आरम्भ कर दी है।

इन धूर्त योगियों, दिन-दहाड़े प्रवञ्चना करने वालों, ढोंगी गुरुओं, कुलकलङ्कों से सावधान रहें जो संसर्गज, परजीवी और समाज पर भार हैं, जो देश के लिए सङ्कट और भोले-भाले लोगों की सम्पत्ति खसोटने वाले गृध्र हैं।

कुछ लोग वृद्धावस्था में अपनी सेवा के लिए शिष्य बनाते हैं। वे अपने शिष्यों की चिन्ता नहीं करते।

एक व्यक्ति ने कलकत्ता में शुद्ध भूयिक अम्ल (नाइट्रिक एसिड) पीने, कीलें निगलने तथा काँच के टुकड़े चबाने की करतूत दिखलायी। लोग आश्चर्यचकित रह गये। वह भूयिक अम्ल (नाइट्रिक एसिड) को मधु की तरह चाटता था। किन्तु वह निरा व्यापारिक व्यक्ति था। जो कोई भी उसे ३० रुपये दे सकता था उसी के सामने वह यह प्रदर्शन करता। क्या जहाँ व्यापारिक सौदेबाजी हो वहाँ रत्ती-भर भी आध्यात्मिकता हो सकती है? पाठक इसका निर्णय स्वयं ही कर सकते हैं। वस्तुतः इन करतूतों में कोई असामान्य बात नहीं है। यह केवल सम्मोहन-विद्या अथवा इन्द्रजाल है। अम्ल तथा काँच के टुकड़ों के दुष्प्रभाव को नष्ट करने के लिए कुछ जड़ी-बूटियाँ हैं।

चार सौ वर्ष तक जीवित रहना भी उन्नत आध्यात्मिकता की कसौटी नहीं है। व्यक्ति इन्द्रजाल के द्वारा विद्युत् प्रकाश तथा अन्य उपस्कारों से युक्त भव्य प्रासाद निर्मित कर सकता है। एक व्यक्ति अपनी गुदा से प्रकाश उत्सर्जित किया करता था। उसे यह सिद्धि थी। सिद्धियों पर आधिपत्य आत्मसाक्षात्कार का लक्षण नहीं है। मैं सिद्ध योगी की सिद्धि को अस्वीकार नहीं करता। श्री दत्तात्रेय ने अपनी योग-शक्ति से एक स्त्री की सृष्टि की थी। रानी चुडाला ने अपने पति की परीक्षा लेने के लिए एक कृत्रिम पति की सृष्टि की थी। श्री ज्ञानदेव, तैलङ्ग स्वामी तथा सदाशिव ब्रह्मेन्द्र में आश्चर्यजनक सिद्धियाँ थीं। कुछ धूर्त योगी हैं जो धन, नाम तथा यश अर्जित करने के लिए झूठे प्रदर्शन से जनता को ठगते हैं। सच्चा आध्यात्मिक व्यक्ति कभी किसी सिद्धि का प्रदर्शन नहीं करता। हाँ, अपने शिष्यों को विश्वास दिलाने के लिए कभी-कभी कुछ सिद्धियाँ दिखा सकता है।

एक हठयोगी अपने को एक सन्दूक में भूमि के अन्दर दफना देता है। खेंचरी-मुद्रा द्वारा अपने नासा-रन्ध्रों को बन्द करके वह ऐसा करता है। यह निस्सन्देह एक दुष्कर कार्य है। वह जड़ समाधि प्राप्त करता है जो गम्भीर सुषुप्ति की अवस्था जैसी ही है। इस समाधि द्वारा संस्कार तथा वासनाएँ दग्ध नहीं होते। वह समाधि से उच्चतर अन्तर्ज्ञान के साथ नहीं उठता है। यह समाधि मुक्ति प्रदान नहीं कर सकती है। यह केवल एक प्रकार का अद्भुत कार्य है। यह आध्यात्मिकता का लक्षण नहीं है। लोग धन, नाम तथा यश प्राप्त करने के लिए इस क्रिया को करते हैं। सन्दूक से

बाहर आने पर वे रुपयों के लिए हाथ फैलाते हैं। वे सन्दूक में प्रवेश करने से पहले ही सौदा कर लेते हैं।

एक व्यक्ति के हाथ-पैर लौह-शृंखला से बाँध कर कमरे में बन्द कर दीजिए। आपके ताला लगाने से पहले ही वह आपके सम्मुख आ खड़ा होगा। कमरे के अन्दर जाइए। वह वहाँ होगा। निश्चय ही यह बहुत ही आश्चर्यकर है। यह एक प्रकार का हस्तलाघव है। यह इन्द्रजाल है। कुछ लोग तीव्र कील-जड़ित काष्ठ-फलक पर बैठ सकते हैं तथा साँप को चाकलेट की तरह चबा सकते हैं। यदि आप लम्बी सूई उनकी बाहुओं में चुभायें तो रक्तस्राव नहीं होता। कुछ लोग पाषाण से जल निकाल सकते हैं। सच्चे योगी तथा धूर्त योगी—दोनों ही ये सब कार्य कर सकते हैं। सच्चा योगी इन्हें अपनी योगशक्ति से करता है; किन्तु धूर्त योगी किसी हस्तलाघव इन्द्रजाल से करता है।

जनता किसी को तभी अपना गुरु स्वीकार करती है जब वह कुछ सिद्धियाँ प्रदर्शित करे। यह गम्भीर भूल है। उन्हें अति-आशुविश्वासी नहीं होना चाहिए। वे इन कपटी योगियों से सहज ही प्रवञ्चित होते हैं। उन्हें अपने विवेक तथा तर्कणा-शक्ति का उपयोग करना चाहिए। उन्हें किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने से पूर्व गुरु की विधियों, आदतों, प्रकृति, आचरण, वृत्ति, स्वभाव, पूर्ववृत्त आदि का अध्ययन करना चाहिए और उसके शास्त्र-ज्ञान की जाँच करनी चाहिए।

मुझे उन पाखण्डियों के व्यवहार पर घोर अप्रसन्नता होती है जो गुरु तथा आचार्य होने का ढोंग करते हैं और शिष्य बनाते तथा धन अपहरण करते घूमते-फिरते हैं। इस विषय में आप सभी भी मुझसे सहमत होंगे। इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती। वे समाज के कण्टक हैं। इन धूर्तों का भारत की भूमि से पूर्णतया उन्मूलन करना चाहिए। ये भारतवासियों का बहुत ही विनाश तथा अहित कर रहे हैं। वे विभिन्न देशों के लोगों के मन पर बहुत ही बुरा प्रभाव डाल रहे हैं। भारत अपने इस ढोंगी व्यवहार के कारण अपनी आध्यात्मिक गरिमा खो रहा है। इस गम्भीर व्याधि का दमन करने तथा इसे आमूल नष्ट करने के लिए तत्काल सशक्त पग उठाने चाहिए। गुरुपन के व्यवसाय ने देशान्तरगामी महामारी का रूप धारण कर लिया है और बहुत संक्रामक हो चला है। अनेक लोगों ने इस गुरुपन-व्यवसाय को शालीन जीविका के एक सरल साधन के रूप में अपनाया है। बेचारी अनभिज्ञ महिलाएँ तथा अशिक्षित पुरुषों का इन छद्म गुरुओं द्वारा विकट शोषण हो रहा है।

गौरवशाली भारत श्री शङ्कर तथा दत्तात्रेय जैसे सच्चे गुरुओं से भरपूर हो! वह इन छद्म गुरुओं से सर्वथा मुक्त हो! धर्माचार्य विविध पन्थों तथा सम्प्रदायों के एकीकरण के लिए यथाशक्य प्रयास करें! वे नये सम्प्रदायों की स्थापना न करें।

गौरवशाली भारत त्याग, वैराग्य तथा आत्म-साक्षात्कार का लक्ष्य रखने वाले सन्त-महात्माओं, ऋषियों, योगियों तथा संन्यासियों का आध्यात्मिक देश होने की अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखे!

३. आश्रम-जीवन

यह सच है कि निस्स्वार्थ योगी तथा साक्षात्कार-प्राप्त जीवन्मुक्त द्वारा सञ्चालित आश्रम अध्यात्म का गतिशील केन्द्र है। सहस्रों व्यक्तियों के आध्यात्मिक उत्थान का वह केन्द्र है। संसार के सभी भागों में ऐसे केन्द्रों की आवश्यकता है। ऐसे आश्रमों से देश को अत्यधिक आध्यात्मिक हित प्राप्त होता है। ऐसे आदर्श आध्यात्मिक व्यक्तियों के अधीन सञ्चालित होने वाले ऐसे आदर्श आश्रम इन दिनों बहुत ही विरल हैं। अनेक रूपों से धन संग्रह किया जाता है जिसका कुछ अंश तो लाभदायी उद्देश्य में व्यय होता है और शेष आश्रम के संस्थापक की विलास-सामग्री में व्यय होता है।

गौशालाओं का वास्तविक प्रयोजन गौवों की रक्षा नहीं है। वास्तविक आन्तरिक भाव तो प्रातः अपने उपयोग के लिए ताजा शुद्ध दूध प्राप्त करना होता है। दूध आश्रम के कार्यकर्ताओं में समान भाग में वितरित नहीं किया जाता। इस पर एकमात्र अध्यक्ष महोदय का एकाधिकार होता है। अतः आश्रम में उपद्रव उठ खड़ा होता है। संस्थापक अपने तथा आश्रमवासियों के मध्य में भेद की खाई खड़ी करता है, उसे कार्यकर्ता अनुभव करते हैं। इन छोटी तुच्छ वस्तुओं में भी एकता की भावना कहाँ रही? नाम, कीर्ति, आश्रम तथा कुछ शिष्य पा जाने के पश्चात् संस्थापक अपने मूल आदर्श-वाक्य **"सर्वभूतहिते रताः"** को भुला देते हैं।

आश्रम के अधिष्ठाता काल-क्रम से अनजाने में ही पूजा के दास बन जाते हैं। माया अनेक रूपों से कार्य करती है। जिसमें यह भाव हो कि लोग अवतार की तरह उसकी पूजा करें, वह भला जनता की सेवा कैसे करेगा? कार्यकर्ता भी क्षुद्र मनोवृत्ति के होते हैं। वे छोटी-छोटी बातों के लिए परस्पर झगड़ कर आश्रम के शान्त वातावरण को भङ्ग करते हैं। तब आश्रम में शान्ति कैसे रहे? आश्रम में शान्ति प्राप्त करने के विचार से बाहर से आने वाले लोग वहाँ कैसे शान्ति का उपभोग कर सकते हैं?

आश्रम के अधिष्ठाता को बाहर की भिक्षा पर रहना चाहिए। उन्हें वैसा ही पूर्ण आत्म-त्याग का आदर्श जीवन, आदर्श सरलता का जीवन यापन करना चाहिए जैसा ऋषिकेश के ब्रह्मलीन काली कमली वाले थे जो आश्रम के लिए जल-पात्र अपने शिर पर लाते और बाहर से प्राप्त भिक्षा पर निर्वाह करते थे। तभी वे लोगों की वास्तविक भलाई कर सकते हैं। आश्रम के अधिष्ठाताओं को कभी भी जनता से धन की

सहायता की याचना नहीं करनी चाहिए। इससे भगवत्साक्षात्कार के पथ पर चलने वालों की प्रतिष्ठा क्षीण होती है। याचना की प्रकृति बुद्धि की सूक्ष्म संवेदनशीलता को नष्ट कर डालती है। जैसे अधिवक्ता तथा वेश्याओं के यहाँ जाने वाले लोग सत् तथा असत्, शुचिता तथा अशुचिता का विवेक खो बैठते हैं वैसे ही धन के लिए बार-बार याचना करने वाले यह नहीं जानते कि वास्तव में वे क्या कर रहे हैं। भिक्षा-वृत्ति आत्म-बल को नष्ट कर डालती है। भिक्षुक के लिए स्वतन्त्रता कहाँ? लोगों का विश्वास आश्रम के संस्थापकों पर से उठ गया है। यदि बिना माँगे कुछ मिले तो उसे स्वीकार किया जा सकता है। तब आप स्वतन्त्र रूप से कुछ कार्य कर सकते हैं। आश्रम का सञ्चालन यदि गृहस्थ करे तो वह धन की याचना कर सकता है।

आश्रम को चलाने के लिए अच्छे कार्यकर्ता मिलना बहुत ही कठिन है। जब आपके पास न धन है, न कार्यकर्ता हैं और न प्रबल आध्यात्मिक शक्ति है तो आश्रम बनाने की चिन्ता क्यों करते हैं? शान्त रहिए। ध्यान कीजिए। आत्मविकास कीजिए। अपने कार्य की चिन्ता करें। पहले अपना सुधार करें। जब आप स्वयं अन्धकार में भटक रहे हैं, जब आप नेत्रहीन हैं तो आप दूसरों की सहायता कैसे कर सकते हैं? एक अन्धा दूसरे अन्धे को कैसे मार्ग दिखला सकता है; दोनों ही गहरे गर्त में जा गिरेंगे और अपने पाँव तोड़ बैठेंगे। नाम तथा यश के लिए आश्रम बनाने से आध्यात्मिक उन्नति को इतनी क्षति पहुँचती है और सर्वथा विनाश होता है।

उपसंहार में मैं यह कहूँगा कि यद्यपि वर्तमान समय में हमारे यहाँ प्रथम कोटि के आश्रम नहीं हैं; किन्तु द्वितीय कोटि के अनेक आश्रम हैं, जिनका सञ्चालन उदात्त सात्त्विक व्यक्ति करते हैं जो देश की किसी-न-किसी रूप में कुछ सेवा कर रहे हैं। बहुमूल्य दार्शनिक ग्रन्थों का प्रकाशन करते तथा साधकों को ध्यान तथा योग-प्रशिक्षण प्रदान करते हैं। वे निष्काम सेवा करते हैं। प्रेम, सेवा तथा शान्ति का अपना सन्देश प्रसारित करते हैं। इन दुर्लभ, उदात्त, निस्स्वार्थ आत्माओं को मेरी मौन श्रद्धाञ्जलि तथा नमस्कार। यदि वे वास्तविक कल्याण चाहते हैं तो उन्हें नाम तथा यश से सावधान रहना चाहिए।

४. संन्यासी साधकों को मन्त्रणा

यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि अज्ञानी व्यक्ति, जिनके दायित्य कभी पूरे नहीं हुए हैं, योग्यतानुसार संन्यासी नहीं बन सकते। यह ठीक नहीं है; क्योंकि गृहस्थाश्रम में प्रवेश से पूर्व कोई दायित्य नहीं आता। यदि जो कर्म करने का अधिकारी नहीं है, उस पर भी दायित्व थोपा जाये तो उसका अवाञ्छित परिणाम होगा

अर्थात् सभी पर दायित्व रहेगा। आत्मसाक्षात्कार के सहायक के रूप में संन्यास गृहस्थाश्रमी व्यक्ति पर भी लागू होता है।

आप कह सकते हैं : "यदि सभी पूर्ण एकान्तवास करने लगें और सभी संन्यास ग्रहण कर लें तो यह संसार कैसे चलेगा?" इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि सभी संन्यास नहीं ले सकते। यदि वे कुछ दिन एकान्त में रहें तो भी वैसी ही बेचैनी अनुभव करेंगे जैसे जल से बाहर रहने पर मछली अनुभव करती है। वे शीघ्र ही अपने स्थानों को वापस चले जायेंगे। सामान्य लोगों को अपनी पत्नी, अपने बच्चे, धन, घर तथा अनेक प्रकार के व्यसनों से अत्यधिक मोह होता है। वे संसार को कभी भी नहीं छोड़ सकते हैं। जिनमें चित्त-शुद्धि, वैराग्य, शरीर, मन तथा इन्द्रियों पर अनुशासन तथा साधन-चतुष्टय है, वे ही एकान्त में रह सकते हैं। वे ही लाभान्वित भी होंगे। मान लें कि सभी लोग संसार का त्याग कर दें तो इससे आपको क्या? ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। वह संसार को नयी सृष्टि से भर देगा। इस विषय में आप अधिक चिन्ता न करें।

एक नवदीक्षित को कुछ प्रारम्भिक अनुशासनों से हो कर गुजरना होता है जो उसके चरित्र को बलवान् बनाते तथा उसे सभी प्रकार की स्वार्थपरताओं से ऊपर उठने में सक्षम बनाते हैं। जब वह स्वेच्छा से संन्यास ग्रहण करता है तो इसका अर्थ यह नहीं कि जिस समाज-विशेष में अथवा विशाल विश्व में वह रह रहा है उसकी आवश्यकता का अवमूल्यन करता है। इस नये जीवन का अर्थ है मात्र नये मनोभाव को अपनाना। उसका लक्ष्य अब परम सत् को प्राप्त करना है। वह विकास के निम्नतर चरणों को पार कर चुका है। यद्यपि वह अपने इतर भाइयों के साथ परिश्रम करता-सा नहीं दिखता, पर यह नहीं भूलना चाहिए कि वह उनके कल्याण के लिए उन पर अप्रतिरोध्य प्रभाव डालता है। यही वह अपने चतुर्दिक् के समाज की सेवा कर रहा है और व्यक्ति मानव-जाति की जो सेवा कर सकता है उसमें यह सर्वोत्कृष्ट तथा सर्वाधिक लाभदायी सेवा है। वह लोगों की दृष्टि से ओझल रहता है, पर उसका कार्य 'चण्डूल पक्षी का अदृश्य गीत'-सा होता है। यह दोषारोपण भी निराधार है कि संन्यास से व्यक्ति विपथ-गामी हो सकता है। यह तथ्य कि साधक ने संसार का त्याग कर दिया है, प्रमाणित करता है कि उसमें एक मात्रा में आत्मसंयम है जो सभी ऐन्द्रिक प्रलोभनों के विरुद्ध उसकी रक्षा करेगा। स्वातन्त्र्य न कि यथाकामत्व उसके जीवन का नियम है।

कुछ दम्भी लोग कहते हैं : "हमने अपने मन को रङ्ग दिया है। हमें वस्त्र-परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं है।" मैं इन लोगों का विश्वास नहीं करता। प्रख्यात मण्डन मिश्र भी, जो ब्रह्मा के अवतार थे और जिन्होंने श्री शङ्कराचार्य से शास्त्रार्थ किया था, संन्यासी बने और उनका नाम सुरेश्वराचार्य पड़ा। महर्षि याज्ञवल्क्य ने संन्यास धारण

किया। श्री रामकृष्ण परमहंस ने स्वामी तोतापुरी से संन्यास-दीक्षा ली। जिनमें लालसाएँ, वासनाएँ, मोह तथा आसक्ति हैं तथा जो भीरु हैं वे ही वस्त्र-परिवर्तन से डरते हैं और झूठे, विलक्षण तथा अप्रामाणिक तर्क उपस्थित करते हैं। यह खेद का विषय है कि आजकल अध्यात्म-पथ पर चलने वाले कुछ महान् व्यक्ति भी वस्त्र-परिवर्तन की महिमा तथा महत्त्व को स्वीकार नहीं करते।

जो व्यक्ति कर्म की प्रवृत्तियों से भरा हुआ है, उसके मस्तिष्क में शुद्ध निवृत्ति का विचार प्रवेश नहीं कर सकता है। स्वामी शङ्करानन्द जी ने लिखा है कि संन्यासी को निदिध्यासन-परायण होना चाहिए। वह केवल शौच तथा भिक्षा कर सकता है। यह खेद की बात है कि बहुत से लोग समझते हैं कि ध्यान समय नष्ट करता है।

जब आप चित्त-शुद्धि प्राप्त कर लें तो आपको सभी कार्य निर्भयतापूर्वक त्याग देने चाहिए। आपको जरा भी आगा-पीछा नहीं करना चाहिए। आपको पूर्ण एकान्तवास करना चाहिए। चित्त-शुद्धि वाले व्यक्ति के लिए कार्य भयप्रद है। यह ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग में बाधक है। श्री शङ्कराचार्य के ग्रन्थों का ध्यानपूर्वक परिशीलन कीजिए। वे इस विषय पर बहुत बल देते हैं। कार्य विक्षेप, द्वैत भाव और त्रिपुटी उत्पन्न करता है। जब आप कर्म में संलग्न होते हैं तो विषयों के सन्निकर्ष से कालक्रम से आपके पतन की आशङ्का है। वैराग्य शनैः-शनैः क्षीण हो जाता है। ब्रह्म-स्मरण लुप्त हो जाता है। जगत् की सत्यता अलक्षित रूप से प्रवेश कर जाती है। कर्म अविद्या है। यह ज्ञान का शत्रु है।

निश्चय पक्का हो तथा सङ्कल्प फौलाद के समान दृढ़। एक बार निवृत्ति-पथ पर आ चुके हो, तो पीछे लौटने की मत सोचो। इससे अच्छा तो यही है कि कूदने से पहले आगे अच्छी तरह देख लो। साहस, एकाग्रता, निश्चित लक्ष्य होना चाहिए इस जीवन का। सोच लें कि आप क्या करने जा रहे हैं और क्यों करने जा रहे हैं, किस विधि को अपना कर सफल बनेंगे। चञ्चल मत बनें। क्या आप धन-सम्पत्ति का तो क्या; अपने शरीर का मोह भी त्याग चुके हैं, त्यागने को तैयार हैं? यदि हाँ, तो निवृत्ति-पथ पर आ सकते हैं। मार्ग प्रशस्त है यहाँ का, आपके लिए संन्यास-मार्ग खुला है। किन्तु निश्चय करने से पहले जरूर सोच लें और अच्छी तरह विचार लें कि आप क्या करना चाहते हैं और क्यों? आध्यात्मिक पथ (निवृत्ति-पथ) गुलाब की सेज नहीं, जैसा साधारणतः सोचा जाता है कि संन्यास ले कर शेष जीवन आनन्द से व्यतीत करेंगे, आराम से रहेंगे निश्चिन्त हो कर। यह मार्ग सङ्कटों से भरा हुआ है। इसके रास्ते में अनेक कठिनाइयाँ हैं। अतः विनम्र हो कर चलना पड़ता है। धैर्य और सहिष्णुता के साथ चलना पड़ता है। कुछ लोग सिद्धि और कुण्डलिनी शक्ति के पीछे पागल हो जाते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए। उद्विग्न होने से इस मार्ग में सफलता नहीं मिलती।

यदि साधक में धैर्य, साहस तथा विनम्रता है तो वह अनेक कठिनाइओं को पार करते हुए चलता है। भावुक होने से भी काम नहीं चलेगा, गम्भीर होना चाहिए। कुछ भावुक नवयुवक इस मार्ग पर आते हैं, किन्तु थोड़ी-सी कठिनाई का सामना न कर पाने से भयभीत हो कर संसार में वापस लौट जाते हैं। उनमें शक्ति और साहस का अभाव रहता है। यह ठीक है कि इस मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं, किन्तु यह भी है ही कि धैर्यशील, उद्यमी तथा साहसी व्यक्ति बड़ी सफलता से इस मार्ग पर चलता जाता है और अन्त में जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति भी कर लेता है। इस मार्ग में जो लोग चलते आये, वे समाज के वन्द्य और पूज्य बने। बिना साम्राज्य के वे महाराजा थे और बिना धन के वे परम ऐश्वर्यशाली। जिस व्यक्ति में निश्चय, धैर्य, सहिष्णुता, आत्म-समर्पण की भावना, वैराग्य तथा दृढ़ सङ्कल्प की प्रचुरता है, वह इस मार्ग पर आसानी से बढ़ता जाता है।

जो लोग एकान्त-सेवन करना चाहते हैं तथा निवृत्ति-मार्ग-परायण होना चाहते हैं, उनको मौन धारण करना चाहिए, इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना चाहिए, मन तथा शरीर को अपने वश में करना चाहिए—भले ही वे संसार में ही क्यों न हों। निवृत्ति-मार्ग के साधक को इस प्रकार योग्य बन जाना होगा, ताकि कठिन-से-कठिन तथा नीरस-से-नीरस जीवन उसे हताश और निराश न कर सके। रूखा भोजन भी मिले तो उसे पचा लेने की शक्ति होनी चाहिए, सोने के लिए बिस्तरा भी न मिले तो सन्तुष्ट रहना चाहिए, नङ्गे पाँवों भी चलना पड़े तो कष्ट नहीं मानना चाहिए और छाता, जूता, सुगन्धित द्रव्य आदि भोग-विलास के साधनों के अभाव में भी आनन्दित और सन्तुष्ट रहना चाहिए। तभी वह इस जीवन की तपस्या और परिव्राजक-जीवन की कठिनाइयों को सह सकता है। यदि भिक्षा भी माँगनी पड़े तो शर्माना नहीं चाहिए। कायरता इस मार्ग का अभिशाप है तो भी इतना अवश्य होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति जो इस मार्ग में आ कर एकान्त-सेवन करना चाहता है, अपने पास जीवन-निर्वाह के लिए कुछ धन अवश्य रखे। आज समय बदल गया है। पुराने समय के समान आध्यात्मिक पथ के साधकों को मधुकरी (भिक्षा) मिलनी सम्भव नहीं है। जहाँ भी वे जायेंगे उनको काम ही करना होगा, अतः एकान्त-सेवन में बाधा होगी। अतः आज वह समय आ गया है, जब संन्यासी को भी संन्यास-व्रत में जमे रहने के लिए धन रखना ही पड़ता है। संन्यासी को भी आर्थिक स्थिति ने बन्धन में डाल दिया है। तभी मैं प्रत्येक साधक को उसकी भलाई के लिए यह आदेश देता हूँ कि निवृत्ति-मार्ग में आने के साथ-साथ अपने पास कुछ धन अवश्य रखना चाहिए, ताकि ध्यान, जप आदि साधन में बाधा न पहुँचे।

ब्रह्मचर्य, गुरुभक्ति, लगनपूर्वक साधना करते रहने से कुछ काल में योग-मार्ग की सफलताएँ पनपने लगती हैं।

अधिकतर देखा गया है कि निवृत्ति-मार्ग में आने से साधक आलसी और काहिल हो जाते हैं और उनको यह निश्चय नहीं हो पाता कि कैसे मन की शक्तियों का सदुपयोग किया जाये। इसका कारण है कि वे अपनी दिनचर्या निश्चित नहीं करते हैं। उनके अपने स्वतन्त्र विचार होते हैं, गुरु के आज्ञानुसार चलना उनको उचित नहीं जान पड़ता। यह सच है कि उनमें वैराग्य की प्रचुरता होती है, किन्तु आध्यात्मिक पथ का अनुभव नहीं होने से वे आगे नहीं बढ़ सकते। यहाँ तक कि कई साल व्यतीत हो जाने पर भी वे कोल्हू के बैल की तरह उसी चक्कर में घूमते रहते हैं, रत्ती-भर भी आगे नहीं बढ़ सकते। आध्यात्मिक मार्ग में सफलता पाने के लिए जितनी आवश्यकता साधना की है, उससे अधिक गुरु की है।

साधक और गुरु—दोनों को साथ-साथ पिता और पुत्र के समान प्रेम से रहना चाहिए। उनका प्रेम घनिष्ठ और पवित्र होना चाहिए। गुरु प्रेम और स्नेह के साथ साधक का परिपालन करे तथा साधक आदर, भक्ति और श्रद्धा के साथ गुरु के साथ रह कर साधना करे। साधक की प्रतिभा इतनी प्रखर और ग्राहक होनी चाहिए कि गुरु का एक बार का उपदेश उसके रोम-रोम में बस जाना चाहिए। इसके लिए, गुरु के आदेश के लिए सदा प्रतीक्षा करनी चाहिए। गुरु के आदेशों को पाने के लिए सच्चे दिल से उत्कण्ठित रहना चाहिए। यदि ऐसा हो गया तो साधक अमित लाभ का भागी हो सकता है। अन्यथा अविरत साधना करते रहने पर भी ढाक के तीन पात ही रहेंगे, साधक के आसुरिक भाव जैसे के तैसे रहेंगे, वह तिल-भर भी आगे नहीं बढ़ सकेगा।

दीर्घ काल तक गुफा में रहने से मनुष्य तामसिक बन जाता है और मानवता की क्रियाशील और ठोस सेवा करने की उनकी योग्यता जाती रहती है। एकान्तप्रिय मनुष्य यदि कहीं महिलाओं का झुण्ड देख ले तो घबड़ा जाता है। साधारण-सी आवाज भी उसका सन्तुलन बिगाड़ देती है। अरण्यवासी तपस्वी को अपनी आन्तरिक शक्ति की जाँच समय-समय पर संसार के अन्दर आ कर और मानव-सेवा के द्वारा कर लेनी चाहिए। मायावाद को ठीक-ठीक जान लेना परम आवश्यक है। भारत की आज की इस शोचनीय अधोगति का कारण इस मायावाद की सही जानकारी का अभाव ही है। यदि तपस्वी संन्यासियों की टोलियाँ समय-समय पर बाहरी जगत् में आयें और अपने सामर्थ्य, स्वभाव और रुचि के अनुसार पूरी निष्ठा और एक व्यवस्थित ढङ्ग से सेवा-कार्य करें तो निश्चय ही भारत सर्वथा नवीन और भव्य होगा और वहाँ होगा धार्मिक जीवन तथा आध्यात्मिक और नैतिक उत्थान।

आज यह बहुत आवश्यक हो गया है। कोने-कोने में आज चीख-पुकार मच रही है। इस चतुर्थाश्रम संन्यास का सङ्गठन द्वारा सुधार करने की अतीव आवश्यकता है। केवल कोई-न-कोई सामाजिक सेवा करने से या कथावाचन से यहाँ-वहाँ कुछ उपदेश देने भर से सन्तोषजनक लाभ न होगा। आज तो उग्र सेवा की अपरिहार्य आवश्यकता है। मायावाद के प्रतिपादक शङ्कराचार्य स्वयं कितने सक्रिय थे। उन्होंने जो भव्य कार्य किये, उनको देखो। उन्होंने केवल सकाम कर्मों के विरोध में प्रचार किया। निष्काम कर्म के वे विरोधी नहीं थे। वे बड़े अद्‌भुत कर्मयोगी थे।

हम सब उन्हीं के चरण-चिह्नों और आदर्श पर चलें और अपने देशवासियों के मन में घर की हुई सारी भ्रान्ति को दूर कर दें। पहले भी यदि अद्‌भुत कार्य किसी ने किये हैं तो वह साहसी संन्यासियों ने ही। वे अब भी अद्‌भुत कार्य कर सकते हैं। वे सर्वत्र स्वतन्त्र हैं। उनमें शक्ति, अवधान, तेज, ब्रह्मचर्य और क्षमता भरी पड़ी है। उनमें नैतिक और आध्यात्मिक शक्तियाँ हैं। वे चमत्कार कर सकते हैं और निस्सन्देह पलमात्र में सारे संसार में विद्युत्-सञ्चार कर सकते हैं। ऐसे संन्यासियों की, शङ्कराचार्य और दत्तात्रेय की सन्तानों की, आध्यात्मिक सम्राटों और तीनों लोकों के सच्चे आचार्यों की जय हो!

५. स्वास्थ्य तथा योग

स्वास्थ्य क्या है? शरीर की तीन धातुओं—वात, पित्त तथा कफ—का साम्य ही स्वास्थ्य कहलाता है जिसमें मन तथा शरीर के सभी अवयव मेल तथा सामञ्जस्य से कार्य करते हैं तथा मनुष्य सुख-शान्ति अनुभव करता है तथा अपने जीवन के कर्तव्यों का सहज भाव से सुविधापूर्वक निर्वहन करता है। इस स्थिति में मनुष्य की पाचन-शक्ति ठीक रहती है, अच्छी भूख लगती है, श्वास-प्रश्वास तथा नाड़ी की गति सामान्य होती है, रक्त शुद्ध तथा पर्याप्त मात्रा में रहता है, स्नायु पुष्ट रहती हैं, मन शान्त रहता है, शौच ठीक होता है, मूत्र सामान्य होता है, कपोलों पर लालिमा होती है, चेहरा दमकता है, आँखें चमकती हैं। ऐसी अवस्था में मनुष्य नाचता-कूदता है, मुस्कराता-हँसता है, गाता-सीटी बजाता है तथा आनन्दविभोर हो कर इधर-उधर घूमता है। यह अवस्था है जिसमें मनुष्य ठीक से चिन्तन कर सकता है, बोल सकता है तथा कार्य कर सकता है।

एक सुस्वस्थ जीवन निश्चय ही एक बड़ी देन है। यदि मनुष्य उदर-रोग के कारण अच्छी तरह भोजन न कर सकता हो, सन्धिवात अथवा अङ्गघात के कारण चल-फिर न सकता हो, मोतियाविन्द या दृष्टि-दोष के कारण सुन्दर प्राकृतिक दृश्य न देख सकता

हो तो सारे धन तथा सम्पत्ति का भौतिक लाभ ही क्या है? सारे भूलोक का स्वामी हो कर भी यदि व्यक्ति अस्वस्थ रहा तो उसका जीवन दयनीय ही होता है।

गत जन्म में किये हुए सत्कर्मों के कारण मनुष्य को अच्छा स्वास्थ्य मिलता है। जिसने अपने गत जन्म में पुण्य कर्म किये हों, अपनी सम्पत्ति में औरों को सहभागी बनाया हो, जिसने दीन-दुःखियों की सहायता की हो, जिसने उपासना, ध्यान तथा यौगिक क्रियाएँ की हों, वह इस जीवन में अच्छा स्वास्थ्य-सुख भोगता है। कारण-कार्य-सम्बन्ध का नियम अटल तथा कठोर है।

इस संसार में मनुष्य के लिए सर्वोत्कृष्ट प्राप्तव्य वस्तु कौन-सी है? वह है आत्मसाक्षात्कार। इस आत्मसाक्षात्कार के लाभ क्या हैं? हम आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रयत्न क्यों करें? एकमात्र आत्मज्ञान की प्राप्ति अथवा जीव तथा ब्रह्म की अभिन्नता का साक्षात्कार ही जन्म-मृत्यु के चक्र तथा उसके सहगामी रोग, जरा, दुःख, कष्ट, विपत्ति, चिन्ता तथा नानाविध क्लेशों को समाप्त कर सकता है। केवल आत्मज्ञान ही दुःखाभासभिन्न शाश्वत आनन्द, परम शान्ति, सर्वोत्कृष्ट ज्ञान तथा अमरत्व प्रदान कर सकता है।

अग्रिम प्रश्न है कि हमें क्यों स्वस्थ रहना चाहिए? हमें पुरुषार्थ-चतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की सिद्धि के लिए स्वास्थ्य प्राप्त करना चाहिए। स्वास्थ्य के बिना कुछ भी प्राप्त करना सम्भव नहीं है। स्वास्थ्य के बिना हम कोई सेवा या निष्काम कर्मयोग नहीं कर सकते। स्वास्थ्य के बिना प्रार्थना तथा ध्यान करना भी सम्भव नहीं है। स्वास्थ्य के बिना हम आसन तथा प्राणायाम नहीं कर सकते। इसीलिए शास्त्र कहते हैं कि संसार-सागर को पार करने के लिए यह शरीर एक नौका है। पुण्य कर्म करने तथा मोक्ष पाने का भी यही साधन है।

साधक यदि योग-साधना तथा आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहता है तो उसे आधि (मनोरोग) तथा व्याधि (शारीरिक रोग) से मुक्त होना चाहिए। योग-विज्ञान के अनुसार सभी शारीरिक रोगों का मूल मनोरोग है, मन की अस्वस्थ अवस्था है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक भी इस तथ्य की सम्पुष्टि करते हैं। उनका कथन है कि शारीरिक रोगों के लिए घृणा, क्रोध, चिन्ता, विषाद आदि उत्तरदायी हैं। ये मन को क्षीण करते, शरीर पर प्रतिक्रिया करते तथा शरीर के कोशाणुओं को नष्ट करके अनेक प्रकार के शारीरिक रोग उत्पन्न करते हैं।

कर्मयोग के साधक को राजयोग, वेदान्त, शरीर-विज्ञान, आयुर्वेद, घरेलू औषधियों तथा स्वास्थ्य-विज्ञान का प्राथमिक ज्ञान होना चाहिए। तब वह और अधिक वास्तविक कार्य सरलता से सम्पन्न कर सकता है। वह मन के नियमों का तथा मन के स्वरूप, उसके स्वभाव तथा युक्तियों का ज्ञान भी प्राप्त कर सकता है। वह मन को सदा शान्त तथा स्वस्थ रखने की स्थिति में होगा। कोई भी व्यक्ति क्षुब्ध मन के होते हुए सहज में कार्य नहीं कर सकता है। क्षुब्ध मन शरीर की तीनों धातुओं को आन्दोलित करता तथा सभी तरह के रोग उत्पन्न करता है। यह आयुर्वेद का मत है जो राजयोग तथा पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के मत से मेल खाता है। कपिल मुनि रचित सांख्य-शास्त्र के ज्ञान से वह ब्रह्माण्ड के नियम तथा विश्व के प्रवर्तकत्व को जान सकता है। बाह्य भौतिक जगत् के विभिन्न प्रकार के पदार्थों के नानाविध कम्पन मानव-मन में प्रवेश करते तथा अनेक प्रकार के प्रभाव उत्पन्न करते हैं। शरीर जगत् का एक अंश है। इसी भाँति मन भी अंश है। जिसे जगत् कहा जाता है, वह मन ही है—**"मनोमात्रं जगत्," "मनःकल्पितं जगत्।"** मनुष्य का मन दूसरों के मार्गों और विचारों से प्रभावित होता है। बाहर के विचारों का दबाव पड़ता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने वैयक्तिक विचारों को प्रश्रय देता है। अतः कर्मयोगी में इन बाह्य विचारों का प्रतिरोध करने के लिए अपरिमित शक्ति होनी चाहिए। उसमें साहस होना चाहिए, धैर्य तथा अध्यवसाय होने चाहिए। यदि वह बीस बार भी असफल हो जाये तब भी उसे दृढ़ निश्चय, जौंक-सुलभ लगिष्णुता, गर्दभीय धैर्य तथा अटल सङ्कल्प-शक्ति के साथ अपने काम में टिके रहना चाहिए। तभी वह अन्त में वास्तविक सफलता प्राप्त करेगा। वह युद्धक्षेत्र से आध्यात्मिक विजय-श्री के साथ, आत्म-विजय, आत्म-स्वराज्य बाहर लायेगा।

स्वास्थ्य के नियमों का कड़ाई के साथ पालन करने, पौष्टिक, हलका, तत्त्वपूर्ण, सुपाच्य, पोषक, मृदु अर्थात् सात्त्विक आहार लेने, शुद्ध वायु सेवन करने, नियमित शारीरिक व्यायाम का अभ्यास करने, शीतल जल में प्रतिदिन स्नान करने, खान-पान में मितता बरतने से शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है तथा उसे बनाये रखा जा सकता है। जप, ध्यान, ब्रह्मचर्य, यम-नियम के अभ्यास, सच्चरित्र, सद्विचार, सद्भाव, सद्भाषण, सत्कर्म, आत्मविचार, विचार-परिवर्तन, मन से सौम्य विचारों का चिन्तन, मनोरञ्जन, मुदिता के अभ्यास आदि के द्वारा मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त किया जा सकता है तथा बनाये रखा जा सकता है।

६. सिद्धियाँ

तिब्बती योगी एक या दो दिन तक निष्प्राण पड़ा रह कर पुनः जीवित हो सकता है। वह मोटे हिम में नङ्गे बैठ सकता है और अपने को विशेष कम्पन-श्वसन द्वारा गरम रख सकता है। वह एक कम्बल पर पालथी मार कर बैठ जाता है और फिर किसी प्रकट आलम्बन के कई फीट ऊपर उठ सकता है। वह बिना किसी हानि के घातक विष पान कर सकता है। वह पुरुषों तथा महिलाओं पर सम्मोहक प्रभाव डाल

सकता है। वह स्वाभाविक आयु से अधिक वर्षों तक जीवित रह सकता है। कहा जाता है कि रास्पुतिन, जिसे मारने में रूसी अभिजात-वर्ग के लोग कई बार असफल रहे, एक योगी था। इतिहास इसी भाँति के अन्य आश्चर्यजनक लोगों के विषय में बतलाता है। उपर्युक्त तथ्य का सभी देशों के अनेक प्रसिद्ध साक्षियों ने साक्ष्य दिया। किन्तु योगी इससे भी अधिक विलक्षण शक्तियों का दावा करते हैं।

विश्वसनीय यात्री बतलाते हैं कि उन्होंने तिब्बत में कुशल योगियों को शवों को अस्थायी रूप से जीवित करते हुए देखा है। यह प्रक्रिया बहुत ही भीषण है। मृत्यु की प्रथम रात्रि को शरीर (शव) को कब्रिस्तान ले जाया जाता है। योगी अर्द्ध-रात्रि को उसके मुख में कुचले हुए गेहूँ के कुछ दाने रखता है, एक गुप्त मन्त्र उच्चारण करता है, उसके मुख में अपनी श्वास छोड़ता है और उसे हाथ पकड़ कर ऊपर उठाता है। कहा जाता है कि (शव) भूमि से उठता है और अत्यधिक शारीरिक शक्ति प्रदर्शित करते हुए कुछ काल तक नृत्य करता है। यदि इन क्षणों में उसे पकड़ कर तथा पुनः मृत्यु के हाथों में उसे देने वाले मन्त्रों का उसके मुख में उच्चारण कर उसे निश्चेष्ट नहीं बना देता तो पुनर्जीवित आत्मा उतने वर्षों तक इस भूलोक में भटकती रहेगी जितने क्षण उसके इस असाधु पुनरुज्जीवन के असमाप्त रह गये हैं। इन वर्षों में वह नरपिशाच का माध्यम बनता है और अनिष्ट करता और दुःख देता फिरता है।

रहस्य जानने की स्थिति के कुछ अपवादों के अतिरिक्त योगी कभी भी इस प्रकार शवों को जीवित नहीं करता और विधि का यह विधान है कि वह रहस्य ऐसा हो जिससे जीवित लोगों को आध्यात्मिक रूप से कुछ लाभ पहुँचता हो। यह 'प्रेत-विद्या' कहलाती है।

योगी मूर्च्छा की-सी ऐसी दशा उत्पन्न कर सकते हैं जो मृत्यु से अविभेद्य होती है। शरीर ठण्ढा और कठोर हो जाता है, उस पर चोट भी पहुँचायी जा सकती है। योगी इस कला का अभ्यास दो कारणों से करते हैं। एक तो यह कि उनका दावा है कि शरीर की निश्चेष्टावस्था में वे सारी दूरी को मिटा कर अपनी आत्मा तो कुछ ही क्षणों में कहीं भी भेज सकते हैं। आत्मा ठोस रुकावटों को पार कर जाती है और जो देखती है, उसे योगी जाग्रत होने पर स्मरण रखता है। दूसरा कारण यह है कि मूर्च्छा-काल में शरीर ऐसा पूर्ण विश्राम लेता है मानो उसे जीवन-कूप में स्नान कराया जा रहा हो। इस भाँति वृद्धावस्था स्थायी रूप से टाल दी जाती है। योगियों का दावा है कि इस प्रकार की आवर्ती मूर्च्छाओं से, जिसमें आयु का व्यय तथा क्षरण की पूर्ति हो जाती है, वे कई सौ वर्षों तक जीवित रहते हैं और सदा सबल तथा स्वस्थ बने रहते हैं। किन्तु योगियों को अभी तक शाश्वत जीवन के रहस्य का पता नहीं चल पाया है।

यदि डाक्टर योगियों के रहस्यों का पता लगा लें तो सम्पूर्ण पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान की कायापलट हो सकती है; क्योंकि सर्वाधिक अविश्वासी लोग भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि योगियों को कुछ ऐसी बातों का ज्ञान है जिससे वे आश्चर्यजनक शारीरिक कार्य कर सकते हैं।

मन्त्रयोगी अग्नि को शीतल बनाने वाले कुछ मन्त्रों का उच्चारण कर बिना किसी हानि के अग्नि पर चल सकता है। वह वाष्पित्र को ठण्ढा करके ट्रेन को रोक सकता है। वह उबलते हुए तेल में अपनी उँगलियाँ डाल सकता है। कुछ वर्षों तक नीम के पत्ते खाने से कोई भी व्यक्ति सर्प, बिच्छू आदि के दंश से निरापद रह सकता है। यदि आप छः या बारह वर्षों तक नमक का सेवन न करें तो सर्प अथवा बिच्छू के दंश का आप पर कुछ भी प्रभाव नहीं होगा। एक मन्त्रयोगी अपने को विषैले साँप को काटने दे सकता है और फिर भी वह जीवित रह सकता है। योगी के नेत्रों पर तौलिए की पट्टी बँधी रहने पर भी वह पुस्तक पढ़ सकता है। वह ८० पौण्ड का भारी पत्थर अपनी पलकों में बाँध कर उठा सकता है। योगी अपने रोग को तकिये या कपाटों को स्थानान्तरित कर सकता है। श्री शङ्कर तथा रामदास ने अपने ज्वर को तकिये को स्थानान्तरित कर दिया था। तकिया काँप रहा था। तिब्बत के योगी मिलेरेपा ने अपनी व्याधि को एक कपाट को स्थानान्तरित कर दिया। कपाट थरथरा रहा था। योगी जल के ऊपर चल सकता है। वह अदृश्य रह सकता है, सदा नवयुवक बना रह सकता है, साँपों के साथ खेल सकता है, वन्य व्याघ्रों तथा हाथियों को वश में कर सकता है और रीछों तथा शेरों के मुखों को बन्द कर सकता है। वह मृत व्यक्ति को जीवन प्रदान कर सकता है। तुलसीदास तथा हस्तामलक ने इसे किया था। वह एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश (परकाय-प्रवेश) कर सकता है। श्री शङ्कराचार्य तथा तिरुमुलर ने इसे किया था।

योगी अपने सङ्कल्प से अपने हृदय तथा किसी भी धमनी के स्पन्दन को रोक सकता है। वह भूमि के अन्दर कई महीनों तक गड़ा रह सकता है। वह अपने शरीर को बिना किसी रक्त-स्राव के काटने दे सकता है। जिस अङ्ग को काटा जाता है उससे वह प्राण को खींच लेता है। वह अपना हाथ उठा कर प्रकाश विकीर्ण कर सकता है। वह मूक व्यक्ति को वाचाल बना सकता है, अन्धे को नेत्र प्रदान कर सकता है, आकाश में चल सकता है, अनेक शरीर धारण कर सकता है, अनेक रोगों का तत्काल उपचार कर सकता है छः महीनों तक जल के अन्दर रह सकता है तथा इच्छानुसार कोई भी रूप धारण कर सकता है।

साधना द्वारा कोई भी योगी इन सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है। कुछ सिद्धियाँ गुरु से शिष्य को हस्तान्तरित की जाती हैं। सिद्धियों का प्रदर्शन भौतिक लाभ अथवा

स्वार्थ के लिए नहीं करना चाहिए। सिद्धियाँ आत्मसाक्षात्कार में सर्वाधिक बाधक हैं। सांसारिक लोग कुछ सिद्धियाँ प्राप्त करने तथा धन संग्रह करने के लिए हिमालय की ओर भागते हैं और संन्यास लेते हैं। कुछ समय रहने के पश्चात् वे वापस चले जाते हैं। सामान्य लोगों के लिए ये सिद्धियाँ प्राप्त करना सम्भव नहीं है। व्यक्ति को दीर्घ काल तक कठोर साधना करनी पड़ती है। सिद्धियाँ प्राप्त करने के पश्चात् भी उन्हें यश-प्राप्ति अथवा स्वार्थपूर्ण उद्देश्य के लिए प्रदर्शित नहीं करना चाहिए।

सिद्धियों का प्रदर्शन बड़ी सावधानी से करना चाहिए; क्योंकि इसमें प्रत्येक पग पर खतरा है। व्यक्ति को किसी अनुभवी योगी गुरु के अधीन इसकी प्रविधि पर पूर्णतया अधिकार प्राप्त करना चाहिए। सिद्धियों को असावधानीपूर्वक नहीं करना चाहिए।

एक बार एक व्यक्ति ने एक सिद्धि प्राप्त की जिससे वह मन्त्रों के उच्चारण से अपने को किसी भी रूप में रूपान्तरित कर सकता था। उसने जनता को दो प्याला अभिमन्त्रित जल दे कर बङ्गाल में इसे प्रदर्शित किया। उसने दर्शकों से जल की कुछ बूँदें अपने ऊपर छिड़कने के लिए कहा। वह मगर बन गया। दूसरे प्याले के अभिमन्त्रित जल को जो उसे पुनः मानव-रूप में लाने के लिए था, उस पर छिड़कने पर शक्तिहीन पाया गया। इस भाँति वह व्यक्ति तब से मगर ही बना रहा और जनता उसे मार देने को प्रायः सोचती थी।

एक पञ्जाबी साधु ने पशुओं को वशीभूत करने की शक्ति का दावा किया। उसके पास एक पालतू शेर था। वन्य पशुओं को वशवर्ती बनाने की अपनी योग-शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए उसने अपने शेर के साथ सभी राज्यों का भ्रमण किया। उत्तर प्रदेश में उसे एक सर्कस के शेर के सामने खड़ा रहने के लिए कहा गया। शेर उसे दबोच बैठा जिससे उस बेचारे को अपने प्राण से हाथ धोना पड़ा। जिन लोगों में सिद्धियाँ हैं, उन्हें सावधान रहना चाहिए। सिद्धियाँ जनता में प्रदर्शन तथा शालीन जीविकोपार्जन के लिए नहीं हैं।

तिब्बत के एक लामा में दृष्टिनिक्षेप मात्र से मनुष्य को प्रस्तर मूर्ति बना देने की सिद्धि थी। सिद्धियों के पीछे भागते-फिरने वाला एक ब्रह्मचारी तिब्बत गया और उसने वह सिद्धि सीखने के लिए इस योगी को ढूँढ़ निकाला। कदाचित् उसकी इच्छा किसी घर में प्रवेश कर उसमें रहने वाले लोगों को प्रस्तर की मूर्ति बना कर सम्पत्ति हड़प लेने की थी। इस ब्रह्मचारी को देखते ही लामा ने उसे प्रस्तर-मूर्ति में बदल डाला। उस लड़के को कभी इस परिणाम की कल्पना भी न थी। जिन योगियों में योग-शक्ति है, उनके साथ लोगों को बहुत सावधानी से व्यवहार करना चाहिए। योगी दूसरों की आन्तरिक भावनाओं को स्पष्ट रूप से समझ जाते हैं।

७. विशेष शिक्षाएँ

(१) साधक का स्वभाव यदि सामान्य बातों से ही आसानी से क्रुद्ध हो जाने वाला हो तो वह ध्यानयोग में कोई प्रगति नहीं कर सकता। उसको तो मिलनसार, प्रेमल तथा परिस्थिति के अनुरूप बनने वाले स्वभाव का पोषण करना चाहिए। कुछ साधक, जब उनका दुर्गुण तथा त्रुटि उन्हें बता दी जाती है तो वे बड़ी जल्दी अप्रसन्न हो जाते हैं और दोष दिखाने वाले व्यक्ति से रुष्ट हो कर झगड़ने लग जाते हैं। वे सोचते हैं कि इस व्यक्ति ने ईर्ष्या तथा घृणा के कारण उन्हें अपनी ओर से गढ़ लिया है। यह बुरा है। दूसरे व्यक्ति हमारी त्रुटियों का बड़ी सरलता से पता लगा सकते हैं। जो व्यक्ति आत्मनिरीक्षण नहीं करता है तथा जिसकी वृत्ति बहिर्मुखी है, वह अपने दोषों को पहचान नहीं सकता है। अभिमान उसका आवरण बन जाता है और उसकी मानसिक दृष्टि को धुँधला बना देता है। साधक को यदि प्रगति करनी हो तो यदि कोई दूसरा व्यक्ति उसके दोषों को दिखा दे तो उसे चाहिए कि वह उन्हें स्वीकार कर ले, उनके उन्मूलन का यथाशक्य प्रयास करे तथा दोष दिखाने वाले व्यक्ति को धन्यवाद दे। वह तभी अध्यात्म-मार्ग में प्रगति कर सकेगा।

(२) स्वाग्रही प्रकृति का उन्मूलन करना बहुत ही कठिन कार्य है। प्रत्येक व्यक्ति ने अनादि काल से अपने व्यक्तित्व का निर्माण किया है। उसने अपने राजसिक मन को मनमानी करने की पूरी छूट दे रखी है।

(३) व्यक्ति को दूसरों के आचरण तथा प्रकृति के अनुकूल अपने को बनाना बहुत कठिन लगता है। उसका मन जाति, वर्ण तथा सम्प्रदाय के पक्षपात से भरा रहता है। वह नितान्त असहिष्णु होता है। वह सोचता है कि उसका अपना दृष्टिकोण, उसकी अपनी राय और जीवन-पद्धति ही ठीक है और दूसरों के दृष्टिकोण गलत हैं। दोष-दृष्टि की प्रकृति उसमें दृढ़ निविष्ट है। दूसरों की त्रुटियाँ देखने को वह तुरन्त उछल पड़ता है। उसके नेत्र विकृत होते हैं। वह दूसरों के गुण नहीं देख सकता है। वह दूसरों के सत्कार्य पसन्द नहीं कर सकता। अपने ही कार्य तथा योग्यता की डींग मारता रहता है। यही कारण है कि वह प्रत्येक व्यक्ति के साथ झगड़ता रहता है और किसी के साथ अधिक समय तक मित्रता नहीं निभा सकता है। कई साधकों में भी ये त्रुटियाँ पर्याप्त मात्रा में होती हैं; इसी कारण वे भी अपने मार्ग में कोई प्रगति नहीं कर पाते। उन्हें सहिष्णुता, शुद्ध प्रेम तथा अन्य सात्त्विक गुणों के विकास द्वारा इन त्रुटियों का उन्मूलन करना चाहिए।

(४) आपने विद्वान् संन्यासियों के अनेक वाग्मितापूर्ण भाषण सुने होंगे; गीता, रामायण, भागवत तथा उपनिषदों की कथाएँ, प्रवचन तथा व्याख्याएँ सुनी होंगी।

आपने कई बहुत उपयोगी नैतिक तथा आध्यात्मिक उपदेश सुने होंगे; किन्तु आपने उनमें से किसी को भी व्यवहार में लाने का और दीर्घ काल तक साधना करने का कुछ भी गम्भीर प्रयत्न नहीं किया। केवल उन धार्मिक विचारों को बुद्धि से स्वीकार करना, अपने को तथा अपने अन्तर्यामी को धोखा देने के लिए प्रातः-सायं थोड़ी देर आँखें मींच कर बैठना, निरुत्साह तथा असावधानीपूर्वक कुछ नित्यकर्मों को करते रहना, कुछ सद्गुणों के विकास करने का स्वल्प प्रयास करना तथा अपने गुरु के उपदेशों को कार्यान्वित करने का धीमा प्रयत्न—ये पर्याप्त नहीं हैं। इस प्रकार की मनोवृत्ति पूर्णतया छोड़ देनी चाहिए। साधक को अपने गुरु के उपदेशों तथा शास्त्र के वचनों का अक्षरशः पालन करना चाहिए। मन को कुछ भी ढील नहीं देनी चाहिए। अध्यात्म-मार्ग में अर्ध प्रयत्न काम नहीं देता। आप यह नहीं कह सकते, 'बाद में देखा जायेगा। जब मैं निवृत्त होऊँगा, तब अधिक समय दूँगा। कम या अधिक, जितना सम्भव था, उतना मैंने पालन किया।' यह 'कम या अधिक' या 'यथासम्भव' का मामला साधक के लिए अनिष्टकर है। आध्यात्मिक उपदेशों में सामान्य नियमों में अपवाद, छूट या रियायत सम्भव नहीं है। पूर्ण, अन्ध तथा अतिनियमनिष्ठ आज्ञाकारिता की यहाँ अपेक्षा है।

(५) बिना सोचे-समझे कोई टिप्पणी न करें। एक भी निरर्थक शब्द न बोलें। निराधार बातें, लम्बी बातें, ऊँची बातें तथा असंयत बातें करना छोड़ दें। मौन रखें। इस भौतिक प्रातिभासिक जगत् में अपने अधिकार का दावा न करें, उसके लिए लड़ें नहीं। अपने कर्तव्यों की चिन्ता अधिक और अधिकार की चिन्ता कम करें। अधिकार का दावा रजोगुणी अहङ्कार से आता है। ये अधिकार व्यर्थ हैं। यह समय और शक्ति का अपव्यय है। भागवत चेतना के अपने जन्मसिद्ध अधिकार का दावा करें। आप ब्रह्म हैं। इस वास्तविक जन्म-सिद्ध अधिकार का दावा करें। तभी आप बुद्धिमान् हैं।

(६) यदि आप पहुँचे हुए सन्तों की सङ्गति में रहेंगे तो आप उनकी आकर्षक आभा तथा आध्यात्मिक लहरों से अत्यधिक लाभान्वित होंगे। उनकी सङ्गति आपके लिए दुर्ग का काम देगी। आप दुष्प्रभावों से आक्रान्त नहीं होंगे। वहाँ पतन की कोई आशङ्का नहीं है। आप तीव्र आध्यात्मिक प्रगति कर सकेंगे। सन्त के सान्निध्य से साधक की सात्त्विक वृत्तियों की वृद्धि में उल्लेखनीय गति आती है और उसे अपनी सभी प्रसुप्त शक्तियों को उद्घोषित करने और अवाञ्छित दुर्गुणों तथा विविध त्रुटियों का उन्मूलन करने के लिए अधिक बल, ऊर्जा तथा शक्ति प्राप्त होती है। नवयुवक साधकों को अपने गुरु या सन्तों की सङ्गति में तब तक रहना चाहिए जब तक वे अध्यात्म-पथ और गम्भीर ध्यान में दृढ़ता से ढल न जायें अथवा स्थित न हो जायें। इन दिनों अनेक नवयुवक साधक इधर-उधर निरुद्देश्य घूमते-फिरते हैं। वे अपने

गुरुओं अथवा अनुभवी सन्तों के उपदेश नहीं मानते। वे प्रारम्भ से ही स्वतन्त्रता चाहते हैं। इसीलिए वे अध्यात्म में कुछ भी प्रगति नहीं कर पाते। वे समाज के लिए भार बने रहते हैं। उन्होंने अपने को उन्नत नहीं बनाया है। वे दूसरों के लिए भी उपयोगी नहीं होते। वे सामान्य रूप में स्वेच्छाचारी सज्जन हैं।

(७) आध्यात्मिक मार्ग में थोड़ी-सी सफलता मिलते ही, थोड़ी-सी मानसिक शान्ति, थोड़ी-सी एकाग्रता, किसी देवदूत के दर्शन अथवा सिद्धि, पर-विचार-ज्ञान की थोड़ी शक्ति आदि प्राप्त होते ही सन्तोष न कर बैठें। और भी कई शिखर आरोहण करने को, कई क्षेत्र पार करने को अभी शेष हैं। आध्यात्मिक साधना जारी रखें।

(८) सेवा के लिए पूर्ण समर्पित जीवन जियें। अपने हृदय में सेवा के लिए उत्कण्ठा तथा उत्साह भरें। दूसरों के लिए वरदान-स्वरूप हो कर जियें। इसके लिए आपको अपना मन परिष्कृत करना होगा, अपना चरित्र चमकाना होगा, अपना चरित्र ढालना अथवा निर्माण करना होगा तथा सहानुभूति, स्नेह, परोपकारिता, धैर्य और नम्रता का विकास करना होगा। दूसरों के विचार यदि आपसे भिन्न हों तो उनसे झगड़ें नहीं। मन कई प्रकार के होते हैं। विचार-सरणी भी विविध प्रकार की होती हैं। प्रामाणिक मतभेद हुआ करते हैं। प्रत्येक की अपनी-अपनी राय हुआ करती है और सब अपने दृष्टिकोण से सही हैं। उनकी दृष्टि के साथ मेल साधें। उनकी राय को भी सहानुभूति और ध्यान से सुनें और उसे भी स्थान दें। अपने अहङ्कार के सङ्कीर्ण वृत्त को छोड़ कर बाहर आयें और विशाल दृष्टि अपनायें। उदार दृष्टि से काम लें। सबके दृष्टिकोण को स्थान दें, तभी अपने को विशाल बना सकेंगे और हृदय को विकसित कर सकेंगे। मृदुता, मधुरता और शिष्टता के साथ बात करें। कम बोलें। अवाञ्छित विचारों और भावनाओं को दूर करें। गर्व और उत्तेजना का लेशमात्र भी न रहने दें। अपने को पूर्णतया भूल जायें। वैयक्तिक तत्त्व या भावना की रत्ती-भर छाप न रहने दें। सेवा के लिए पूर्ण समर्पण आवश्यक है। यदि आप उपर्युक्त गुणों से सन्नध हों तो सामान्य रूप से जगत् के प्रकाश-स्तम्भ तथा दुर्लभ वरदान हैं। निश्चित ही आप ऐसा रमणीय पुष्प हैं जिसकी सुरभि इस समूचे विश्व में सर्वत्र प्रवेश कर जायेगी और छा जायेगी।

(९) समाज-सेवा करते समय सजग रहें। किसी प्रकार की निस्स्वार्थ सेवा हो, चाहे वह सभा-मञ्च पर भाषण करना हो अथवा किसी प्रकार की जन-प्रवृत्ति हो, उससे आपको नाम और यश दोनों ही प्राप्त होंगे। यह नाम तथा यश मञ्जरी या पौधे में लगे कीट की भाँति आपको नष्ट कर देंगे। नाम और यश को विष समझें। बहुत ही विनम्र बनें। यह गुण आपके हृदय में, प्रत्येक कोशाणु में, प्रत्येक नस-नस में तथा शरीर के कण-कण में अधिश्लिष्ट हो जाना चाहिए। इस नाम और यश-रूपी प्रबल नशे का

शिकार बन कर कई लोगों का पतन हो गया, उनकी प्रगति रुक गयी। इसलिए मैं गम्भीरतापूर्वक आपको सावधान कर रहा हूँ।

(१०) आपको विवेक, दूरदृष्टि, सावधानी तथा दक्षता के गुणों का उल्लेखनीय अंश तक विकास करना चाहिए जिससे की किङ्कर्तव्यता की स्थिति में ठीक कार्य-प्रणाली अपनाने का निर्णय ले सकें। ये गुण हों तभी आपको क्रान्तिक घड़ी में अथवा ठीक समय पर ठीक उपाय सूझेगा—जब चाहिए तभी, उससे घण्टे-भर बाद नहीं। आपको बाद में किसी प्रकार का पश्चात्ताप नहीं करना पड़ेगा।

(११) शान्त तथा शुद्ध चित्त का प्राप्त होना बहुत कठिन है; किन्तु यदि आप ध्यान में प्रगति करना चाहते हैं और यदि आप निष्काम कर्मयोग करना चाहते हैं तो आपको उपर्युक्त प्रकार का मन रखना ही होगा। तब आपके अधिकार में एक निर्दोष साधन, एक सुनियन्त्रित मन होगा। यह साधकों के लिए अत्यन्त आवश्यक अर्हता है। इसको प्राप्त करने के लिए आपको धैर्य तथा अध्यवसाय के साथ सुदीर्घ काल तक सङ्घर्ष करना होगा। लौह सङ्कल्प तथा दृढ़ निश्चय वाले साधक के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है।

(१२) आत्मनिरीक्षण करें। अन्तरावलोकन करें। अपने दोषों को दूर करने का प्रयास करें। यही वास्तविक साधना है और सर्वाधिक कठिन साधना है। यह साधना करनी ही चाहिए, चाहे इसके लिए जो भी मूल्य चुकाना पड़े। बौद्धिक प्रगति कोई प्रगति नहीं है। यह अपेक्षाकृत सरल है। एक शब्दकोष साथ में ले कर कुछ पुस्तकें नियमित रूप से कुछ काल तक पढ़ें। आपकी बुद्धि विकसित हो जायेगी। किन्तु पूर्वोक्त साधना के लिए कई वर्ष तक कठोर सङ्घर्ष करने की आवश्यकता है। कई पुरानी बुरी आदतों को मिटाना होगा। कई महामण्डलेश्वर तथा मठाधिपति हैं जो गीता या उपनिषद् के श्लोक पर सप्ताह-भर तक व्याख्यान दे सकते हैं। उनका सम्मान होता है; परन्तु चूँकि उनके अन्दर कई बड़े दोष हैं, अतः लोग उन्हें पसन्द नहीं करते। उन्होंने अधिक आत्मनिरीक्षण नहीं किया है। उन्होंने अपने दोषों को दूर करने के लिए कोई कठोर साधना नहीं की है। उन्होंने केवल अपनी बुद्धि का विकास किया है। कितनी दयनीय स्थिति है!

(१३) यह संसार विषय-वासना और अहङ्कार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अहङ्कार ही प्रमुख वस्तु है। यही आधार है। विषय-वासना तो अहङ्कार पर ही आश्रित है। यदि विचार अथवा 'मैं कौन हूँ' के अनुसन्धान द्वारा अहङ्कार को नष्ट कर दिया जाये तो विषय-वासना स्वयं ही भाग खड़ी होगी। मनुष्य, जो अपना भाग्यविधाता है, अपनी दिव्य महिमा को खो चुका है तथा अज्ञानवश विषय-वासना और अहङ्कार का दास बन बैठा है। वासना और अहंकार दोनों अविद्या की उपज हैं। आत्मा के ये

दोनों शत्रु, ये दोनों दस्यु जो असहाय, अज्ञ क्षुद्र जीव को लूट रहे हैं, आत्मज्ञान के उदय होते ही नष्ट हो जाते हैं।

(१४) ब्रह्मचर्य की साधना निरापद है। इसमें कोई रोग या अनिष्ट की आशङ्का नहीं है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों की मान्यता है कि ब्रह्मचर्य-पालन से कई प्रकार की उलझनें पैदा होती हैं, किन्तु ऐसी कोई बात नहीं है। उन्हें इस विषय का व्यावहारिक ज्ञान नहीं है। वे केवल भ्रान्तिपूर्ण कल्पनाओं के आधार पर यह मान बैठे हैं कि वासना-पूर्ति न की गयी तो स्पर्श-भीति जैसी कई प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसी विकृतियों के कारण कुछ और ही होते हैं। यह चित्त-विकार के कारण होता है जो अत्यन्त ईर्ष्या, घृणा, क्रोध, चिन्ता तथा विभिन्न कारणों से होने वाले विषाद से होता है।

(१५) यद्यपि इस संसार में विविध प्रकार के प्रलोभन तथा चित्तविक्षेप हैं, तथापि इस संसार में रहते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करना सर्वथा सम्भव है। प्राचीन काल में कइयों ने इसमें सफलता प्राप्त की है। इस समय भी कई लोग हैं। सुअनुशासित जीवन, धार्मिक ग्रन्थों का स्वाध्याय, सत्सङ्ग, जप, ध्यान, प्राणायाम, सात्त्विक तथा मिताहार, दैनिक आत्मनिरीक्षण तथा मनन, आत्मविश्लेषण तथा आत्मसंशोधन, सदाचार, यम-नियम का अभ्यास—ये सब ब्रह्मचर्य-पालन का मार्ग प्रशस्त करते हैं। लोग अनियमित, अनैतिक, अमर्यादित, अधार्मिक तथा अनुशासनहीन जीवन व्यतीत करते हैं; इसलिए वे कष्ट झेलते तथा जीवन का लक्ष्य का प्राप्त करने में असफल रहते हैं। जिस प्रकार हाथी अपने ही शिर पर धूल उछालता है ठीक उसी प्रकार सांसारिक व्यक्ति अपनी मूर्खता के कारण कष्ट और बाधाओं को बुला कर अपने गले में बाँधता है।

(१६) वर्णाश्रम तो आज समाप्तप्राय हो चला है। प्रत्येक व्यक्ति आज बनियाँ बन गया है और भिक्षा, ऋण, चोरी अथवा ठगी के द्वारा किसी तरह भी अपनी तिजोरी भरने को लालायित है। प्रायः सारे ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वैश्य बन चले हैं। आजकल सच्चे ब्राह्मण और छत्रिय मिलते ही नहीं। सबको येन केन प्रकारेण पैसा चाहिए। वे अपने-अपने आश्रम-धर्म का पालन नहीं करते। यही मनुष्य के पतन का मूलभूत कारण है। यदि गृहस्थ अपने आश्रम-धर्म का नियम-निष्ठा के साथ पालन करे, यदि वह आदर्श गृहस्थ बने तो उसे संन्यास लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। इन दिनों संन्यासियों की संख्या में जो बाढ़-सी आ रही है, इसका एक कारण यह भी है कि गृहस्थ अपने कर्तव्य के पालन में विफल हो रहे हैं। एक आदर्श गृहस्थ का जीवन आदर्श संन्यासी के जीवन जितना ही दुःसाध्य और कठोर है। प्रवृत्ति-मार्ग अथवा

कर्मयोग का मार्ग उतना ही दुःसाध्य तथा कठोर है जितना कि निवृत्ति-मार्ग या संन्यास-मार्ग है।

(१७) कुछ ऐसे लोग हैं जो कई दिन निरर्थक बातों तथा ताश और शतरञ्ज खेलने में नष्ट कर डालते हैं। कुछ ऐसे लोग हैं जो मद्यपान तथा गपशप में कई सप्ताह गँवा देते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो वेश्याओं की सङ्गति, द्यूतक्रीड़ा तथा विविध व्यभिचारी कार्यों में अपव्यय करते हैं।

(१८) मनुष्य इस संसार में किसी निश्चित उद्देश्य से आया है। जीवन का अर्थ खाना, पीना, वस्त्र पहनना और सन्तान उत्पन्न करना ही नहीं है। उसके पीछे कुछ भव्य उदात्त वस्तु है। इस जीवन से परे आनन्द का शाश्वत जीवन है। जीवन के इस लक्ष्य के प्राप्त्यर्थ प्रत्येक क्षण का उपयोग करना चाहिए। समय अतीव मूल्यवान् है। यह कभी वापस नहीं आ सकता है। यह अत्यधिक गति से व्यतीत होता जा रहा है। जब घड़ी घण्टा बजाती है तो स्मरण रखें कि आपकी जीवनावधि से एक घण्टा घट गया। आपको भय से कम्पित हो कर कहना चाहिए : "मृत्यु निकट आती जा रही है। मैं अपना समय नष्ट कर रहा हूँ। मैं अपने जीवन-लक्ष्य को कब प्राप्त करूँगा? मैं भगवद्दर्शन कब करूँगा? मैं प्रभु से कब मिलूँगा? मैं इस संसार-चक्र से अपने को कब उन्मुक्त करूँगा?"

(१९) वैराग्य तथा संन्यास केवल मानसिक अवस्थाएँ हैं। संसार में रहते हुए संसार से बाहर रहना ही संन्यास की सच्ची कसौटी है। सच्चा संन्यास मन में है। सच्चा संन्यास एक मानसिक अवस्था है। व्यक्ति अपनी पत्नी, सम्पत्ति, सन्तति और पद का त्याग कर सकता है, तथापि हो सकता है कि वह संन्यासी न हो; क्योंकि वह अपने मन तथा हृदय से उनसे आसक्त हो सकता है।

(२०) गृध्र आकाश में ऊँची उड़ानें भरता है, किन्तु उसका मन पशुओं के मृत शरीर पर ही केन्द्रित रहता है। मक्खी मिष्टान्न तथा विष्ठा दोनों पर ही बैठती है। इसी तरह अनेक लोग ऐसे हैं जो दर्शनशास्त्र की ऊँची-ऊँची बातें करते हैं, पर उनका हृदय वैषयिक भोगों से ही चिपका रहता है। उनका मन काम-वासना तथा विविध प्रकार की तृष्णाओं से सन्तृप्त रहता है।

(२१) बहुसंख्यक लोगों का, यहाँ तक कि शिक्षित कहे जाने वाले व्यक्ति का भी, जीवन में कोई निश्चित लक्ष्य नहीं होता। फल यह होता है कि लोग इधर-उधर वैसे ही मारे-मारे फिरते हैं, जैसे समुद्र में एक लकड़ी का कुन्दा चपल लहरों के साथ निरवलम्ब इधर-उधर भटकता है। आज के जन-समुदाय को अपने कर्तव्य का यथार्थ ज्ञान नहीं है। बहुत से विद्यार्थी अपना बी॰ ए॰ तथा एम॰ ए॰ का अध्ययन समाप्त कर

लेते हैं; पर आगे क्या करना है, इसका उन्हें पता नहीं रहता है। अपनी प्रकृति के अनुसार किसी अच्छे उद्यम को चुनने की शक्ति उनमें नहीं है जिससे उन्हें जीवन में अभ्युदय तथा सफलता की प्राप्ति हो। अतः वे आलसी बन जाते हैं तथा साहस के कार्य या किसी कार्य को; जिसमें कुशलता, चातुर्य और कुशाग्र बुद्धि की आवश्यकता है; करने के अयोग्य सिद्ध होते हैं।

(२२) इस भाँति उनका समय नष्ट होता है और सारा जीवन उदासी, निराशा और दुःख में बीत जाता है। उनके पास शक्ति है, बुद्धि भी है; पर कोई निश्चित लक्ष्य या ध्येय नहीं, कोई आदर्श नहीं और न जीवन का कोई कार्यक्रम ही है। अतः उनका जीवन असफलता का प्रतीक बन जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को प्रथमतः अपने जीवन के लक्ष्य का उचित ज्ञान होना चाहिए। उसके पश्चात् कार्य करने का एक ऐसा ढङ्ग निकालना चाहिए, जो अपने ध्येय की सफलता के अनुकूल हो। फिर लक्ष्य तक पहुँचने के लिए कठोर श्रम भी अवश्य करना चाहिए। इसके साथ ही व्यक्ति का अपना आदर्श भी निश्चित होना चाहिए और जीवन के हर क्षण उसी आदर्श के अनुसार कर्म करना चाहिए। लड़खड़ाते पग से चल कर दश वर्ष बाद या अभी तथा इसी क्षण आप अपने आदर्श को साकार कर सकते हैं। यह कोई महत्त्व की बात नहीं है; किन्तु अपना एक आदर्श और एक ध्येय अवश्य होना चाहिए।

(२३) जब व्यक्ति ने अपने गृहस्थ-आश्रम के कर्तव्यों को सफलतापूर्वक निबाह लिया है, जब उसके सभी लड़के जीविका में लग चुके हैं, जब उसकी लड़कियों का विवाह भी हो चुका है तब उसे अपने जीवन के अवशेष भाग को आध्यात्मिक प्रवृत्ति, धार्मिक पुस्तकों के स्वाध्याय और भगवच्चिन्तन में व्यतीत करना चाहिए; पर ऐसा होता ही कहाँ है? बहुत से लोगों को तो इसका विचार तक नहीं आता कि वे क्या करने जा रहे हैं। प्रथम नौकरी से अवकाश मिलते ही वे दूसरी नौकरी पकड़ लेते हैं। उनमें लालच यथावत् वर्तमान रहता है। वे जीवन के अन्तिम क्षणों तक रुपयों को ही गिनते रहते हैं, पौत्रों और प्रपोत्रों के विषय में ही सोचते रहते हैं। ऐसे लोगों के भाग्य को क्या कहा जाये? वे सचमुच दयनीय हैं। भाग्यशाली है वह, जो चाकरी से अवकाश पाते ही अपना सारा समय एकान्त में स्वाध्याय तथा ध्यान में व्यतीत करता है।

(२४) कुछ लोगों की, जिनमें तर्क-शक्ति विकसित होती है, अनावश्यक वादविवाद तथा परिचर्चा में उलझने की आदत हो जाती है। उनमें तर्कबुद्धि होती है। वे एक क्षण भी चुप नहीं रह सकते हैं। वे उत्तेजनापूर्ण विवाद की स्थिति खड़ी कर देते हैं। अत्यधिक विवाद की परिसमाप्ति शत्रुता तथा विद्वेष में होती है। निरर्थक वादविवाद में शक्ति का अत्यधिक अपव्यय होता है। बुद्धि का यदि आत्मविचार की

सम्यक् दिशा में उपयोग किया जाये तो यह सहायक होती है; किन्तु यदि इसका उपयोग अनावश्यक वादविवाद में किया जाये तो यह बाधक होती है। बुद्धि साधक को अन्तर्ज्ञान की देहली तक पहुँचा देती है। इससे आगे वह कुछ भी नहीं करती। तर्क भगवान् के अस्तित्व का अनुमान लगाने तथा भगवत्साक्षात्कार के लिए उपर्युक्त विधि खोज निकालने में सहायक होता है। अन्तर्ज्ञान तर्क का अतिक्रमण करता है; किन्तु उसका खण्डन नहीं करता है। अन्तर्ज्ञान सत्य का अपरोक्ष दर्शन है। यहाँ तर्क की पहुँच नहीं है। तर्क का सम्बन्ध भौतिक जगत् के विषयों तक ही है। जहाँ 'क्यों' तथा 'किस कारण से' है, वहाँ तर्क है। तर्क के परे अनुभवातीत विषयों में तर्क उपयोगी नहीं होता है।

(२५) किसी काम में बारम्बार विफलता आये तो भी किञ्चित् निराश नहीं होना चाहिए। विफलताओं से पाठ ही मिलता है। इससे आप विफलता के कारण को जान जायेंगे और भविष्य में उनकी पुनरावृत्ति न करने में सावधान रहेंगे। आपको सावधानीपूर्वक अपनी रक्षा करनी चाहिए। आपकी दुर्बलताओं में ही आपकी शक्ति का रहस्य छिपा हुआ है। बारम्बार की असफलताओं के होते हुए भी आपको अपने सिद्धान्तों, आदर्शों, मान्यताओं और साधना में दृढ़ता के साथ संलग्न रहना चाहिए और साहस के साथ आध्यात्मिक पथ पर आगे बढ़ते जाना चाहिए। कहना चाहिए : "कुछ भी हो, मैं निश्चय ही विजयी हो कर निकलूँगा। इसी जन्म में; नहीं-नहीं इसी क्षण मैं आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करके रहूँगा। असफलता, फिसलन अथवा तपन किसी भी तरह मुझे परास्त नहीं कर सकेंगे।"

(२६) बुद्धि चिन्तन तथा तर्क में बहुत सहायता करती है; किन्तु जिन लोगों में तर्क-शक्ति अत्यधिक विकसित होती है, वे संशयी हो जाते हैं। उनकी तर्क-शक्ति भी विकृत हो जाती है। उनमें वेदों और महात्माओं के उपदेशों में विश्वास नहीं रह जाता है। वे कहते हैं : "हम बुद्धिवादी हैं। हम किसी भी ऐसी बात पर विश्वास नहीं कर सकते जो हमारे विवेक को अच्छी न लगे। हमें उपनिषदों में विश्वास नहीं है। जो बात विवेक के क्षेत्र से बाहर है, उसे हम स्वीकार नहीं करते। हमें भगवान् और सद्गुरुओं में श्रद्धा नहीं है।" ये तथाकथित बुद्धिवादी एक प्रकार के नास्तिक ही हैं। उन्हें विश्वास दिलाना बहुत ही कठिन है। उनमें अशुद्ध तथा विकृत तर्क-शक्ति होती है। भगवद्विचार उनके मस्तिष्क में प्रवेश नहीं कर पाते। वे किसी प्रकार की आध्यात्मिक साधना नहीं कर सकते हैं। वे कहते हैं : "आप अपने औपनिषदिक ब्रह्म अथवा भक्तों के ईश्वर को दिखाइए।" संशयात्मा विनष्ट हो जायेंगे। तर्क एक सीमित साधन है। यह जीवन की अनेक रहस्यमयी समस्याओं का स्पष्टीकरण नहीं दे सकता है। जो

व्यक्ति तथाकथित बुद्धिवाद तथा संशयवाद से मुक्त हैं वे ही भगवत्साक्षात्कार के मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं।

(२७) मैं सदा आपकी सहायता को उद्यत हूँ। आपसे मेरी सदा सहानुभूति है। मैं आपकी ओर सुख, शान्ति और प्रेम की विचार-तरंगें प्रेषित कर रहा हूँ। मैं आपको प्रोत्साहित करूँगा, किन्तु आपका काम मैं नहीं कर सकूँगा। आपको ही अपना काम करना होगा। सङ्घर्ष और पुरुषार्थ आपकी ओर से ही होना चाहिए। आध्यात्मिक निश्रयणी पर एक-एक पग आपको स्वयं चढ़ना होगा। इस बात को सदा स्मरण रखें।

(२८) हे सौम्य ! प्रिय अमर आत्मन् ! साहसी रहें। भले ही आप बेरोजगार हों, खाने को न मिले, चिथड़ों में लिपटे हों, फिर भी प्रसन्न रहें। आपका मूल स्वरूप सत्-चित्-आनन्द है। यह बाहरी ढाँचा, भौतिक अनित्य आवरण भ्रम है, माया की सृष्टि है। सुख और सन्तोष के साथ हँसते रहें, सीटी बजाते हुए उछलें-कूदें। ॐ, ॐ, राम, राम—यही गाया करें। मांस-पिण्ड के इस बन्धन से बाहर निकलें। आप यह नश्वर शरीर नहीं हैं। आप अमर आत्मा हैं। आप न स्त्री हैं न पुरुष। आप आत्मा हैं जो आपकी हृदय-गुहा में निवास करता है। ऐसा अनुभव करें, ऐसा ही व्यवहार करें, अपने जन्मसिद्ध अधिकार का दावा करें—कल नहीं, परसों नहीं, वरन् अभी और इसी क्षण। हे प्रिय राम ! "**तत्त्वमसि**—तू वही है।" अनुभव करें, बल दे कर कहें, स्वीकार करें, साक्षात्कार करें।

तृतीय परिशिष्ट

महान् सन्तों का जीवन

१. शङ्कराचार्य और उनका शिष्य

(तृष्णा बढ़ती जाती है)

श्री शङ्कराचार्य ने अपने शिष्य गोविन्द को आबू पर्वत पर रख छोड़ा था। उसे सारी सूचनाएँ दे कर स्वयं वाराणसी चले गये। गोविन्द को वैराग्य और साधुपने की सारी बातें सुविदित थीं। एक छोटी-सी झोपड़ी में वह साधारण जीवन व्यतीत करने लगा। एक दिन चूहे ने उसकी लङ्गोटी काट-काट कर उसके चिथड़े बना दिये। उसने गाँव वालों से एक लङ्गोटी माँगी। उन्होंने दे दी। उसे भी चूहों ने काट दिया। फिर उसने लोगों से दूसरी लङ्गोटी माँगी। उन्होंने दे दी। उसे भी चूहों के काट दिया। जब फिर गोविन्द ने लङ्गोटी के लिए कहा तो उन्होंने सुझाया कि 'रोज-रोज लङ्गोटी देते जाना बड़ा मुश्किल है। इसलिए यह बिल्ली आप अपनी कुटिया में रख लीजिए।' गोविन्द ने बिल्ली ले ली। भिक्षा के लिए जब वह जाता, तब अपनी बिल्ली के लिए थोड़ा दूध माँगने लगा। लोगों ने दिया। रोज-रोज वह दूध माँगता था। आखिर लोगों ने कहा—"गोविन्द जी, यह भी मुश्किल है। आप एक गाय रख लीजिए; रोज दूध माँगना न पड़ेगा।" गोविन्द ने गाय पाल ली। गाँव में जाने पर गाय के लिए वह घास माँगता। गाँव वालों ने सुझाया—"गोविन्द जी, यह हमारे लिए बड़ा कठिन है। एक काम कीजिए। आपको जमीन का एक टुकड़ा हम दे देंगे। आप जोत लीजिए, उसमें अनाज, साग-सब्जी और भरपूर घास पैदा कर लीजिए।" गोविन्द को जमीन मिल गयी। फिर गोविन्द ने खेत जोतने और खाद डालने के लिए लोगों से मजदूरों की माँग की। कुछ मजदूर भी मिल गये। फिर उसे लम्बी-चौड़ी बाड़ लगानी पड़ी, गोदाम बनाना पड़ा, एक केन्द्रित बङ्गला बनाना पड़ा, गाय-बैलों के लिए गौशाला बनानी पड़ी, नौकरों के लिए कमरे बनाने पड़े, दो कुएँ भी बनाने पड़े। उसने सब-कुछ किया। उसे बढ़ियाँ दूध मिलने लगा, वह बासमती चावल खाने लगा और उसका शरीर सुन्दर बन गया। गुरु के सारे उपदेश वह भूल गया; त्याग, वैराग्य, जप, ध्यान, मिताहार सब धरे रह गये। वह हरिद्वार की हर की पौड़ी का-सा खीर-पूरी का जीवन व्यतीत करने लगा।

कुछ दिनों बाद वाराणसी से गुरु शङ्कराचार्य लौटे। वे गोविन्द की झोपड़ी को नहीं पहचान सके। गोविन्द वह ब्रह्मचारी नहीं था जो भिक्षा पर जीता था, दुबला-पतला था। शङ्कराचार्य ने देखा कि गोविन्द की तोंद पर काफी चर्बी चढ़ी हुई थी जो चान्द्रायण, कृच्छ्र, उड्डीयान, नौलि और पश्चिमोत्तानासन के बिना गल नहीं सकती थी। गोविन्द ने गुरु को प्रणाम किया और बोला—"गुरु जी, यह सब एक लङ्गोटी के लिए है।" सारी कहानी उसने विस्तारपूर्वक कह सुनायी। चूँकि वह अभी छोटा था, इसलिए शङ्कराचार्य ने उसे क्षमा कर दिया और सचेत कर दिया कि आगे से वह सावधान रहे तथा मन के सारे संकल्पों और तृष्णा से बच कर रहे; क्योंकि वे ही समस्त दुःख, कष्ट, यातना, भ्रम तथा जन्म और मरण के कारण हैं।

याद रखिए कि किस प्रकार एक कौपीन की तृष्णा बिल्ली, दूध, गाय, घास, अनाज, घर आदि अनेक तृष्णाओं के रूप में बढ़ती गयी। यही माया है। माया मनुष्य की दुर्बलताओं और छिद्रों से विनाश करती है। एक तृष्णा दश गुनी, सौ गुनी, हजार, लाख, करोड़ गुनी बढ़ती जाती है। 'वह अग्नि के समान कभी तृप्त न होने वाली है'—ये गीता के शब्द हैं। छोटी-सी एक कामना हजारों कामनाओं के रूप में पनप जाती है। छोटा-सा एक विचार हजारों विचारों के रूप में पनपता है। उन्हें मिटाओ। अंकुर में ही उन्हें नष्ट कर दो। तब आप योगारूढ़ स्थिति में पहुँचेंगे।" **सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते**—योगारूढ़ तब कहा जाता है जब समस्त संकल्पों का त्याग कर देता है।" यदि कोई कामना आवश्यक प्रतीत हो और प्रारम्भ में बहुत सरल भी लगे तो भी उसे आपको प्रकट नहीं होने देना चाहिए।

२. एकनाथ

(क्रोध पर नियन्त्रण)

एकनाथ महाराष्ट्र में एक सुप्रसिद्ध सन्त हुए हैं। उनका लिखा 'भागवत' महाराष्ट्र के घर-घर में मिलेगा। वह बड़ा ही उत्कृष्ट ग्रन्थ है। उनकी नैष्ठिक भक्ति को देखिए। साक्षात् श्रीकृष्ण एक ब्राह्मण किशोर श्री खण्ड्या का रूप धारण कर एकनाथ महाराज के घर में बारह वर्ष रहे और पूजा के लिए चन्दन घिस देना, पानी ला देना, भोजनोपरान्त पत्तलें हटा देना आदि सेवा-कार्य करते रहे। बारह वर्ष के बाद श्री खण्ड्या एक दिन रहस्यमय ढङ्ग से तिरोहित हो गये।

ये सन्त सर्वदा बड़े शान्त, सरल, निर्द्वन्द्व और समाधिपूर्ण थे। उनके चेहरे पर कभी क्रोध का चिह्न तक न आता था। पैठण हैदराबाद का एक गाँव है। एकनाथ महाराज वहीं रहते थे। वहाँ के लोग चाहते थे कि महाराज को किसी-न-किसी तरह क्रोधित कर दें। गाँव वालों ने एक मुसलमान को पैसे का लोभ दिया और किसी तरह

एकनाथ को क्रुद्ध करने को कहा। मुसलमान ने मान लिया। गोदावरी के घाट पर वह जा बैठा और एकनाथ की स्नान करके आने तक प्रतीक्षा करता रहा। एकनाथ आये। नहा कर घर लौटने लगे। मुसलमान आगे आया और एकनाथ महाराज के मुख पर थूक दिया। एकनाथ ने एक भी शब्द नहीं कहा, केवल मुस्करा दिये और पुनः नदी में स्नान कर आये, जब लौटने लगे तो पुनः मुसलमान ने उन पर थूक दिया। फिर महाराज हँसे और स्नान कर आये। मुसलमान ने फिर थूक दिया। यह क्रम १०८ बार चला। एकनाथ महाराज लेशमात्र भी विचलित नहीं हुए। वे तो मानो क्षमा के साकार रूप थे, धैर्य के अवतार थे। जब उस मुसलमान ने देखा कि इतने पर भी एकनाथ शान्त हैं तो मन में विचार किया—"एकनाथ साधारण मनुष्य नहीं हैं। भगवान् हैं।" वह थर-थर काँपने लगा। सोचा एकनाथ मुझे कहीं शाप न दे दें। बे-मौत मरना न पड़े। वह एकनाथ के चरणों में आ गिरा। क्षमा माँगी और गाँव वालों का सारा हाल कह सुनाया।

एक बार फिर लोगों ने एक ब्राह्मण को लोभ दे कर, एकनाथ को क्रुद्ध करने के लिए तैयार किया। ब्राह्मण अपने मन में सोचने लगा—"एकनाथ को कैसे क्रोध दिलाऊँ? उसकी पत्नी को ही छेड़ कर देखा जाये। पत्नी का अन्य व्यक्ति से सम्बन्ध देख कर वह कुपित हो जायेंगे और मेरा काम बन जायेगा। यही अच्छा उपाय है।" इस प्रकार उस ब्राह्मण ने ऐसा ही करने का निश्चय किया। एक दिन एकनाथ को उनकी पत्नी खाना खिला रही थी, तो वह ब्राह्मण चुपके से पीछे से गया और एकनाथ की पत्नी को पकड़ लिया।

लेकिन गङ्गा की बाढ़ किनारे की पर्वतमाला को कहीं उखाड़ सकती है? काय-सम्पत या कायसिद्धि में निष्णात सिद्ध पुरुष का क्या संग्रहणी रोग कुछ बिगाड़ सकता है? सर्पौषधि जानने वाले और सदा सर्प-विषहारी जड़ी को पास में रखने वाले व्यक्ति को सर्पदंश कुछ हानि पहुँचा सकता है? नहीं, कभी नहीं। एकनाथ महाराज बिलकुल चट्टान के समान अडिग, प्रसन्नमुख खड़े रहे। जोर से हँसने लगे। इतना हँसने लगे मानो ग्रामोफोन रेकार्ड बज रहा हो। जिस व्यक्ति की शरीर से, स्त्री से कोई आसक्ति नहीं हो, उसे किसी बात की क्या चिन्ता? जो अज्ञान-सागर के पार उतर चुका है उसे इससे क्या होता है? जो सत्त्वमय है, बल्कि सत्त्व से जो परे है, उसके लिए विषयी कामान्ध व्यक्ति के ऐसे कृत्यों की क्या चिन्ता है? जनक कहते हैं : **मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति कञ्चन**—पूरी मिथिला नगरी जल जाये तो भी मेरा कुछ नहीं जलता।"

इस स्थिति में एकनाथ ने पत्नी से कहा—"लक्ष्मी बाई, बेचारा बच्चा तुम्हें पकड़ रहा है, बड़ा भूखा है यह। इसे अपना दूध पिला दो, स्तन चूसने दो।" जब ब्राह्मण ने

देखा कि एकनाथ रञ्चमात्र भी क्रुद्ध नहीं हुए प्रत्युत सहानुभूति से प्रेम के शब्द बोल रहे हैं, तो वह स्वयं ही लज्जित हो गया। उसे अपने कुकृत्य के लिए बड़ी ग्लानि होने लगी, ऐसे देवपुरुष के प्रति अपराध करने का पश्चात्ताप हुआ। आँखों से अखण्ड अश्रुधारा बहने लगी। अपने इस जघन्य अपराध के लिए वह प्रायश्चित्तस्वरूप बहुत पछताने लगा। एकनाथ के आगे माथा टेक कर बोला—"हे भगवान्! महाराज! मुझे क्षमा कर दीजिए, क्षमा कर दीजिए। मैंने मूर्खता की। मैं एक निर्धन ब्राह्मण हूँ। घर-खर्च के लिए मेरे पास पैसे नहीं थे। आपको किसी तरह क्रोधित करने के लिए गाँव वालों ने मुझे घूस के रूप में पैसे दिये। मैं इतना निर्धन हूँ कि इस पैसे के लोभ में पड़ गया। मैंने घोर पाप किया। आपके सद्-स्वभाव को मैं बिलकुल नहीं जानता था। मैं एक बार और आपके चरणों में प्रणाम करता हूँ। मुझे क्षमा कीजिए, क्षमा कीजिए।" एकनाथ महाराज ने उसे क्षमा कर दिया और उसे प्रतिदिन भागवत पढ़ने और **"ॐ नमो भगवते वासुदेवाय"** मन्त्र का १०८ बार जप करने को कहा। एक तुलसी-माला भी पहनने को दी। उधर गाँव वाले सोच रहे थे कि इस बार उनकी इच्छा पूरी हो कर ही रहेगी, उनकी योजना अवश्य सफल होगी। लेकिन बेचारे गरीब ब्राह्मण को गले में तुलसी-माला पहने हुए लौटते देखा तो सब चकित और निराश हो गये। उन्होंने ब्राह्मण से पूछा—"एकनाथ के साथ तुम्हारा क्या हुआ?" गरीब ब्राह्मण ने उत्तर दिया—"मैंने अपनी ओर से पूरा प्रयत्न किया। मैंने पीछे से उनकी पत्नी को पकड़ लिया, लेकिन एकनाथ पर इसका लेशमात्र भी प्रभाव नहीं हुआ। वह तो बराबर मुस्कराते रहे। वह तो महापुरुष हैं। वह सामान्य मनुष्य नहीं हैं। अब मैं उनका शिष्य बन गया हूँ। उन्होंने अब मुझे गुरु-मन्त्र दिया है। अबसे मैंने अपनी सारी दुर्बुद्धि छोड़ दी। अब श्रीकृष्ण के साक्षात्कार के लिए मैं भरसक प्रयत्न करूँगा। आगे से मैं आप लोगों का साथ नहीं दूँगा।"

जब भी आपको क्रोध या उत्तेजना होती हो तो एकनाथ महाराज के इन दो जीवन-प्रसङ्गों का ध्यान कर लें। निरन्तर प्रयत्न करते रहने पर आप अपने क्रोध को वश में करने में सफल हो जायेंगे। ५० बार यदि आप विफल हो जायें, फिर भी हर बार निग्रह का कुछ-न-कुछ बल आप प्राप्त करेंगे ही। पराजय का प्रत्येक अवसर विजय की एक-एक सीढ़ी है। इक्यावनवीं बार पूर्ण विजयी हो जायेंगे। उस मकड़ी की कहानी का स्मरण कर लें जिसने सामने वाली दीवार से जा लगने के अपने प्रयत्न में आठ बार विफल हो कर भी प्रयत्न न छोड़ा और अन्त में नौवीं बार सफलता प्राप्त कर ली। एकनाथ का चित्र, उनका काल्पनिक रूप और उनकी दृढ़ क्षमा-वृत्ति का स्मरण करें, आपको बड़ी शक्ति और स्फूर्ति मिलेगी।

३. जड़भरत

(नम्र बनें)

एक पालकी पर एक राजा जा रहा था। पालकी को चार आदमी ले कर चल रहे थे। उनमें से एक रास्ते में बीमार पड़ गया। वह पालकी ले कर चल नहीं सकता था। राजा को मार्ग में अवधूत वेष में विचरण करता हुआ जड़भरत मिला। वह पूर्णतया स्वस्थ था। राजा उसे जानता नहीं था। राजा ने सोचा पालकी ढोने के लिए यह व्यक्ति उपयुक्त है और उससे कन्धा देने को कहा। जड़भरत ने सोचा कि पालकी ढोने का यह कुछ प्रारब्ध ही रहा है, इसलिए बड़ी प्रसन्नता से कहारी स्वीकार कर ली। जब से जड़भरत कन्धा देने लगा, पालकी निरन्तर हिलने-डुलने लगी जिससे राजा अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठा और क्रुद्ध हो गया। इसका कारण यह था कि जड़भरत चलते समय रास्ते में पड़े हुए कृमि-कीटों का ध्यान रख कर बहुत ही धीरे-धीरे, बचा-बचा कर पैर रखता जाता था। वह किसी जन्तु को कुचलना पसन्द नहीं करता था। उसका हृदय बहुत ही कोमल तथा अत्यधिक करुणापूर्ण था। तब राजा ने कहारों से पूछा—"पालकी इतनी क्यों हिलती-डुलती है?" शेष तीनों कहारों ने कहा—"महाराज! यह नया आदमी व्यर्थ है। किसी काम का नहीं है। देखने को तो मोटा दीखता है; परन्तु बड़ा आलसी है। बहुत धीरे-धीरे चलता है। यह हमारा साथ नहीं देता।" राजा बहुत क्रुद्ध हो कर बोला—"ओ मोटे आदमी! दूसरों से पग मिला कर चल। अपना काम ठीक से कर।" जड़भरत ने राजा की बातों का लेशमात्र भी बुरा नहीं माना। पहले जैसे ही चलता रहा।

फिर पालकी हिलने लगी। राजा ने दोबारा पूछा। कहारों ने कहा—"महाराज! हमारा कोई दोष नहीं है। हम अपना काम ठीक कर रहे हैं। यह नया आदमी अब भी धीमे-धीमे ही चलता है। आपकी बातों की यह जरा भी चिन्ता नहीं करता, बड़ा धृष्ट है।" राजा को पहले से अधिक क्रोध आया। राजा बोला—"ओ नये मोटे आदमी! तू बड़ा सुस्त है। काम ठीक नहीं करता। साथ ही धृष्ट भी है। यही चाल चलेगा तो तुझे कोड़े लगाऊँगा।" जड़भरत ने विचार किया कि इस अज्ञानी राजा को कुछ शिक्षा देनी चाहिए और बोला—"हे राजन्! तुम कोड़े से मारोगे तो केवल इस शरीर को ही दुःख होगा, मुझ पर किञ्चित् भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। मैं कूटस्थ हूँ, आत्मा हूँ, असङ्ग हूँ, अकर्ता हूँ, मैं सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ। तुमने मुझे मोटा कहा; मोटापा या कृशता देह की होती है; आत्मा न कृश है, न मोटी। भूख-प्यास प्राणगत हैं; इच्छा, काम, क्रोध, दुःख मनोगत हैं। आत्मा का एक भी गुण नहीं है। तुमने कहा कि मुझे कोड़े लगाओगे। जब मनुष्य दूसरों से एकत्व, समत्व और तद्रूपत्व अनुभव करता है, तब उसे दुःख, भ्रम, भय, शोक, कष्ट, पीड़ा आदि कहाँ से हों! जाना कहाँ! करना क्या! लेना क्या और छोड़ना क्या! उसे देखने को क्या है, किसने देखना है! कौन किसका मान करेगा! कौन किससे प्रेम करेगा! कौन किसका आदर करेगा! कौन किसे आदेश देगा और कौन किसका आदेश पालन करेगा!"

राजा ने जब ये सारी ज्ञान की बातें सुनीं, तो चकित रह गया। उसने विचार किया कि यह कोई ज्ञानी है, भारवाहक नहीं; राजा तुरन्त पालकी से नीचे उतर आया और जड़भरत के चरणों में प्रणाम करके उससे क्षमा-याचना की एवं प्रार्थना की कि वह वेदान्त के रहस्य का उसे उपदेश करे। जड़भरत ने कहा—"राजन्! यह तुम्हारे लिए उचित नहीं है कि राह चलते किसी को भी पालकी ढोने के लिए कह दो और बुरी तरह अपमानित करो। यह न्याय नहीं है। आगे से ध्यान रखना।" इसके बाद जड़भरत ने उसे वेदान्त का पूरा उपदेश दिया।

ज्ञानी और राजा जड़भरत-जैसे महापुरुष के इस जीवन-प्रसङ्ग से आप शिक्षा ले सकते हैं तथा मनोबल एवं प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं। भरत चाहता तो पल-भर में राजा को नष्ट कर सकता था; परन्तु योगी ऐसा कभी नहीं करते। वे बहुत दयालु होते हैं। वे करुणासागर होते हैं। उनमें नम्रता भरी होती है। कोई बीमार या कोई दूसरा व्यक्ति आपसे गिलास-भर पानी माँगता है तो आपको लगता है कि वह आपसे भिन्न है, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि वह और आप तत्त्वतः एक हैं। आप गर्व करते हैं। उसकी निन्दा करते हैं। कहते हैं—"आलसी! नीच!" यह ठीक नहीं। नम्र रहना चाहिए। नम्रता से अहङ्कार को मिटा सकेंगे। जड़भरत के समान रहिए। इस कथा को सदा स्मरण रखें। जड़भरत के समान इस शरीर का एक साधन के रूप में उपयोग कीजिए। आप आत्मा हैं। अपने को शरीर न समझिए।

४. कबीर की साधना-पद्धति

(तोड़ो और जोड़ो)

किसी ने कबीर से पूछा—"हे सन्त! किस प्रकार की साधना कर रहे हो?" कबीर ने उत्तर दिया—"मैं अपने को अलग करता हूँ, जोड़ता हूँ।" उनके कहने का तात्पर्य यह था कि जिस भाँति रेलगाड़ी में डिब्बों को एक लाइन पर गाड़ी से अलग कर दूसरी लाइन पर दूसरी गाड़ी में जोड़ते हैं; उसी प्रकार वे अपने मन को सांसारिक विषयों से अलग कर सर्वव्यापी सच्चिदानन्द आत्मा अथवा ब्रह्म से जोड़ते थे। कबीर के मार्ग पर चलो :

(१) तोड़ो—जोड़ो।

(२) बाहर फेंको—अन्दर खींचो।

(३) याद करो—भूल जाओ।

श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता (६-२६) में इसी पद्धति का उल्लेख किया है :

"यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

—चञ्चल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ भटकता है, वहाँ-वहाँ उसे रोक कर आत्मा में ही जोड़ना चाहिए।" मन में बार-बार उपर्युक्त सूत्र दोहराते रहिए—'अलग करो—तोड़ो।' फिर आत्मा में स्थिर करने की प्रक्रिया अपने-आप सध जायेगी और स्वभाव बन जायेगी।

अपने मन को विषय पदार्थों से तोड़ दो और उसे ब्रह्म में जोड़ो। मलिनताओं को बाहर फेंक दो और सभी सद्गुणों को अन्दर खींचो। सभी परिस्थितियों को भूल जाओ। सदा भगवान् को स्मरण करो। यह कबीर की साधना-प्रणाली है।

अपने वास्तविक स्वरूप को क्यों भूल गये? इसलिए कि आप सर्वदा अपने शरीर, पत्नी, बच्चे, संसार और विषयों, पदार्थों तथा सम्पत्ति का स्मरण करते रहते हैं। अब शरीर, पत्नी, बच्चों, इन्द्रिय-पदार्थों आदि बाह्य पदार्थों को, अतीत को, परिस्थितियों को तथा जो-कुछ भी सीखा है उसे भूलने का प्रयत्न कीजिए। तब एकमात्र आत्मा का, ब्रह्म का स्मरण होने लगेगा। भूलना एक महत्त्वपूर्ण साधना है।

५. तिरुवल्लुवर की पत्नी

(एकाग्र मन)

दक्षिण भारत के एक अन्त्यज तमिल सन्त तिरुवल्लुवर ने अपनी पत्नी के शिर पर पानी से भरी एक उथली थाली रख दी और आदेश दिया कि गाँव-भर में उसे शिर पर रख कर नाच-गान तथा क्रिया के साथ घूम आओ; एक बूँद भी पानी यदि भूमि पर गिरा तो शिर काट दिया जायेगा। त्रिचिनापल्ली के निकट श्रीरङ्गम के विशाल मन्दिर के प्रमुख द्वार से जुलूस निकला। तिरुवल्लुवर की पत्नी पानी से भरी उस थाली को अपने शिर पर रखे जुलूस के साथ चली। उसका सारा प्राण, सारा मन और सम्पूर्ण हृदय पानी की उस थाली में केन्द्रित था। वह जुलूस नगर के चार मार्गों में तीन बार घूमने के पश्चात् जहाँ से आरम्भ हुआ था वहीं मन्दिर के द्वार पर आ कर समाप्त हुआ। सन्त की पत्नी एक बूँद भी जल भूमि पर गिराये बिना जल से भरी हुई थाली वापस लायी। तिरुवल्लुवर ने अपनी पत्नी से पूछा : "हे सरस्वती, क्या तुमने जुलूस के साथ बजने वाले सङ्गीत तथा वंशी को सुना और नृत्य को देखा?" उसने

कहा : "नहीं, मैंने कुछ नहीं सुना और न मैं कुछ जान सकी। मुझे कुछ स्मरण नहीं आया और न मैंने कुछ देखा ही। मेरा सम्पूर्ण मन तो पानी की थाली में था।"

अब यहाँ देखें। सन्त की पत्नी का मन पूर्ण एकाग्र था। अतः उसने न कुछ सुना, देखा, न अनुभव किया और न कुछ स्मरण किया। ध्यानावस्था में आपके मन की स्थिति भी ऐसी ही होनी चाहिए, इसी का नाम एकाग्रता है। अखण्ड अवधान, अखण्ड शक्ति होनी चाहिए, ईश्वर की ओर सारा ध्यान केन्द्रित होना चाहिए। तभी आप ईश्वर के दर्शन कर सकेंगे। तभी आप अपने जीवन की कठिन समस्याओं का समाधान कर सकेंगे।

६. द्रोण तथा उनके शिष्य

(एकाग्रता)

द्रोणाचार्य तथा उनके शिष्यों के मध्य की निम्नाङ्कित वार्ता आपके लिए बहुत ही रुचिकर होगी।

द्रोण : युधिष्ठिर, तुम क्या देख रहे हो?

युधिष्ठिर : आचार्य जी! मैं अपने लक्ष्य उस पक्षी को तथा जिस वृक्ष पर वह बैठा है उस वृक्ष को और अपने बगल खड़े आपको देख रहा हूँ।

द्रोण : तुम्हें क्या दीख रहा है भीम?

भीम : मुझे वह पक्षी, वृक्ष, आप, नकुल, सहदेव तथा भूमि पर खड़े वृक्ष तथा पौधे दीख रहे हैं।

द्रोण : नकुल, तुम्हें क्या दीखता है?

नकुल : पक्षी, वृक्ष, अर्जुन, भीम, उपवन, सरिताएँ आदि दीख रहे हैं।

द्रोण : तुम क्या देखते हो सहदेव?

सहदेव : मैं लक्ष्य, पक्षी, आप, अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर, घोड़े, रथ, ये सब दर्शक, अनेक गायें आदि देख रहा हूँ।

द्रोण : क्यों अर्जुन तुम्हें क्या दीखता है?

अर्जुन : पूज्य गुरु जी! अपने लक्ष्य उस पक्षी के अतिरिक्त मुझे अन्य कुछ भी नहीं दीख रहा है।

उपर्युक्त पाठ से यह स्पष्ट है कि जब आपका मन किसी विशेष पदार्थ पर एकाग्र होता है तब आप अन्य कुछ भी देख अथवा सुन नहीं सकते। आपमें उपासना तथा योग के द्वारा मन के विक्षेप के निवारण से ध्यान के लिए अर्जुन के समान ही एकाग्रता

होनी चाहिए। एकाग्रता के विकास के लिए त्राटक तथा प्राणायाम भी सहायक होते हैं। उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि एकमात्र अर्जुन में ही गम्भीर एकाग्रता थी।

७. ग्लैडस्टोन तथा बैलफोर

आदरणीय ग्लैडस्टोन तथा बैलफोर में मन की एकाग्रता अत्यधिक थी। उन्हें निद्रा पर पूर्ण अधिकार था। योगियों के अतिरिक्त अन्य सब लोगों की भाँति उन्हें पन्दरह-बीस मिनट तक बिस्तर पर करवटें बदलनी नहीं पड़ती थीं। क्या यह आपके लिए चमत्कार नहीं है? इस पर गम्भीरता से विचार करें। शय्या पर लेटते ही उसी क्षण निद्रा आ जाना कितना कठिन है। उन्हें अपने विचारों पर पूर्ण नियन्त्रण था। वे जिस क्षण चाहते, उसी क्षण जग जाते थे। यह बड़ा कठिन है। यों यह सरल भी है। इसमें कोई विरोधाभास नहीं है। यह उनके लिए कठिन है जो आलसी हैं तथा जो एकाग्रता का अभ्यास नहीं करते। धारणा, ध्यान तथा समाधि का योगाभ्यास करने वालों के लिए यह सरल है। नेपोलियन बोनापार्ट में भी महती एकाग्रता थी। वह जब चाहता उसी क्षण निद्रा से जग जाता था। वह युद्ध के मध्य में भी गहरी नींद सो सकता था। वह कभी रञ्चमात्र भी चिन्ता नहीं करता था। उसमें अत्यन्त विकसित चित्त की एकाग्रता थी। ये तीनों व्यक्ति राजयोगी थे। लेकिन वे यह जानते नहीं थे। इतना ही अन्तर था कि वे अन्तर्मुखी वृत्ति आत्मा का अन्तरावलोकन नहीं करते थे, किन्तु अपनी शक्ति का उपयोग बहिर्मुख वृत्ति से भौतिक स्तर पर करते थे।

८. रन्तिदेव

भागवत में रन्तिदेव का वर्णन आता है। एक बार उन्होंने ४८ दिन तक उपवास किया और ४९ वें दिन प्रातःकाल जब वे थोड़ा-सा सत्तू, गुड़ तथा जल ले पारणा करने बैठे उसी समय एक अतिथि आया। उन्होंने उस खाद्य सामग्री का एक अंश उसे दे दिया। उस अतिथि के जाते ही एक और अतिथि आ गया। उन्होंने सत्तू का दूसरा अंश उसे दे दिया। तृतीय अतिथि आया उन्होंने शेष सत्तू और गुड़ उसे दे दिया। अन्त में स्वयं जल पीने बैठे ही थे कि एक चतुर्थ अतिथि आया और पीने के लिए कुछ जल माँगा, उन्होंने जल भी दे दिया। अब उनके पास कुछ नहीं बचा। उन्होंने कहा : "संसार के सारे दुःखों और कष्टों को मैं अपने कन्धों पर ले लूँ। मैं दूसरों में सुख का सञ्चार करूँ। मुझमें कोई स्वार्थमयी कामना न रहे। मैं अपना सर्वस्व न्योछावर करने में आनन्द मानूँ।" आप रन्तिदेव से प्रेरणा तथा नवशक्ति प्राप्त कर सकते हैं। उनका यज्ञ अथवा आत्मत्याग युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ से भी श्रेष्ठतर था। यह आदर्श त्याग का एक उदाहरण है। आप आत्मत्याग से बहुत शीघ्र उद्‌विकास कर सकते हैं और सहज ही वैश्व चेतना प्राप्त कर सकते हैं।

आपको राजा शिवि के पुरातनकालीन उदाहरण का अनुसरण करना चाहिए जिसने क्षुधातुर स्येन से कपोत के प्राण बचाने के लिए स्येन को कपोत के भार के बराबर अपना शरीर काट कर दे दिया। यह वास्तविक प्रसंशनीय अनुकरणीय आत्मत्याग है। दधीचि महर्षि का अनुसरण कीजिए जो नैमिषारण्य (आजकल के निमसार) के पास रहते थे। उन्होंने वज्रायुध बनाने के लिए इन्द्र को अपनी अस्थियाँ दे दी थीं।

स्वार्थ-त्याग की कई श्रेणियाँ हैं। हो सकता है कि किसी के पास पचास लाख रुपये हों और वह वाराणसी हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए दो लाख रुपये दान करे तो यह भी स्वार्थ-त्याग का एक प्रकार है। एक ताँगे वाला है जो धार्मिक वृत्ति का है, पुण्यशील प्रकृति का है और किसी धर्म-कार्य में पचास पैसे दान करता है जो उसके उस दिन-भर की कमाई है और स्वयं भूखा रहता है। निश्चय ही यह दान उस श्रीमान् के दो लाख के दान से जो कि अपने सुख-चैन के लिए अड़तालीस लाख रुपये बचा कर देता है, कई गुणा उत्कृष्ट है। आपको स्वार्थ-त्याग की मात्रा को मापना होगा। जो व्यक्ति दूसरों को अपना सर्वस्व दान कर देता है और विवेक के साथ उन लोगों के हित में दान कर देता है जिन्हें नितान्त आवश्यकता है, उसका दान सर्वोत्कृष्ट है। वह परम पूज्य है, अत्यन्त श्लाघनीय है।

ऐसे भी लोग हैं जो एक रुपया अर्जित करते हैं। वे उसे अपने लिए रख लेते हैं और कुछ भी दान नहीं करते। कुछ लोग ऐसे हैं जो रुपये में ५० पैसे दान कर देते हैं। कुछ लोग केवल २० पैसे अपने लिए रख कर शेष ८० पैसे दान कर देते हैं। ऐसे लोग बहुत ही कम हैं जो अपने लिए कुछ भी नहीं रखते, पूरा का पूरा धन दूसरों को दे डालते हैं। दान की इन विविध श्रेणियों को देखिए।

प्रथम कोटि के लोग सूअर हैं; साधारण सूअर नहीं, मोटे चीनी सूअर हैं। इनकी निष्ठुरता से निन्दा की जानी चाहिए। दूसरे सब दानी अवश्य हैं, किन्तु जो अन्तिम प्रकार का दानी है, जो अपना सर्वस्व दान कर देता है, वह सर्वश्रेष्ठ है। गान्धी जी का उदाहरण भी बड़ा उत्कृष्ट है। उनका त्याग श्रेष्ठ कोटि का है।

९. नामदेव

नामदेव महाराष्ट्र के पण्ढरपुर के एक सन्त थे। वे दर्जी का व्यवसाय करते थे। माना जाता है कि वह वाल्मीकि के अवतार थे। जब वे बालक थे तब एक बार पण्ढरपुर-मन्दिर में (श्रीकृष्ण) को भोग लगाने के लिए नैवेद्य ले गये। उसे मूर्ति के सामने रखा और भगवान् कृष्ण से खाने के लिए कहा। थाली में सब-कुछ ज्यों-का-त्यों पड़ा रहा। नामदेव जोर-जोर से रोने लगे और प्रार्थना करने लगे।

भगवान् कृष्ण मनुष्य के रूप में उनके समक्ष प्रकट हुए। थाली ले ली और नैवेद्य खाया। जब बालक खाली थाली लिये घर लौटा तो उसके माता-पिता ने पूछा—"नैवेद्य का क्या हुआ?" नामदेव ने उत्तर दिया : "माँ, विट्ठल व्यक्तिगत रूप में आये और उसे खा लिया।" माता-पिता को बड़ा आश्चर्य हुआ। अगले दिन भोग के समय पिता भी पुत्र के साथ मन्दिर गये। पिता ने अपने को छुपा लिया। बालक ने विट्ठल के सामने थाली रखी। विट्ठल पूर्ववत् मनुष्य के रूप में प्रकट हुए और नैवेद्य खाया। नामदेव के पिता ध्यानपूर्वक देख रहे थे। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सोचा कि नामदेव साधारण मनुष्य नहीं देवता हैं। एक बार नामदेव कुछ घी-रोटी लिये हुए चन्द्रभागा के तट पर बैठे थे। विट्ठल ने नामदेव की परीक्षा करनी चाही। उन्होंने कुत्ते का रूप धारण किया और उनके हाथ से रोटी छीन कर भाग गये। नामदेव ने कहा : "कुत्ते के रूप में हे भगवान् मैं सर्वत्र विट्ठल को ही देखता हूँ। तुम कोरी सूखी रोटी मत खाओ। मुझे रोटी में घी लगाने दो।" विट्ठल ने सोचा कि नामदेव अपनी भक्ति में पर्याप्त उन्नत हैं। उन्होंने कुत्ते के अन्दर से अपना चतुर्भुज महाविष्णु का रूप दिखाया। नामदेव को सायुज्य-मुक्ति प्राप्त हुई।

१०. तुकाराम

तुकाराम महाराष्ट्र के एक सन्त थे जो इन्द्राणी नदी के तट पर देहू गाँव के निवासी थे। सुकरात की पत्नी के समान ही उनकी पत्नी क्रूर थी। वह क्रूर अवश्य थी, परन्तु थी शीलवती। पति को बिना खिलाये वह स्वयं कभी न खाती थी। तुकाराम समर्थ रामदास के समकालीन थे। एक बार शिवाजी ने तुकाराम के लिए आभूषणों का एक थाल उपहार में भेजा। तुकाराम ने उसे नहीं लिया और आभूषण वापस कर दिये। इस पर उनकी पत्नी बहुत बिगड़ी। कहने लगी—"उपहार क्यों लौटा दिया? हमारे कई बच्चे हैं, हम निर्धन हैं, वह हमारे काम आता।" तुकाराम साधारण श्रमिक थे जो ज्वार के खेतों में पक्षियों को उड़ाया करते थे। बिलकुल अनपढ़ थे। उनके आराध्यदेव पण्ढरपुर के कमर पर हाथ रखे खड़े विट्ठल थे। भजन गाना उन्हें बड़ा प्रिय था। उनका मन्त्र विट्ठल (श्रीकृष्ण का एक अन्य नाम) था। एक दिन उन्होंने अपने साथियों के कहा कि वह वैकुण्ठ जायेंगे। पत्नी से भी पूछा कि क्या वह भी उनके साथ जायेगी। उसने मना कर दिया। सब लोगों को विश्वास नहीं हो रहा था। एक दिन जब वे चन्द्रभागा नदी में स्नान कर रहे थे, एक भव्य विमान वैकुण्ठ से नीचे आया। तुकाराम विमान में बैठ गये और भगवान् नारायण के चरण-कमलों में पहुँच गये।

११. दामा जी

दामा जी पण्ढरपुर के एक बड़े कृष्ण-भक्त थे। एक मुसलमान राज्य में वे दीवान थे। एक बड़ा दुष्काल पड़ा। दामा जी ने नवाब की अनुमति प्राप्त किये बिना ही खजाने के द्वार खोल दिये और अकाल-पीड़ितों में बहुत बड़ी धनराशि वितरित कर दी। नवाब को जब दामा जी के इस कार्य का पता चला तो वह बड़ा क्रुद्ध हुआ और उसने दामा जी को मृत्यु-दण्ड दिया। जब उन्हें मृत्यु-दण्ड के लिए ले जाया जा रहा था तो दामा जी ने बधिकों से उन्हें पण्ढरपुर से हो कर ले जाने को कहा; क्योंकि वे विट्ठल के अन्तिम बार दर्शन करना चाहते थे। उन्होंने मान लिया। इसी बीच भगवान् कृष्ण ने नीच जाति के एक मनुष्य का रूप धारण कर लिया और नवाब के सामने प्रकट हो कर कहा : "नवाब साहब! मैं आपके दीवान दामा जी का सन्देशवाहक हूँ। उन्होंने जो धन व्यय कर दिया था, वह यह है। मुझे रसीद दे दीजिए और दीवान को मुक्त कर दीजिए। नवाब इस घटना से बहुत स्तब्ध तथा आश्चर्यचकित रह गया। उस दूत का आकार इतना कान्ति-युक्त आकर्षक था कि नवाब ने उसे कोई दिव्य पुरुष समझा। नवाब ने तुरन्त ही दीवान को मुक्त करने के लिए आदमी भेज दिये। भगवान् श्रीकृष्ण ने कुछ और भी लीला की। उन्होंने इस रसीद को ले जा कर दामा जी के पास की गीता में रख दिया। दामा जी ने चन्द्रभागा में स्नान किया और मृत्यु से पूर्व गीता के कुछ श्लोकों का पाठ करना चाहा। नवाब के हाथ की रसीद को देख कर वे आश्चर्य में पड़ गये। वह समझ गये कि यह सब भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा है। उन्हें इस बात का दुःख हुआ कि उनके कारण भगवान् को ये सब दुःख उठाने पड़े। वे अपने को कोसने लगे कि उन्हें भगवान् के दर्शन का सद्भाग्य प्राप्त नहीं हुआ। वह भगवान् कृष्ण के दर्शन के लिए कृतसङ्कल्प हो कर बैठ गये। तब श्रीकृष्ण ने उन्हें दर्शन तथा सायुज्यमुक्ति प्रदान की। आज भी पण्ढरपुर से बारह मील दूर दामा जी के जन्मस्थल के लिए लोग जाते हैं। यदि आपमें अनन्य अव्यभिचारिणी भक्ति हो तो आप अविलम्ब मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

१२. नन्दन

नन्दन दक्षिण भारत का एक परिया, दलित जाति का था। वह एक ब्राह्मण के खेतों में कृषि का कार्य करता था। वह भगवान् शिव का परम भक्त था। चिदम्बरम् दक्षिण भारत की काशी माना जाता है। वहाँ एक विशाल मन्दिर है। नटराज शिवजी का एक नाम है। लोगों का ऐसा विश्वास है कि चिदम्बरम् में कुछ काल निवास करने से सब पाप नष्ट हो जाते हैं। जब नन्दन ने अपने स्वामी से भगवान् शिव के दर्शन करने के लिए चिदम्बरम् जाने की अनुमति माँगी तो अहङ्कारी ब्राह्मण ने उसे डाँटा

और कहा : "तू नीच जाति का परिया, तू ब्राह्मणों के देवता की पूजा करना चाहता है। जा और भूतों की, अपने परिवार के देवता की पूजा कर।" नन्दन शिव का महान् भक्त था। वह सदा भक्तिपूर्वक प्रार्थना करता रहता था। नन्दन के निरन्तर अनुरोध करने पर जुताई के समाप्त होते ही उसे भेज देने का वचन दे दिया। ब्राह्मण के बहुत बड़े खेतों के जोतने में अधिक समय लगने के विषय में नन्दन बहुत चिन्तित था। भगवान् ने नन्दन की सहायता करने के लिए चमत्कार किया। ब्राह्मण के सारे सूखे पड़े अकृष्ट खेत एक ही दिन में हरे धान से लहलहा उठे। ब्राह्मण को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने सोचा कि यह नन्दन महान् भक्त है। उसने नन्दन को चिदम्बरम् जाने की तत्काल अनुमति दे दी। नन्दन ने नटराज के दर्शन किये और मुक्ति-लाभ किया। भगवान् अपने सभी सच्चे भक्तों की सहायता करते हैं।

१३. स्वामी कृष्ण-आश्रम

स्वामी कृष्ण-आश्रम गङ्गोत्तरी से नीचे चौदह मील पर दारोली ग्राम में रहते थे। वे कई वर्षों तक उस हिममय प्रदेश में एकदम नग्नावस्था में रहते थे जहाँ कि साधारण मनुष्य को ऊनी स्वेटर तथा छः कम्बलों की आवश्यकता होती है। वे महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। वे नर्मदातट पर रहते थे। वे शिव-भक्त थे। उन्होंने अपने पूजा के सभी पात्र फेंक दिये, वाराणसी चले गये, दण्डी संन्यास ले लिया और वाराणसी में एक वर्ष तक रहे।

अब वे हरिद्वार आये, दण्ड भी फेंक दिया और अवधूत बन गये। वे कुछ समय तक उत्तरकाशी में रहे। जब दंश उन्हें काटते और उनके शरीर से अत्यधिक रक्त प्रवाहित होता तो भी वे दंशों को कभी भी भगाते नहीं थे। उनमें ऐसी तितिक्षा थी। एक बार क्षेत्र में एक उद्धत नौकर ने दाल के लिए कोई पात्र न लाने के लिए उन्हें अपमानित किया और उनके हाथ पर बहुत गरम दाल डाल दी। सन्त वह दाल पी गये, यद्यपि उनके ओष्ठ तथा हथेली पर छाले पड़ गये। भूमा-आश्रम नामक एक अन्य स्वामी भी दारोली में नग्नावस्था में रहते थे। वे कृष्ण-आश्रम के मित्र थे। उनमें बहुत तितिक्षा थी।

तितिक्षा संन्यासियों के लिए एक अत्यावश्यक गुण है। आप अध्यात्म-मार्ग में तितिक्षा के बिना कुछ भी नहीं कर सकते। यह षट् सम्पत् में से एक है। इस गुण की साधना कीजिए। स्वामी कृष्ण-आश्रम से प्रेरणा प्राप्त कीजिए। गीता में भी आप देखेंगे :

"मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ *(गीता : २-१४)*

—हे कुन्तीपुत्र ! शीत, उष्ण, सुख तथा दुःख देने वाली इन्द्रियों के साथ विषयों के संयोग तो उत्पत्ति-विनाशशील तथा अनित्य हैं। अतएव हे भारत ! उन्हें सहन करो।"

"यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ *(गीता : २-१५)*

—हे पुरुष श्रेष्ठ ! दुःख तथा सुख को समान समझने वाले जिस धीर व्यक्ति को ये (विषय स्पर्श) व्यथित नहीं करते, वह मोक्ष-लाभ का उपयुक्त अधिकारी है।"

१४. सिद्धारूढ़ स्वामी

सिद्धारूढ़ स्वामी एक सुप्रसिद्ध अनुभवी सन्त थे। वे हुबली के निवासी थे। पर-विचार-ज्ञान आदि कई चमत्कार उन्होंने दिखाये थे। उन्हें त्रिकाल-ज्ञान था। उन्हें वर्तमान काल में एक-साथ ही तीनों कालों की चेतना रहती थी। गम्भीर ध्यान में उनको काल की गति का पता नहीं चलता। घण्टों यों ही व्यतीत हो जाते हैं। भूत तथा भविष्यत् दोनों वर्तमान में मिल जाते हैं। यह प्रणाली गम्भीर एकाग्रता का लक्षण है। यदि समय काटे नहीं कट रहा है तो यह इस बात का द्योतक है कि मन इधर-उधर भटक रहा है। सिद्धारूढ़ के दर्शन के लिए बहुत बड़ी संख्या में लोग जाते थे। लोगों ने उनके लिए एक बड़ा मन्दिर बनवा दिया था। वे सायङ्काल को योगवासिष्ठ पर प्रवचन करते थे जो वेदान्त का एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। यह उत्कट मुमुक्षुओं के निरन्तर अध्ययन का ग्रन्थ है। आपको यथासम्भव बार-बार इसका स्वाध्याय करना चाहिए। इससे सत्संस्कार प्राप्त होंगे। आपको केवल स्वाध्याय ही नहीं, वरन् योगवासिष्ठ की भावना में जीवन जीने का प्रयत्न करना चाहिए। सिद्धारूढ़ स्वामी के आश्रम में सभी लोग निरन्तर इस मन्त्र का जप करते हैं **"शिवाय नमः ॐ, शिवाय नमः—शिवाय नमः ॐ नमः शिवाय।"** वहाँ का हलवाहा भी खेत में हल चलाते समय यही मन्त्र जपता है। चक्की चलाने वाला भी आटा पीसते समय शिव-मन्त्र का जप करता है। सारा आश्रम तथा सारा हुबली नगर इस शिव-मन्त्र के शक्तिशाली स्पन्दनों से भरा हुआ है।

चतुर्थ परिशिष्ट

उपाख्यान

१. एक ब्राह्मण पुरोहित

मेरा विश्वास है कि आपको यह ज्ञात है कि ब्राह्मण भोजन-प्रिय तथा मुसलमान भड़कीली पोशाक-प्रिय होते हैं। कहावत है कि एक ब्राह्मण भोजन तथा एक मुसलमान पहनावे में अपनी सारी सम्पत्ति गँवा बैठे। गोदावरी जिले के राजमन्ड्री ग्राम में लक्ष्मीनरसू शास्त्री नामक एक ब्राह्मण पुरोहित रहते थे। वे कुम्भकर्ण तथा हिरण्यकशिपु की परम्परा में आते थे। रावण का भाई कुम्भकर्ण एक बार में, एक ही बैठक में छः माह का भोजन खा जाया करता था। यह कुम्भकर्ण के लिए उपाहार था। यह उसका बहुत ही हलका भोजन था, यौगिक मिताहार था। भोजन के विषय में यह ब्राह्मण कुम्भकर्ण से किसी प्रकार पीछे न थे। निश्चय ही वह इस दिशा में सभी दृष्टियों से कुम्भकर्ण की समता रखते थे।

एक बार उपन्यायाधीश नारायण पन्तुलू गारू ने अपने पिता के श्राद्ध के दिन इस ब्राह्मण को निमन्त्रित किया। प्रायः श्राद्ध में भोजन जीमने वाले ब्राह्मण को विश्वेदेव देवता माना जाता है और उसका बहुत अधिक आदर-सत्कार किया जाता है। लक्ष्मीनरसू शास्त्री गाय के अच्छे घी तथा लड्डू के बड़े शौकीन थे। वह लड्डू और घी की उपस्थिति में अपने को भूल जाया करते थे। उपन्यायाधीश ने अत्यन्त निपुणता से लड्डू तैयार करने के लिए उस दिन एक लड्डू-विशेषज्ञ को काम में लगा रखा था। ब्राह्मण पुरोहित भोजन के लिए बैठे। शास्त्री के सामने केले के दो बड़े-बड़े पत्ते रखे गये। प्रारम्भ में पन्दरह लड्डू तथा गाय का आधा सेर घी रख दिये गये। शास्त्री ने तीन मिनट में ही ये लड्डू खा लिये और घी को जल की भाँति पी गये। दूसरे पन्दरह लड्डूओं का ढेर तथा आधा सेर घी रखे गये। यह प्रक्रिया शास्त्री के सन्तुष्ट होने तक चलती रही। वह केवल २२० लड्डू तथा ४ सेर घी खा सके। बस, इतना ही खाया। खाया हुआ भोजन उदर के बाहर आ गया तथा ग्रास नली में उलटा बहने लगा तथा गले के पृष्ठ भाग को स्पर्श कर रहा था। अब शास्त्री के लिए उठ कर खड़ा होना सर्वथा असम्भव था। वह श्वास लेने के लिए तड़प रहे थे; क्योंकि गले का खाद्य-पदार्थ कण्ठ तथा श्वास-प्रणाल पर दबाव डाल रहा था। वह एक ओर से दूसरी ओर झुक पड़ते थे। अन्त में दो नौकरों ने शास्त्री जी को उठा कर बाहर बरामदे तक पहुँचाया और हाथ धुलवाये। अब उनकी दशा बिगड़ चली। उनके पेट में जोरों से

पीड़ा हो रही थी और वह मतली अनुभव करने लगे थे। उधर से जाने वाले कुछ लोगों को पुरोहित की दुःखद दशा पर दया आयी और उनसे कारण पूछा। शास्त्री ने कहा : "मैं लड्डू तथा गाय के घी का शौकीन हूँ। आज जज साहब के घर में बहुत अच्छे लड्डू बने थे। मैंने केवल २२० लड्डू खाये तथा ४ सेर घी ही पिया। मेरा पेट अतिभारित हो गया है। भारी मरोड़ की पीड़ा है। मतली आ रही है। यही मेरी परेशानी है।"

एक पथिक ने शास्त्री पर बहुत सहानुभूति प्रकट की और उन्हें परामर्श दिया : "शास्त्री जी ! आप अपनी दो उँगलियाँ गले में प्रविष्ट कर उनसे क्यों नहीं गुदगुदाते? इससे तत्काल ही उल्टी आयेगी और आपको बहुत आराम पहुँचेगा।" अब शास्त्री जी ने कहा : "प्रिय मित्र, आप सर्वथा भूल कर रहे हैं। यदि दो उँगलियाँ घुसेड़ने भर को अन्दर स्थान होता तो मैं पन्दरह लड्डूओं का एक ढेर और खा जाता तथा गाय का आधा सेर घी और पी जाता। मुझे बहुत दुःख है कि ऐसा अच्छा अवसर गँवा दिया। ऐसे सुन्दर बने हुए लड्डू और ताजा घी कहाँ मिलेंगे।"

यह राजमन्ड्री के प्रसिद्ध लड्डू शास्त्री की कोटि में आने वाले लोगों के लिए मिताहार है। ऐसे लोग खाने के लिए ही जीवन धारण करते हैं। यह भोगवाद है। ऐसे लोग योग तथा ध्यान के अभ्यास के सर्वथा अनुपयुक्त हैं। सांसारिक कार्यों के लिए भी ये लोग नितान्त निकम्मे हैं।

२. एक भक्त सैनिक

क्या आपने पञ्जाब की एक नूतन घटना नहीं सुनी? एक सैनिक सच्चा राम-भक्त था। एक रात्रि को वह गस्त के काम पर था। उस समय एक सुन्दर भजन-मण्डली उस सैनिक के पास से गुजरी। सैनिक कीर्तन से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने अपना काम छोड़ दिया और कीर्तन-मण्डली में सम्मिलित हो गया। उच्च भावावेश में वह 'भाव-समाधि' में लीन हो गया जो भक्तों की परमानन्द की अवस्था होती है। प्रातः छः बजे जब वह काम पर लौटा तो उसने सूबेदार मेजर सुरधर बहादुर से पूछा कि उसकी अनुपस्थिति में कोई गड़बड़ तो नहीं हुई। सूबेदार ने कहा : "कुछ नहीं हुआ। मैं तुम्हें बराबर गस्त लगाते देख रहा था।" भक्त सैनिक को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने सोचा कि यह सब भगवान् राम की कृपा है। स्वयं राम गस्त लगा रहे थे।

फैजाबाद में भी एक ऐसी ही घटना हुई। एक विद्यालय-निरीक्षक निरीक्षण-दिवस को पूजा तथा ध्यान के लिए घर पर ही रह गया था। आगामी प्रातःकाल जब वह निरीक्षण के लिए विद्यालय गया तो अध्यापकों ने कहा कि कल वह पूरे दिन विद्यालय

में ही था तथा निरीक्षण पूरा हो गया। प्रधानाचार्य ने निरीक्षक के हस्ताक्षर-युक्त निरीक्षण-विवरण भी दिखाया। अपने भक्त की सहायता के लिए स्वयं भगवान् राम ने विद्यालय-निरीक्षक का रूप धारण किया। उसने तत्काल अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया और राम के सान्निध्य में समय व्यतीत करने के लिए अयोध्या चला गया। यदि आप निष्ठावान् हों, भक्त हों तो कुछ भी असम्भव नहीं है। राम के चरणारविन्दों की शरण में जाइए। आपको सर्वस्व प्राप्त होगा। आप सभी प्रकार के क्लेशों से मुक्त हो जायेंगे।

३. एक सन्त

एक घने जङ्गल से एक सन्त जा रहे थे! दो चोर आये और उनकी दोनों भुजाएँ काट कर उन्हें एक सूखे कुएँ में फेंक गये। कुछ देर पश्चात् एक प्यासा यात्री कुछ जल पीने के लिए कुएँ के पास गया और कटी हुई भुजाओं वाले सन्त को कष्टपीड़ित दशा में देखा। उसने सन्त को कुएँ से बाहर निकाला। सन्त कुछ दिनों तक एक शल्यचिकित्सक की देख-रेख में रहे। तत्पश्चात् वह एक महाराजा के समृद्ध राज्य में गये। महाराजा ने उन्हें दान-विभाग सौंप दिया। वह सन्त पुण्यात्मा, विशाल हृदय तथा उदार थे। काम सँभालने के बाद उन्होंने दान में पर्याप्त धन बाँटा। उनका नाम तथा यश दूर-दूर तक फैल गया। दोनों चोर, जिन्होंने उनकी भुजाएँ काटी थीं, दान लेने के लिए वहाँ आ पहुँचे। सन्त ने उनकी बड़ी आवभगत की और नौकरों से कहा कि उन्हें विशेष सुख-सुविधा प्रदान की जाये तथा उनकी सेवा का बहुत ध्यान रखा जाये; क्योंकि ये दोनों बहुत भले और बड़े ज्ञानी हैं। दोनों चोर राजसी सुख भोगते हुए वहाँ रहने लगे। उनके हृदय में यह भय सदा बना रहता था कि यह सन्त किसी भी क्षण हमसे प्रतिकार न ले लें। कुछ दिन बाद चोरों ने सन्त से जाने की अनुमति माँगी। सन्त ने उन्हें गाड़ी-भर उपहार के रूप में उत्तम पदार्थ दिये और उनके गाँव तक छोड़ आने के लिए विशेष नौकर भेज दिये। उन नौकरों ने आधे मार्ग में उन चोर अतिथियों से पूछा : "क्या बात है कि सन्त ने आपके साथ विशेष सम्मान तथा अनुग्रहपूर्ण व्यवहार किया?" चोरों ने उत्तर दिया : "सन्त हमारे पूर्व-परिचित हैं। वे हमारे मित्र हैं। हमने उनकी बड़ी सहायता की है।"

उनके इस कथन को धरती माँ भी सहन नहीं कर सकी। धरती में दरार पड़ गयी और शक्ति के क्रोध से चोर वहीं नष्ट हो गये। उन नौकरों ने लौट कर सन्त से सारी दुःखद घटना कह सुनायी। सन्त को इससे बड़ा आघात पहुँचा। तत्काल उन्होंने खाना-पीना छोड़ दिया, उग्र तपस्या की तथा भगवान् से प्रार्थना की : "हे राम, आपने अपने शत्रु रावण को मुक्ति दी। फिर मेरी भुजाएँ काटने वाले इन दो चोरों को आप मुक्ति क्यों नहीं दे सकते?" भगवान् को सन्त पर दया आयी। उन्होंने दोनों चोरों को फटी हुई पृथ्वी से बाहर निकाल कर मुक्ति दे दी।

टालस्टाय के जीवन तथा वचनों में उपयुक्त सन्त के जीवन की प्रतिध्वनि मिलेगी। टालस्टाय कहते हैं : "जो आपको सर्वाधिक हानि पहुँचाता है उसे आशीर्वाद दें, उसका भला करें, उसके लिए प्रार्थना करें।" सम्पूर्ण बाइबिल में आपको यही उपदेश मिलेगा। कभी प्रतिकार न लें। क्रोध के बदले क्रोध न करें। किसी का हृदय न दुखायें। भगवान् से प्रार्थना करें कि वह दुर्जन के हृदय को रूपान्तरित कर दें। यदि आप उपर्युक्त उदाहरण को स्मरण रखेंगे तो आप घृणा, ईर्ष्या, क्रोध तथा अन्य मलिनताओं को सहज ही दूर कर सकेंगे। इन वृत्तियों के नष्ट होते ही शान्ति स्वयं प्राप्त हो जाती है। तितिक्षा, क्षमा तथा करुणा की वृत्तियों का अधिकतम मात्रा में विकास करना चाहिए।